संस्कृत साहित्य का इतिहास

(आलोचनात्मक अध्ययन)

(पूर्णतः संशोधित संस्करण)

लेखकद्वय

आचार्य देवीशंकर मिश्र

डॉ० राजकिशोर सिंह
एम० ए०, पी-एच० डी०

प्रकाशन केन्द्र, लखनऊ

प्रकाशन केन्द्र
रेलवे क्रासिंग, सीतापुर रोड, लखनऊ—226007
फोन : 31858

● प्रकाशक : प्रकाशन केन्द्र, रेलवे क्रासिंग सीतापुर रोड,
लखनऊ—226007

● [illegible] : 1982

● मूल्य : दस रुपये पचास पैसे (10.50) मात्र

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा में कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण संस्कृत साहित्य सर्वदा साहित्य-रसिकों का कण्ठहार, बने रहने में समर्थ रहा है। इसका विश्व-साहित्य में उल्लेखनीय स्थान है। संसार में इतने दीर्घकाल से बनते रहते तथा विशाल जन-समूह को पीढ़ियों तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाला साहित्य दूसरा नहीं है। अपूर्व जीवनी-शक्ति और प्रौढ़ विचारधारा की दृष्टि से निस्सन्देह संस्कृत वाङ्मय संसार में बेजोड़ है।

यद्यपि संस्कृत के अनेक ग्रन्थ लुप्त हो चुके हैं तथापि इसके उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या इस समय एक लाख से ऊपर है। इसका प्रत्येक ग्रन्थ रत्न है। यद्यपि इन ग्रंथ-रत्नों को समय-समय पर अनेक जौहरियों (विद्वानों) ने परखा (मूल्यांकन किया) किन्तु एक सामान्य पाठक अथवा विद्यार्थी वर्ग के लिए न तो इतना विस्तृत अध्ययन सम्भव है और न ही इसके लिए अवकाश है। फलतः प्रस्तुत पुस्तक का प्रणयन किया गया।

'संस्कृत साहित्य का इतिहास' छात्र-पाठकों के हाथों में समर्पित है। यह कृति स्नातक एवं स्नातकोत्तर छात्रों की परीक्षा-विषयक कठिनाइयों को ध्यान में रखकर लिखी गयी है। इसके लेखन में मान्य विद्वानों के मन्तव्यों का पूर्ण सदुपयोग कर पुस्तक को सुसज्जित किया गया है तथा इन मन्तव्यों के द्वारा विषय को पूर्णतया प्रामाणिक बनाया गया है। हमें विश्वास है कि यह कृति छात्रों के लिए उपयोगी सिद्ध होगी।

पुस्तक के प्रकाशक पं० पद्मधर मालवीय धन्यवाद के पात्र हैं। प्रस्तुत कृति उन्हीं के सद्प्रयत्नों का फल है।

अंत में पाठकों की सफलता की कामना करते हुए यह रचना हम उन्हें ही सहस्नेह समर्पित करते हैं।

लेखकद्वय

विषयानुक्रमणिका

अध्याय १

विषय-प्रवेश

अध्याय २

वैदिक साहित्य

एवं श्रोदर द्वारा ससंकोच स्वीकरण, ज्योतिष-विज्ञान के आधार पर निर्माण-काल-निर्णय : लुड्विग, याकोबी तथा लोकमान्य तिलक के मत, वूलर का निर्णय तथा ओल्डेनबर्ग द्वारा उसका खण्डन और विंटरनिट्ज द्वारा दोनों की प्रत्यालोचना, बोगाजकोई की खुदाई सम्बन्धी एडवर्ड मैयर व प्रो० जाइलम के व्यक्त अभिमतों के आधार पर काल-विषयक विंटरनिट्ज की धारणा, हार्टल एवं ह्यूसिंग के निष्कर्ष और विंटरनिट्ज द्वारा समीक्षा, भारतीय वाङ्मय की ऐतिहासिक परम्परा का स्वतोऽभ्युदय । ऋग्वेद : रचना-काल, रचनाक्रम, मंत्रों के संकलनकर्त्ता, विभिन्न ऋषि, विभाग, वर्ण्य-विषय, साहित्यिक सौन्दर्य । यजुर्वेद : संहिताएँ शाखाएँ एवं वर्ण्य-विषय । अथर्ववेद : नामकरण, रचना-काल, वर्ण्य-विषय, विभिन्न काण्ड, शाखाएँ, अपर नाक—अथर्वाङ्गिरस, काव्यात्मक महत्त्व ब्राह्मण ग्रन्थ : मैक्समूलर का मूल्यांकन, अर्थ, विभाग, ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ, यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ, सामवेद के ब्राह्मण ग्रन्थ, अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रन्थ, परिचय, उपयोगिता, रचना-काल, वर्ण्य-विषय, महत्त्व । आरण्यक एवं उपनिषदों का सम्बन्ध, कालक्रमिक निरूपण एवं महत्त्व । उपनिषद : निरुक्ति, कालक्रमानुसार ऐतिहासिक विकास, संख्या, विषय सिद्धान्त । सूत्र साहित्य : उद्गम, कल्प सूत्र, कल्प-सूत्रों के भेद एवं वर्ण्य-विषय, वेदांगों के भेद एवं उनका संक्षिप्त विवेचन । पुराण : प्राचीन भारतीय वाङ्मय में स्थान, लक्षण, विशेषता, रचना-काल, संख्या, महत्त्व, स्वरूप । वैदिक एवं लौकिक संस्कृत में अन्तर । वैदिक एवं लौकिक साहित्य का काल, विषय, भाषा-शैली एवं आभ्यंतरिक दृष्टिकोण से तुलनात्मक अध्ययन । पृष्ठ ११-५०

अध्याय ३
महाकाव्य और ऐतिहासिक काव्य

महाकाव्य : काव्य के भेदों में स्थान, लक्षण, स्वरूप, विशेषताएँ । रामायण : आदि काव्य, रचनाकाल (अन्तःसाक्ष्य एवं बहिःसाक्ष्य), पाठ-भेद एवं प्रक्षेप काव्य-कौशल एवं महत्त्व । महाभारत : परिचय, रूपान्तर (जय, भारत और महाभारत), रचना काल, खण्ड, वर्ण्य-विषय । रामायण एवं महाभारत की तुलना : वर्ण्य-विषय के आधार पर समाननाएँ तथा असमानताएँ, रचनाकाल की दृष्टि से । महाकाव्य की परम्परा एवं महाकाव्यकार : कालिदास—स्थितिकाल, कृतित्व, कुमारसम्भव एवं रघुवंश का संक्षिप्त परिचय एवं विशेषताएँ), अश्वघोष (परिचय एवं स्थितिकाल, कृतित्व, बुद्ध-चरित एवं सौन्दरनन्द का संक्षिप्त परिचय एवं विशेषताएँ), भारवि (स्थितिकाल, किरातार्जुनीय का संक्षिप्त परिचय एवं विशेषताएँ), माघ (स्थितिकाल, शिशुपाल वध का परिचय एवं मूल्यांकन, 'किरातार्जुनीय' एवं 'शिशुपालवध, का तुलनात्मक विवेचन), श्री हर्ष (स्थितिकाल, नैषधीय चरित का परिचय तथा मूल्यांकन), भट्टि : संक्षिप्त परिचय एवं रावण वध का मूल्यांकन । कुमारदास : संक्षिप्त परिचय, जानकीहरण की विवेचना । रत्न कर : संक्षिप्त जीवनवृत्त एवं हरविजय का संक्षिप्त मूल्यांकन । कविराज : संक्षिप्त जीवनी, राघव पाण्डवीय की समालोचना । आलोचनात्मक टिप्पणियाँ :

विक्रमचरित या द्वात्रिंशत्पुत्तलिका (संक्षिप्त वर्ण्य-विषय), शुकसप्तति (वर्ण्य-विषय), अन्य उल्लेखनीय कथा-संग्रह । पृष्ठ १३४-१४२

अध्याय ७

चम्पू-काव्य

चम्पू काव्य : शब्दार्थापन, विशेषताएँ, विकास-क्रम । **प्रतिनिधि चम्पूकार एवं उनके चम्पू काव्य** : त्रिविक्रम भट्ट कृत नलचम्पू (रचनाकाल, वर्ण्य-विषय, काव्य कौशल), सोमदेव कृत यशस्तिलक चम्पू (रचनाकाल, वर्ण्य-विषय, यशस्तिलक से तुलना, विशिष्टता), हरिश्चन्द्र कृत जीवनधर चम्पू (रचनाकाल, ग्रन्थाधार), भोज कृत रामायण चम्पू (रचनाकाल, वर्ण्य-विषय); अनन्त कृत भारत चम्पू (ग्रन्थाकार, वर्ण्य विषय), सोड्ढल कृत उदयन सुन्दरी कथा (ग्रन्थाकार, वर्ण्य विषय), रानी तिरुमलाम्बा कृत वरदाम्बिका परिणय-चम्पू (रचनाकाल, वर्ण्य विषय), अन्य उल्लेखनीय परवर्ती चम्पू काव्य । पृष्ठ १४२-१४६

अध्याय ८

रूपक या नाटक

नाट्य-शास्त्र : ऐतिहासिक अनुशीलन, निर्माता, मूल नाट्यशास्त्र का स्वरूप, तीन रूप, विषयक्रम, प्रारम्भिक आचार्य, निष्कर्ष (भरत मुनि नाट्य के आदि आचार्य) प्रमुख नाटक एवं उनके रचयिताओं का विवरण । **धनंजय और धनिक** : स्थितिकाल, रचना—दशरूपक । **सागरनन्दी** : स्थितिकाल, रचना—नाट्यलक्षणरत्नकोश, विभिन्न विषयों की पर्यालोचना । **रुय्यक** : परिचय, रचना—नाटक मीमांसा । **रामचन्द्र गुणचन्द्र** : स्थितिकाल, नाट्य दर्पण का संक्षिप्त परिचय । **भोजराज** : संक्षिप्त परिचय, सरस्वती कंठाभरण तथा शृङ्गार प्रकाश । **विद्यानाथ** : स्थितिकाल, प्रतापरुद्रयशोभूषण का वर्ण्य विषय । **विश्वनाथ कविराज** : जीवनी, साहित्य दर्पण का परिचय । अन्य उल्लेखनीय कार्य । **नाटक की उत्पत्ति विषयक विभिन्न मत** : १. परम्परागतवाद (द्युलोकवाद या दैवीक उत्पत्ति), २. धार्मिक भावनावाद (मृतक पूजावाद, पर्ववाद या मे-पोल वाद, कृष्णोपासनावाद, ३. लौकिक लीलावाद (लोकप्रिय स्वांगवाद; कठपुत्तलिका नृत्यवाद; छायानाटकवाद; संवाद सूक्तवाद; वैदिकानुष्ठानवाद;) ४. रूपक का यूनानी उद्भव । नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त विकास । **भास** : परिचय एवं कृतियाँ, नाट्यकला । **शूद्रक** : परिचय, मृच्छकटिक (रचनाकाल, वर्ण्यविषय, नाट्यकला, महत्व) । **कालिदास** : कृतियाँ, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय तथा अभिज्ञान शाकुन्तल का संक्षिप्त परिचय एवं नाट्यकला विषयक विवेचन । **अश्वघोष** : कृतियाँ उनकी नाट्यकला । **हर्ष** : परिचय नाट्यकला की दृष्टि से प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागावली की आलोचना । **भवभूति** : परिचय एवं कृतियाँ; मालती माधव, महावीरचरित तथा उत्तर रामचरित का संक्षिप्त

परिचय एवं नाट्यकलाजनित आलोचना। विशाखदत्त और मुद्राराक्षस : संक्षिप्त परिचय, महत्त्व, वर्ण्य विषय, आलोचना। भट्ट नारायण और वेणी संहार : संक्षिप्त परिचय, वर्ण्य विषय, आलोचना। मुरारि कृत अनर्घराघव : परिचय, वर्ण्य विषय, समीक्षा। दामोदर मिश्र कृत हनुमन्नाटक : विवरण आलोचना। राजशेखर : कृतित्व, बाल रामायण, प्रचण्ड पाण्डव, विद्धशालभंजिका एवं कर्पूरमंजरी की संक्षिप्त आलोचना। कृष्ण मिश्र : स्थितिकाल, प्रबोधचन्द्रोदय का मूल्यांकन। जयदेव : स्थितिकाल, प्रसन्न-राघव एक विवेचन। वत्सराज : स्थितिकाल नाट्यकृतियाँ एवं कर्पूररचित, किरातार्जुनीय व्यायोग, हास्य चूड़ामणि, रुक्मिणी चरित, त्रिपुरदाह, समुद्रमंथन) एवं उनका संक्षिप्त परिचय। कथनों की विवेचना : काव्येषु नाटकं रम्यम्, उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्ते। कालिदास और भवभूति की तुलना : समीक्षकों का मत, विषय-प्रधानता, उपमा, नायिका-वर्णन में भिन्नता, भाषा, प्रकृति-चित्रण, कल्पना शृङ्गार-विवेचन, पुरुष के रूप-चित्रण, शिशु-वर्णन निष्कर्ष। संक्षिप्त टिप्पणियाँ : (१) नान्दी (परिभाषा, लक्षण, भेद)। (२) सूत्रधार (परिभाषा; लक्षण एवं कार्य), (३) प्रस्तावना (लक्षण; भेद उद्घात्मक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक एवं अवगलित की परिभाषा), (४) नेपथ्य, (५ अंक, (परिभाषा, लक्षण), (६) वस्तु(परिभाषा, लक्षण, भेद प्रासंगिक एवं अधिकारिक; प्रासंगिक वस्तु के लक्षण एवं पताका-प्रकरी भेद और उनके लक्षण, अधिकारिक वस्तु के लक्षण; अन्तर भेद—प्रख्यात, उत्पाद्य एवं मिश्र व इनके लक्षण; अतिरिक्त भेद—सूक्ष्म एवं श्रव्य [लक्षण]; प्रकृत्यानुसार भेद—सर्वश्राव्य, नियतश्राव्य; जनान्तिक एवं आकाशभाषित; अथवारित एवं आकाशभाषित; (७) अर्थोपक्षेपक—अर्थ, लक्षण। (८) विष्कम्भक। (९) प्रवेशक, विष्कम्भक से अन्तर। (१०) चूलिका। (११) अङ्कावतार। (१२) अङ्कस्य। (१३) अश्राव्य या स्वागतकथन। (१४) विदूषक। (१५) भरतवाक्य। (१६) जनान्तिक—नियत श्राव्य। (१७) आकाशभाषित। (१८) पताकास्थानक। (१९) अर्थ-प्रकृतियाँ—बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी एवं कार्य। (२०) कार्यावस्था—आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति, फलागम। (२१) नाटक की संधियाँ : मुख-सन्धि, कृतिमुख सन्धि, गर्भ सन्धि, अवमर्श सन्धि, निर्वहरण सन्धि। पृष्ठ १४७-२०६

अध्याय ९

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

अर्थशास्त्र : परिचय, प्रमुख विषय (विनयाधिकारिक; अध्यक्ष प्रचार; धर्मस्थीय; योगवृत; मण्डलोनि; षाड्गुण्य, व्यसनाधिकारक; अभियास्यत्कर्म; सांग्रामिक; संघवृत्त; आबलीयस, दुर्गलम्भोपाय, औपनिषदिक, तन्त्र युक्ति, महत्व; रचनाकार, रचनाकाल। पृष्ठ २०७-२११।

काल (ज्योतिषशास्त्र की व्याख्या या आलोचना युग, महनीय देन, प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य महत्त्वपूर्ण कृतियाँ, वर्ण्यविषय, टीकाएँ एवं टीकाकार), आधुनिक काल या नवीनीकरण युग (पाश्चात्य ज्योतिष के माध्यम से भारतीय ज्योतिष के सिद्धान्तों का वैज्ञानिक विवेचन, प्रमुख प्रवृत्तियाँ, टीकाएँ एवं टीकाकार, उल्लेखनीय कृतियाँ, महाराज जयसिंह का विशिष्ट योगदान, क्षेत्र विस्तार) भारतीय ज्योतिष का इतिहास (मराठी एवं महाराष्ट्री साहित्य का अभिनय योगदान, तिलक एव विनायक पांडुरंग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ, पंडित सुधाकर द्विवेदी का कृतित्व, अन्य इतिहासकार), उपसंहार।

पृष्ठ २३८-२४४

अध्याय १५

काव्य-शास्त्र

साहित्यकार एवं काव्य में अन्तर; काव्यशास्त्र का तात्पर्य, क्षेत्र एवं परिभाषा; काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा—वेदों में काव्यास्त्रीय संकेत, निरुक्त के कतिपय स्थल, पाणिनि-पूर्व काव्य-शास्त्र की परम्परा, रुद्रदामन का शिलालेख, काव्यशास्त्र की उत्पत्ति विषयक राजशेखर, भावप्रकाशन आदि के मत, ५०० ई० पू० काव्याचार्य; नन्दिकेश्वर (कृतियाँ, उनका काल, विद्वानों के विभिन्न मत), महामुनि भरत (२०० ई० पू०), अग्निपुराण का काव्य-शास्त्रीय विवेचन, भामह (कृतियाँ, समय, विद्वानों के मत, 'काव्यालंकार') दण्डी (काव्यादर्श : विषयवस्तु, अपर कृतियाँ, समय), उद्भट (समय, काव्यालंकारसार-संग्रह), वामन (रीति सम्प्रदाय के जन्मदाता, काव्यालंकार सूत्र, काल-निर्धारण), रुद्रट (प्रमुख आचार्य, सूक्ष्य जीवन परिचय, काल निर्धारण, काव्यालंकार), आनन्दवर्धन (ध्वनि सिद्धान्त के जनक, कृतियाँ, ध्वन्यालोक, और उसका साहित्य में स्थान), राजशेखर (सूक्ष्य जीवनी, काल निर्धारण काव्य मीमांसा का विषय एवं महत्ता), मुकुलभट्ट (अभिधावृत्तिमातृका : विषय-वस्तु, काल-निर्णय), अभिनवगुप्त (प्रसिद्धिप्राप्त विद्वान्, कृतियाँ, कुशल टीकाकार, समय-निर्णय), धनंजय (सूक्ष्म जीवनी, दशरूपक, स्थितिकाल), राजानक कुन्तक (वक्रोक्ति काव्यजीवित का महत्त्व एवं वर्ण्य विषय, स्थितिकाल), महिमभट्ट (व्यक्तिविवेक का विषय, अनुमितिवाद स्थितिकाल); आचार्य क्षेमेन्द्र (औचित्य सम्प्रदाय प्रवर्तक), औचित्य विचारचर्चा एवं कविकण्ठाभरण), भोजराज (सरस्वती कण्ठाभरण एवं शृंगार प्रकाश), मम्मट (काव्यप्रकाश), रुय्यक (जीवनी, अलंकारसर्वस्व), हेमचन्द (काव्यानुशासन), वाग्भट्ट प्रथम (वाग्भट्टालंकार), जयदेव (चन्द्रालोक), विद्याधर (एकावली), विद्यानाथ (प्रतापरुद्र यशोभूषण), विश्वनाथ (जीवनी, साहित्यदर्पण), रूपगोस्वामी (समय, भक्तिरसामृत सिन्धु, उज्ज्वल नीलमणि, नाटक चन्द्रिका), अप्पय दीक्षित (वृत्तिवार्तिक चित्रमीमांसा, कुवलयानन्द), पण्डितराज जगन्नाथ (रसगंगाधर, चित्रमीमांसा खण्डन) विश्वेश्वर पाण्डेय (अलंकार कौस्तुभ एवं अन्य ग्रन्थ), काल विभाजन उपसंहार।

पृष्ठ २४४-२५६

प्रश्न सूची

क्रम

●

अध्याय | १

विषय-प्रवेश

प्रश्न (१) संस्कृत भाषा और साहित्य के महत्व पर एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिए।

प्रवेश

पाश्चात्य विचारक विन्टरनिट्ज ने उचित ही कहा है, "लिटरेचर (साहित्य) अपने व्यापक अर्थ में जो कुछ भी सूचित कर सकता है वह संस्कृत में वर्तमान है। धार्मिक और इतिहासपरक (सेक्यूलर) रचनाएँ, महाकाव्य लिरिक, नाटकीय और नीति सम्बन्धी कविता, वर्णनात्मक, अलंकृत और वैज्ञानिक गद्य—सब कुछ इसमें भरा पड़ा है।" वस्तुतः संस्कृत भाषा 'देववाणी' कहलाती है और न केवल भारत की एक अमूल्य व अनुपम निधि है बल्कि विचारक उसे विश्व की प्राचानतम एवं श्रेष्ठतम भाषा मानते हैं। डॉ० बाबूराम सक्सेना ने लिखा है, "संस्कृत भाषा में मानव के भावों और विचारों को व्यक्त करने की श्रेष्ठ सामर्थ्य है। सर्वव्यापक विभु ब्रह्म से लेकर परमाणु तक का विवरण देने की इस भाषा में शक्ति है और इस शक्ति को उत्तराधिकार स्वरूप पाकर पालि और प्राकृत भाषाओं का विकास हुआ है। सिंहल, ब्रह्मदेश (बर्मा), थाईदेश, यवद्वीप (जावा), सुमात्रा, बालि आदि में जिन्हें हम विनयपूर्वक वृहत्तर भारत कह सकते हैं, संस्कृत भाषा और साहित्य का जो श्रेयस्कर प्रभाव पड़ा है, उसे आज भी हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं।"

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संस्कृत भाषा में कुछ ऐसी निजी विशेषताएँ हैं जिनके कारण संस्कृत साहित्य सर्वदा साहित्य-रसिकों का कंठहार बना रहने में समर्थ रहा है। वस्तुतः संस्कृत का शब्द-भण्डार अक्षय और अनन्त है। विभिन्न अवस्थाओं, प्रसंगों भाव एवं रस आदि का वर्णन करने के लिए तद्नुकूल वर्णों, शब्दों व क्रियाओं के प्रयुक्त करने की सुविधा एकमात्र संस्कृत भाषा में है। साथ ही संस्कृत के प्रत्येक शब्द का निर्माण किसी विशेष अर्थ को लेकर ही हुआ है और एक विचारक के कथनानुसार, "प्रत्येक शब्द के पीछे इतिहास है, विकासक्रम है, प्रयोजन है, निरुक्ति है, व्युत्पत्ति है और है वैज्ञानिक वर्गीकरण। उदाहरण के लिए संस्कृत भाषा में पत्नी के लिए अनेक शब्द हैं तथा पाणिगृहीती, द्वितीया, सहधर्मिणी, भार्या, जाया और दारा। किन्तु यहाँ प्रत्येक शब्द का अर्थ क्रमिक विकास की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं का अभिद्योतक है यथा—पाणिग्रहण होने के समय पाणिगृहीती और उसके अन्तर द्वितीया। द्वितीया होने पर सहधर्मिणी और सहधर्मिणी के रूप में घर का भरण-पोषण करने के उपरान्त भार्या। तदनन्तर जाया और अन्ततः विशाल परिवार की स्वामिनी होने के

उपरान्त दारा। इस प्रकार पत्नी से दारा तक सभी नाम स्त्री के होते हुए भी अवस्था भेद से स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं। इसी प्रकार मनुष्य के जन, लोक, पुरुष, नर आदि शब्दों में मानव की उत्पत्ति से उच्चतम अवस्था तक पहुँचने का इतिहास अन्तर्निहित है।"

संस्कृत भाषा की शास्त्रीय उच्चारण पद्धति भी सराहनीय है और स्वर शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् भारतीय ऋषियों ने नाद विज्ञान की गम्भीर गवेषणा भी की थी तथा पाश्चात्य विचारक ई० एच० जानेस्टन ने उसकी महत्ता स्वीकार करते हुए कहा भी है, "प्राचीन भारतीय विद्वानों को नाद और ध्वनि तरंगों के विविध प्रकार का असाधारण और अति सूक्ष्म ज्ञान था। शब्दोच्चारण और उसके अर्थों के मधुर संगम से जो महान् अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है वह अन्य भाषा और साहित्य में असम्भव है।

केवल भाषा की ही दृष्टि से नहीं, साहित्य की दृष्टि से भी, संस्कृत साहित्य का विश्व साहित्य में अपना उल्लेखनीय स्थान है। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, "संसार में इतने दीर्घकाल से बनते रहने वाला और इतने विशाल जन-समूह को हजारों वर्षों में अनेक प्रकार के उत्थान-ततन के भीतर यह साहित्य कभी म्लान नहीं पीढ़ियों तक आन्दोलित और प्रेरित करने वाला साहित्य शायद दूसरा नहीं है। हुआ। देश के प्रत्येक संकट को झेलकर व अधिकाधिक तेजोद्दप्त होकर प्रकट होता गया है। यद्यपि इसके ग्रन्थ-रत्न लुप्त हो गए हैं तथापि इसके उपलब्ध ग्रन्थों की संख्या इस समय एक लाख से ऊपर है। अपूर्व जीवनी-शक्ति और प्रौढ़ विचारधारा की दृष्टि से निःसन्देह संस्कृत वाङ्मय संसार में बेजोड़ है।"

प्राचीनता

यद्यपि पाश्चात्य विचारक मिस्र देश के साहित्य को विश्व का प्राचीनतम साहित्य मानते हैं। यह विक्रमी संवत् से केवल चार हजार वर्ष पूर्व का ही है और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक ने तो निर्भ्रान्त ज्योतिष गणना के आधार पर वेदों की रचना काल विक्रम के छः हजार वर्ष से भी पूर्व का माना है तथा उनका यह मत आजकल का प्रामाणिक मत भी है। इस प्रकार संस्कृत साहित्य निर्विवाद रूप से विश्व का प्राचीनतम साहित्य है। पं० बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार, "कोई भी साहित्य इतना प्राचीन नहीं है। तब से साहित्य की जो धारा प्रवाहित हुई वह आज तक अविच्छिन्न गति से चली आ रही है। अन्य साहित्यों का इतिहास देखने से प्रतीत होगा कि जो साहित्य अनुकूल परिस्थितियों में पनपता है, उसका प्रवाह कुछ दिन तक अवश्य जारी रहता है, किन्तु विषम परिस्थिति के उपस्थित होते ही वह प्रवाह बिलकुल धीमा हो जाता है। परन्तु संस्कृत साहित्य में यह दोष नहीं दीख पड़ता। वेदों की मंत्र संहिताओं की रचना के अनन्तर उनकी व्याख्या का काल आता है। उस समय जो ग्रन्थ रचे गए उन्हें 'ब्राह्मण' नाम से पुकारते हैं। ब्राह्मणों के अनन्तर आरण्यकों की रचना हुई, अनन्तर उपनिषदों की, पीछे रामायण, महाभारत और पुराणों का युग आता है। इसके बाद काव्य, नाटक, गद्य, कथा पद्य, आख्यायिका, स्मृति और तन्त्र के निर्माण का समय आता है जो मध्य युग के पहले साहित्य-प्रेमी भारतीय नरेशों की छत्र-छाया में खूब ही पनपा। इस प्रकार संस्कृत साहित्य की अविच्छिन्न परम्परा आठ हजार वर्षों से निरन्तर चली

आ रही है। प्राचीनता की दृष्टि से यदि विचार किया जाय अथवा अविच्छिन्नता की कसौटी पर इसे कसा जाय, तो यह साहित्य नितान्त महत्वपूर्ण प्रतीत होता है।"

व्यापकता

यों तो कुछ आलोचक संस्कृत साहित्य को संकुचित समझते हैं। पर वास्तव में वह सर्वाङ्गीण है और समस्त अंगों से परिपूर्ण है। मानव जीवन के लिए अपेक्षित धर्म, अर्थ, काम व मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का विवेचन उसमें अत्यन्त विस्तार एवम् विचारपूर्वक किया गया है। यह धारणा कि संस्कृत में केवल धर्म-ग्रंथों की ही अधिकता है उचित नहीं है; क्योंकि विज्ञान, ज्योतिष, वैद्यक, स्थापत्य, पशुपक्षी व कला-कौशल सम्बन्धी लक्षण ग्रन्थ भी संस्कृत साहित्य में प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं। वस्तुतः संस्कृत साहित्य में प्रेयः शास्त्र (जिसमें संसार में सुख प्रदान करने वाली विद्याओं का वर्णन रहता है) और श्रेयः शास्त्र (जिसमें सांसारिक प्रपंचों का दुःख दूर करने वाले मोक्षोपयोगी विषयों का विवेचन किया जाता है) नामक उभय शास्त्रों के अध्ययन की प्रवृत्ति प्राचीनकाल से ही होने के कारण संस्कृत साहित्य में स्वाभाविक व्यापकता आ सकी है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत साहित्य का अभी तक बहुत ही कम अंश उपलब्ध हुआ है। पर जो अंश छपकर प्रकाशित हुआ है उसे पाश्चात्य विद्वान् ग्रीक व लैटिन साहित्य के समग्र ग्रंथों से दुगुना मानते हैं। अतः जो अभी तक हस्तलिखित रूप में है या नष्ट हो गया है, वह सब मिलकर उसे निर्विवाद रूप से विश्व का सर्वाधिक व्यापक साहित्य सिद्ध कर देते हैं।

धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि

प्राचीन भारतीय जीवन में धर्म को ही अधिक महत्व प्राप्त होने के कारण संस्कृत साहित्य धार्मिक दृष्टि से भी विशेष गौरव रखता है और वैदिक साहित्य में तो आर्य धर्म का विशुद्ध रूप उपलब्ध होता है। साथ ही भारतीय धर्म व दर्शन का सम्यक् परिचय प्राप्त करने के लिये भी वैदिक साहित्य का अनुशीलन आवश्यक है क्योंकि "वेद वह मूल स्रोत है जहाँ से नाना प्रकार की धार्मिक धारायें निकलकर मानव हृदय तथा मस्तिष्क को सदा आप्यायित करती आयी हैं। हम भारतवासियों के लिए ही नहीं, प्रत्युत अन्य देशों के लिये भी, संस्कृत साहित्य का अनुशीलन धार्मिक दृष्टि को लक्ष्य में रखकर विशेष उपादेय है। वेदों के अनुशीलन का ही फल है कि पश्चिमी विद्वानों ने तुलनात्मक पुराणशास्त्र (कम्पैरिटव माइथोलॉजी) जैसे नवीन शास्त्र को ढूँढ़ निकाला। इस शास्त्र से पता चलता है कि प्राचीनकाल में देवताओं के सम्बन्ध में लोगों के क्या विचार तथा किन-किन उपासना के प्रकारों से वे उनकी कृपा प्राप्त करने में सफल होते थे।" इसी प्रकार सांस्कृतिक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य विश्व में गौरवपूर्ण स्थान रखता है और ऐतिहासिक अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि अन्य देशों में प्राचीन भारतीय सभ्यता व संस्कृति का प्रसार रहा है : डॉ० बाबूराम सक्सेना के कथनानुसार, "मध्य एशिया के चीन आदि देशों पर भारतीय संस्कृति और बौद्ध धर्म की जो छाप है, वह सर्वविदित है। कोरिया की लिपि भी भारतीय लिपि पर आश्रित है। तिब्बत भारतीय धर्म और साधना का चिरकाल से क्षेत्र रहा है। अफगानिस्तान, ईरान आदि अपने-अपने निकटवर्ती पश्चिमी देशों की संस्कृति और सभ्यता, मुस्लिम धर्म के प्रचार के पूर्व, अधिकांश में भारतीय संस्कृति के समान ही थी, और आज भी खुदाई करने पर वहाँ पुरा-

तत्वविदों ने मन्दिरों और मूर्तियों के भग्नावशेष प्राप्त किए हैं। प्रतिमावचक शब्द बुत, संस्कृत शब्द बुद्ध का ही फारसी रूप है, और ई० सातवीं-आठवीं शती के पूर्व ईरान में आदि देवों की उसी प्रकार यज्ञ, हवन आदि के द्वारा पूजा होती थी, जैसे भारतवर्ष में।''

कलात्मकता

विशुद्ध कलात्मक दृष्टि से भी संस्कृत साहित्य का अपना निजी महत्व है, पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में,''जिस साहित्य में कालिदास जैसे कमनीय कविता लिखने वाले कवि हुए, भवभूति जैसे नाटककार हुए, जिनकी वशवर्तिनी बनकर सरस्वती ने अपूर्व लास्य दिखलाया, बाणभट्ट जैसे गद्यलेखक हुए जिसने अपने सरस-मसृण काव्य से त्रिलोकसुन्दरी कादम्बरी की कमनीय कथा सुना-सुनाकर श्रोताओं को मत्त बनाया जयदेव जैसे गीतिकाव्य के लेखक विद्यमान थे जिन्होंने अपनी मधुर कोमलकांत पदावली के द्वारा विदग्धों के चित्त में मधुरस की वर्षा की, श्री हर्ष जैसे पंडित कवि हुए जिन्होंने काव्य और दर्शन का अपूर्व सम्मिलन प्रस्तुत किया। उस साहित्य की महिमा का वर्णन समुचित शब्दों में कैसे किया जा सकता है।'' इसी प्रकार डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कहना है,''संस्कृत साहित्य को एक सरसरी निगाह से देखने पर हजारों वर्षों से निरन्तर प्रवाहमान मानवचिन्तन का विराट् स्रोत प्रत्यक्ष दिखाई दे जाता है। हम हजारों वर्ष के मनुष्य के साथ एक सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।'' यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भारतीय विद्वानों ने ही नहीं पाश्चात्य विचारकों ने भी संस्कृत साहित्य की कलात्मकता का महत्व स्वीकार किया है और उसके सौंदर्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है तथा कीथ का तो यही कहना है कि,''भारत के महान् कवियों ने व्युत्पन्न रसिकों के लिए जो काव्य निबद्ध किए हैं, वे अपने समय के पांडित्य के अधिपति थे, भाषा प्रयोग में अभ्यस्त थे और अभिव्यंजना की सूक्ष्मता के द्वारा, प्रभाव की सरलता के द्वारा, श्रोताओं को अनुरंजित करना चाहते थे। उनके पास अत्यधिक रमणीय भाषा-शैली थी और विचित्र प्रभावोत्पादक छन्दों पर उनका पूर्ण अधिकार था।''

निष्कर्ष

उक्त विवेचना से संस्कृत साहित्य का महत्व सहज ही स्पष्ट हो जाता है और प्राचीनता, अविच्छिन्नता, व्यापकता, धार्मिक व सांस्कृतिक मूल्य तथा कलात्मकता आदि की दृष्टि से नहीं बल्कि धर्म व दर्शन के विकासात्मक अध्ययन की दृष्टि से संस्कृत साहित्य का अपना निजी महत्व है। प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारक मैकडानल के कथनानुसार, ''भारोपीय वंश की केवल भारत निवासिनी शाखा ही इसमें ऐसी है जिसने वैदिक धर्म नामक एक बड़े जातीय धर्म और बौद्ध नामक बड़े सार्वभौम धर्म की रचना की। अन्य शाखाओं ने इस क्षेत्र में मौलिकता न दिखलाकर बहुत पहले से एक विदेशीय धर्म को अपनाया। इसके अतिरिक भारतीयों ने स्वतन्त्रता से अनेक दार्शनिक सम्प्रदायों को विकसित किया जिनसे उनकी ऊँची चिन्तन-शक्ति का प्रमाण मिलता है।'' इतना ही नहीं, यूरोपीय संस्कृति और विचारों का क्रमिक विकास समझने के लिए भी संस्कृत साहित्य का अनुशीलन आवश्यक हो जाता है और स्वयं पाश्चात्य विद्वान् विंटरनिट्स ने स्वीकार किया है,''यदि हम अपनी संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने की इच्छा रखते हों, यदि हम सबसे पुरानी भारोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ भारोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है।''

इस प्रकार संस्कृत भाषा और साहित्य का महत्व स्पष्ट हो जाता है, पर कुछ लोग संस्कृत भाषा को 'मृत' और संस्कृत साहित्य की 'पुराने जमाने की चीज' कहकर उसे अवहेलना की दृष्टि से देखते हैं, लेकिन विचारपूर्वक देखने पर इस प्रकार का संकीर्ण दृष्टिकोण उचित नहीं जान पड़ता । पं० चन्द्रशेखर पांडेय और डॉ० शान्तिकुमार नानूराम व्यास ने लिखा है, "यह बलपूर्वक कहा जा सकता है कि आज भी संस्कृत, ग्रीक और लैटिन की अपेक्षा कहीं अधिक जीवित है । अंग्रेजी की अपेक्षा संस्कृत हम भारतीयों के जीवन को अधिक स्पर्श करती है । हमारा धार्मिक जीवन इसका ज्वलंत प्रमाण है । 'वेदों' और उपनिषदों, रामायण और महाभारत, गीता तथा 'भागवत' का आज भी देशव्यापी प्रचार है । हमारे देवालयों तथा तीर्थस्थानों में उसका प्रभाव आज भी अक्षुण्ण है । उपनयन, विवाह आदि समस्त संस्कार तथा अन्य अगणित धार्मिक कृत्य संस्कृत में ही सम्पन्न होते हैं । साधारण शिक्षा-प्राप्त भारतीय भी संस्कृत के दो-चार श्लोक अवश्य जानता है । भले ही संस्कृत का बाजार में या अदालत में प्रयोग न होता हो, फिर वह हमारी सांस्कृतिक भाषा है, हमारा धार्मिक साहित्य उसी में लिखा गया है । जैनों के अधिकांश ग्रन्थ में ही हैं । बौद्धों ने भी, जब प्राकृत पाली की नवीनता नीरस हो चली, संस्कृत में ही अपने ग्रन्थ रचे । व्यावहारिक और सामाजिक जीवन पर भी उसका प्रभाव प्रत्यक्ष परिलक्षित होता है । सभी प्रांतीय भाषाओं को आदि जननी संस्कृत ही है । तमिल और तेलुगू जैसी द्रविड़ भाषाओं पर भी संस्कृत का पर्याप्त प्रभाव पड़ा । हिन्दू लॉ की मूल भित्ति संस्कृत में लिखी स्मृतियाँ हैं । संस्कृत के आयुर्वेद और ज्योतिष शास्त्र आदि सैकड़ों के जीविकोपार्जन के मार्ग हैं तो दीन-दुखियों के स्वस्थ्य और सुख के साधन भी हैं । संस्कृत साहित्य में बिखरी हुई अनेक सूक्तियाँ व्यवहार में प्रतिदिन प्रयुक्त होती रहती हैं । संस्कृत साहित्य दूसरों को जीवन प्रदान करने की क्षमता रखता है । इसी साहित्य की उत्कृष्टता ने जर्मनी, फ्रांस, इग्लैंड, अमरीका आदि पाश्चात्य देशों के मनीषियों को अपनी ओर आकृष्ट किया । पिछले सौ वर्षों में इन विदेशी विद्वानों द्वारा संस्कृत वाङ्मय का जो अनुशीलन एवं अनुसन्धान हुआ है, उसने संसार के सम्मुख इस साहित्य के महत्व को पूर्णतया प्रतिष्ठित कर उसके अध्ययन की अजस्र धारा बहा दी है ?

प्रश्न (२) पर्याप्त उदाहरण देते हुए स्पष्ट कीजिये कि पाश्चात्य जगत् में संस्कृत का प्रचार कैसे हुआ ?

यह तो सर्वविदित है कि पाश्चात्य विचारकों ने मुक्त कंठ से संस्कृत साहित्य का महत्व स्वीकार किया है, पर संस्कृत का प्रचार पाश्चात्य जगत् में आधुनिक युग में ही तीव्रगति से हो सका । यों तो पंचतन्त्र की कथाओं और कार्यों की विद्वता के सम्बन्ध में यूरोप में मध्यकाल अर्थात् १००० से १४०० ई० या अधिक विस्तृत अर्थ में ६०० से १५०० ई० तक अनेक कथाएँ प्रचलित हो गई थीं, पर उस समय यूरोपवासियों को आर्यों की भाषा या संस्कृत के विशाल साहित्य का कुछ भी ज्ञान न था । वस्तुतः सत्रहवीं शताब्दी में कुछ यूरोपियन प्रचारकों ने संस्कृत सीखी और सन् १७५१ ई० में अब्राहम रोजर (Abraham Roger) ने भर्तृहरि के शतकों का उच्च भाषा में अनुवाद भी किया, पर यूरोपवासी तब भी संस्कृत साहित्य से अपरिचित ही रहे । इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी में किसी यहूदी प्रचारक ने यजुर्वेद की एक बनावटी प्रति भी तैयार की,

और अठारहवीं शताब्दी के मध्य में वाल्टेयर ने उसे असली यजुर्वेद समझकर, इसका स्वागत भी किया, पर इसके कारण यूरोप में संस्कृत भाषा व साहित्य के सम्बन्ध में अनेक भ्रम भी उत्पन्न हो गए तथा यूरोपीय विद्वानों की यह धारणा सी हो गयी कि संस्कृत साहित्य ही नहीं संस्कृत भाषा भी एक प्रकार की बनावटी भाषा है, जिसे सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् ग्रीक भाषा के अनुकरण पर ब्राह्मणों ने गढ़ लिया था। इस धारणा की पुष्टि उन्नीसवीं शताब्दी की चौथे चरण में डब्लिन के एक प्रोफेसर ने की भी है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संस्कृत साहित्य के महत्व का अनुभव करने वाला पहला अंग्रेज वारेन हेस्टिंग्ज था और ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल में जब वह गवर्नर जनरल के पद पर नियुक्त किया गया, तब उसने संस्कृत साहित्य की ओर ध्यान भी दिया। इस प्रकार उसकी प्रेरणा से सन् १७७६ ई० में फारसी अनुवाद के माध्यम से संस्कृत की कानूनी पुस्तकों का एक सारसंग्रह अंग्रेजी भाषा में तैयार किया गया और चार्ल्स विलिक्स ने संस्कृत पढ़कर सन् १७८५ में भगवद्गीता तथा १७८७ ई० में हितोपदेश का अंग्रेजी अनुवाद किया, अतः पाश्चात्य साहित्य जिज्ञासुओं को संस्कृत कृतियों का सर्वप्रथम रसास्वादन कराने का श्रेय चार्ल्स विलिक्स को ही है।

चार्ल्स विलिक्स के पश्चात् संस्कृत के अध्ययन में पर्याप्त अभिरुचि पर विलियम जोन्स (सन् १७४६-९४ ई०) ने दिखाई और उन्होंने अत्यधिक श्रम व धन का व्यय कर संस्कृत भाषा व साहित्य का अध्ययन किया। उन्होंने सन् १७८४ में 'एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल' की स्थापना कर प्राचीन भाषा साहित्य के संबंध में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रचारित किये, इसके पश्चात् उन्होंने सन् १७८९ में कालिदास की प्रसिद्ध नाट्यकृति 'अभिज्ञानशाकुन्तल' का और कुछ समय उपरान्त 'मनुस्मृति' का अँग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया तथा सन् १७९२ में कालिदास की 'ऋतुसंहार' का मूल संस्कृत पाठ प्रकाशित कर संस्कृत कृतियों को मूल रूप में प्रकाशित करने का श्रेय प्राप्त किया।

इसके अनन्तर संस्कृत का प्रसिद्ध विद्वान् हेनरी टॉमस कोल्ब्रूक (सन् १७६५-१८३७ ई०) हुआ, जिसने सबसे पहले संस्कृत भाषा व साहित्य के अध्ययन में वैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग प्रारम्भ किया। इतना ही नहीं उसने कुछ महत्वशाली संस्कृत ग्रंथों का मूल पाठ और अनुवाद भी प्रकाशित किया तथा संस्कृत साहित्य के विविध विषयों पर कुछ निबन्ध भी लिखे। अतः परवर्ती विद्वानों के लिए टामस कोल्ब्रूक द्वारा प्रस्तुत की गई सामग्री अत्यधिक उपयोगी सिद्ध हुई।

वस्तुतः यूरोप में संस्कृत के प्रवेश की कहानी अत्यन्त कौतूहलजनक है और कहा जाता है कि अलेक्जेण्डर हैमिल्टन (सन् १७६२-१८२४ ई०) ने भारत में संस्कृत का अध्ययन किया तथा सन् १८०२ में जब वह फ्रांस होता हुआ इंग्लैंड लौट रहा था तब इंग्लेंड व फ्रांस में नये सिरे से युद्ध प्रारम्भ हो जाने के कारण उसे बन्दी बना लिया गया। इस प्रकार अलेक्जेण्डर हैमिल्टन ने बन्दी अवस्था में पेरिस में रहकर कुछ फ्रांसीसी विद्या रसिकों और प्रसिद्ध जर्मन कवि फ्रेडरिक श्लेगल (Friedrich Schlegel) को संस्कृत पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया तथा उसका यह कार्य युग-प्रवर्तक सिद्ध हुआ। सन् १८०२ में श्लेगल ने भारतीयों की भाषा और विद्वता (On the Language and Wisdom of Indians) नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित किया जिसने यूरोप में संस्कृत विद्या के अध्ययन में एक प्रकार की क्रान्ति उत्पन्न कर दी।

इस प्रकार यूरोप में शनैः-शनैः भाषा विज्ञान के अध्ययन में तुलनात्मक व ऐतिहासिक शैली प्रयुक्त होने लगी और श्लैगल के इस ग्रन्थ से उत्साहित होकर अनेक जर्मन जिज्ञासुओं ने संस्कृत भाषा व साहित्य के अध्ययन में अत्यधिक अभिरुचि दिखलाई अतः यहाँ यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि यूरोप में संस्कृत सम्बन्धी जितना कार्य हुआ है उसका अधिक श्रेय जर्मनों को है।

इसी प्रसङ्ग में यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सन् १८१६ में ऐफ़् बॉप (F. Bopp) ने ग्रीक, लैटिन, जर्मन और फारसी के सन्धि प्रकरण के साथ तुलना करते हुए संस्कृत के सन्धि प्रकरण पर भी एक पुस्तक लिखी, जिसने वहाँ तुलनात्मक भाषाविज्ञान में अध्ययन का बीजारोपण किया है।

वास्तव में अब तक यूरोपियनों का संस्कृताध्ययन क्लासिकल (Classical) संस्कृत तक ही सीमित था और सन् १८०५ में 'कोल्ब्रुक' का वेद नामक निबन्ध प्रकाशित होने पर जर्मन विद्वानों का ध्यान वैदिक ग्रन्थों के अध्ययन की ओर भी आकृष्ट हुआ। चूंकि ईस्ट इण्डिया हाउस में वैदिक ग्रन्थ पर्याप्त संख्या में विद्यमान थे, अतः एफ० रोजन (F. Rosen) ने सन् १८३० के लगभग उनकी ओर सम्यक् ध्यान देना प्रारंभ किया और ऋग्वेद संहिता का सम्पादन कार्य प्रारम्भ कर दिया, पर उसकी अकाल मृत्यु के कारण उसकी कुछ समय पश्चात् सन् १९३८ में उसके द्वारा सम्पादित ऋग्वेद का प्रथम अष्टक ही प्रकाशित हो सका।

एफ० रोजन के उक्त कार्य को गतिशीलन करने की दिशा में आर० रॉथ (R. Roth) का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है और सन् १८४६ में प्रकाशित उसके 'वैदिक साहित्य और इतिहास' (On the Literature and History of the Vedas) नामक ग्रन्थ ने यूरोप में वैदिक साहित्य के अनुशीलन को तीव्र करने में अत्यधिक सहायता प्रदान की। साथ ही आर० रॉथ ने वैदिक भाषा विज्ञान (Philology) का बीजीरोपण किया और उसके कार्यों से प्रेरित हो अनेक विद्वानों ने संस्कृत भाषा-साहित्य की समृद्धि की ओर उत्साह प्रकट किया। इसी प्रकार वीएना (Vienna) के प्रो० बहूलर (Buhler) ने विविध देशों के लगभग तीस विद्या-विशारदों की सहायता के समय वैदिक व क्लासिकल संस्कृत साहित्य का विशाल विश्वकोष प्रकाशित करने का बीड़ा उठाया, पर उसके असामयिक निधन के कारण गोटिंजन (Gottingen) के प्रोफेसर कीलहार्न (Kielhorn) ने इस परम बृहदाकार ग्रन्थ को पूर्ण करने का निश्चय किया। लगभग इसी समय ए० कुहन (A. Kuhn) और मैक्समूलर (Max Muller) ने अत्यन्त उत्साह व श्रमपूर्वक वैदिक धर्म को अपने अध्ययन का विषय बनाया तथा उनके अनुसन्धानों के फलस्वरूप तुलनात्मक पुराण विद्या (Mythology) के अनुशीलन की आधारशिला पड़ी।

इस प्रकार वर्तमान शताब्दी का प्रारम्भ होने तक पाश्चात्य विचारों ने प्रायः सभी महत्वपूर्ण वैदिक व क्लासिकल संस्कृत ग्रन्थों का सम्पादन और अधिक उल्लेखनीय ग्रन्थों का अनुवाद कर डाला था। अतः अनुसन्धान के लिए उपयुक्त पृष्ठभूमि का निर्माण हो जाने के फलस्वरूप अधिकाधिक पाश्चात्य विद्वानों ने संस्कृत साहित्य के अध्ययन व अनुशीलन की ओर ध्यान दिया। इस प्रकार अनेक यूरोपियन विद्वान भारतीय साहित्य के अनुसन्धान में परिश्रमपूर्वक जुट गए और संस्कृत साहित्य से सम्बन्धित महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। इन ख्यातनामा लेखकों की तालिका प्रस्तुत

करते समय मैक्डानल (Mac Donell), हॉपकिंस (Hopkins), हारविटज (Horiwitz), विंटरनिट्ज (Winternitz), पार्जीटर (Pargitir),, ओल्डनबर्ग (Oldenburg), पीटर्सन (Peterson), हर्टल (Hertel); ऐजर्टन (Edgerton), रिजवे (Ridgeway), तथा कीथ (Keith) आदि विद्वानों का नामोल्लेख किया जाता है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सबके विचारों का अध्ययन करने से संस्कृत साहित्य के सम्बन्ध में पर्याप्त उपादेय जानकारी भी प्राप्त होती है।

अन्त में हम यहाँ कह सकते हैं कि केवल डेढ़ सौ वर्षों की अवधि में यूरोपीय विद्वानों ने सम्पूर्ण वैदिक व क्लासिकल संस्कृत साहित्य की जो कि परिणाम में ग्रीक व लेटिन के संयुक्त साहित्य से भी बहुत अधिक है, काफी छानबीन कर डाली है पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो अभी अनुसन्धान कार्य के लिए एक विशाल क्षेत्र अवशिष्ट रह गया था क्योंकि देशी-विदेशी पुस्तकालयों में अभी भी अनेक ऐसे हस्तलिखित संस्कृत ग्रंथ हैं जिन पर बहुत-सा मौलिक कार्य हो सकता है। इतना होते हुए भी संस्कृत साहित्य के अनुशीलन के लिए तुलनात्मक, ऐतिहासिक व वैज्ञानिक दृष्टि प्रदान करने की दिशा में पाश्चात्य विचारकों का योगदान निर्विवाद रूप से स्वीकार करना होगा, क्योंकि उनसे विचारों का अनुशीलन किए बिना संस्कृत साहित्य का इतिहास-लेखन भी सम्भव नहीं हो सकता।

प्रश्न (३) 'आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि संस्कृत एक बोलचाल की भाषा थी।' अपने मत की पुष्टि में पर्याप्त उदाहरण भी दीजिए।

प्रोफेसर ई० जे० राप्सन ने 'संस्कृत कहाँ तक बोलचाल की भाषा थी' नामक प्रश्न का उत्तर देते हुए एक स्थल पर कहा है, "संस्कृत भी वैसी ही बोलचाल की भाषा थी जैसी साहित्यिक अँग्रेजी है, जिसे कि हम बोलते हैं। संस्कृत उत्तर-पश्चिमी भारत की बोलचाल की भाषा थी, जिसके विकास का पता सम्पूर्ण साहित्य दे रहा है और जिसकी ध्वन्यात्मक विशेषताएँ उत्तर-पश्चिमी भारत के शिलालेखों में बहुत सीमा तक सुरक्षित हैं। मूल रूप में यह ब्राह्मण धर्म की भाषा थी, जो उसी उत्तर-पश्चिमी भाग में प्रचलित हुआ था। ब्राह्मण धर्म के प्रसार के साथ इसका भी प्रसार हुआ, और जब भारत के अन्य दो बड़े जैन और बौद्ध-धर्म फैलने लगे, तब कुछ समय के लिए इसका प्रसार रुक गया। जब भारत में उक्त धर्मों का ह्रास हुआ, तब इसने निर्विघ्न उन्नति करना प्रारम्भ किया। धीरे-धीरे यह सारे भारतवर्ष में फैल गई। प्रारम्भ में एक जिले की, फिर एक वर्ण तथा धर्म की, अन्त में यह सारे भारतवर्ष में एक धर्म, राजनीति और संस्कृति की भाषा बन गई। समय पाकर तो यह एक विशाल राष्ट्रीय भाषा बन गई और केवल तभी यह पदच्युत हुई, जब मुसलमानों ने हिन्दू राष्ट्रीयता को तबाह किया।"

उक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी पर इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक अपना मत व्यक्त करते समय यहाँ निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए जा सकते हैं :

(१) बहुत दिनों तक मध्य संस्कृत व क्लॉसिकल संस्कृत वैदिक भाषा की कुलजा होते हुए भी शिक्षित समुदाय की बोलचाल की भाषा बनी रही और उन्होंने सर्व-साधारण की बोलियों अर्थात् पाली एवं नाटकों की प्राकृतों को भी प्रभावित किया। इस सम्बन्ध में श्री हंसराज अग्रवाल ने यह उदाहरण भी प्रस्तुत किया है, "नाटकीय प्राकृत में हमें 'ऋद्धि' और 'सुदरिसन' शब्द मिलते हैं। पाली में उन्हीं से मिलते-जुलते 'इद्धि'

(स० ऋषि) और 'सदस्यन' (सं० सुदर्शन) शब्द मिलते हैं। यह सिद्ध नहीं किया जा सकता कि 'ऋषि' और 'सुदरिसन' शब्द पाली के 'उद्धि' और 'सुदस्सन' से विकसित हुए हैं प्रत्युत यही मानना होगा कि पूर्वोक्त दोनों शब्द संस्कृत भाषा से ही निकले हैं।"

(२) महर्षि यास्क ने निरुक्त नामक एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की है जिसमें कठिन वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति दिखलाई गई है और इस ग्रन्थ से प्रमाणित होता है कि संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। कहा जाता है कि वैदिक संस्कृत से भिन्न साधारण जनता की बोली को यास्क ने 'भाषा' कहा है और वैदिक कृदन्त शब्दों की व्युत्पत्ति लोक-व्यवहार में प्रयुक्त धातुओं से बतलाई है तथा विभिन्न प्रांतों में प्रयोग किए जाने वाले संस्कृत शब्दों में रूपान्तर व विशिष्ट प्रयोगों का भी उल्लेख किया है। उदाहरणार्थ 'शवति' क्रिया-पद का प्रयोग कम्बोज देश (वर्तमान पंजाब का पश्चिमोत्तर प्रांत) में 'जाने' के अर्थ में किया जाता था पर उसका संज्ञा पद 'शव' (मुर्दा) आर्यों द्वारा भिन्न अर्थ में प्रयुक्त होता था। इसी प्रकार पूर्वी प्रांतों में 'दाति' क्रिया पद 'काटने' के अर्थ में प्रयुक्त होता था जबकि उत्तरी भारत में इसी से बने हुए 'दात्र' संज्ञा शब्द का प्रयोग हँसिया के अर्थ में होता था, अतः इससे स्पष्ट है कि यास्क के समय में (विक्रम से लगभग सात सौ वर्ष पूर्व) संस्कृत बोलचाल की भाषा थी।

(३) पाणिनि के समय में (विक्रम-पूर्व पाँच सौ वर्ष) संस्कृत का उक्त रूप ही बना रहा और उन्होंने भी उसे 'भाषा' ही कहा है तथा यास्क की भाँति संस्कृत के उन रूपान्तरों को भी प्रस्तुत किया है जो पूर्वी व उत्तरी लोगों में व्यवहृत होते थे। उदाहरण के लिए बोलचाल के बहुत से मुहावरे पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में दिए हैं, जैसे 'दण्डा-दण्डि' (डण्डा, डन्डा, लाठा-लाठी), केशाकेशि (नोचा-नोची, बालों को खींचकर होने वाला युद्ध), हस्ताहस्ति (हाथा-हाथी या हाथापाई), उदरपूर भुङ्क्ते (पेट भर खाता है) इत्यादि। इतना ही नहीं, पाणिनि ने शब्दों में स्वरविधान के नियम को बड़े विस्तार के साथ दिया है। इससे स्पष्ट है कि पाणिनि की भाषा बोलचाल की भाषा थी। यदि ग्रन्थ के लिखने में उसका उपयोग होता, तो पूर्वोक्त लिखित नियमों की उपयोगिता किसी प्रकार भी सिद्ध नहीं होती।

(४) पाणिनि के अनन्तर कात्यायन के समय (विक्रमपूर्वक चतुर्थ शतक) और पतंजलि के समय (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) में संस्कृत के लोक-व्यवहार में प्रचलित होने के अनेक प्रमाण मिले हैं तथा पतंजलि ने तो स्पष्ट अपने शब्दों को लोक-प्रचलित कहा है।

(५) कहा जाता है कि भिक्षुओं ने गौतम बुद्ध के समक्ष यह प्रस्ताव रखा था कि वह अपनी बोलचाल की भाषा संस्कृत को बना लें अतः इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत बुद्ध के समय में बोलचाल की भाषा थी।

(६) प्रसिद्ध बौद्ध कवि अश्वघोष (ईसा की द्वितीय शताब्दी) ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए संस्कृत में अपने ग्रन्थ लिखे; अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत जनसाधारण को अपनी ओर अधिक आकृष्ट करती थी और संस्कृत ने कुछ समय के लिए खोये हुए अपने पद को पुनः प्राप्त कर लिया था।

(७) ईसा की दूसरी शताब्दी के पश्चात् मिलने वाले शिलालेख संस्कृत में ही अधिक मिल रहे हैं और छठी शताब्दी के पश्चात् केवल जैन शिलालेखों के अतिरिक्त अन्य सभी शिलालेख संस्कृत में ही मिलते हैं। इस प्रकार शिलालेख प्रायः उसी भाषा में लिखे गए होंगे जिसे सर्वसाधारण पढ़ और समझ सकते हों।

(८) उत्तर भारत में तो बौद्धों के ग्रंन्थ प्रायः संस्कृत में ही चले आ रहे हैं; अतः इससे यही पता चलता है कि बौद्ध लोग तक जीवित भाषा संस्कृत की उन्नति के विरोध में सफल नहीं हो सके।

(९) प्रसिद्ध यात्री ह्वेनसांग ने भी स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सातवीं शताब्दी में बौद्ध लोग धर्मशास्त्रीय मौखिक वाद,विवाद में संस्कृत का ही प्रयोग करते थे और जैनों ने यद्यपि प्राकृत को बिलकुल छोड़ नहीं दिया था पर वह भी संस्कृत का प्रयोग करने लगे थे।

(१०) संस्कृत नाटकों में पात्रों की बोलचाल के योग्य नाना प्राकृतों का भी प्रयोग किया गया है और नायक व उच्च पदाधिकारी पात्र, जिनमें तपस्विनियाँ भी सम्मिलित हैं, संस्कृत बोलते हैं। पर स्त्रियाँ व निम्न वर्ग के पात्र प्राकृत बोलते हैं। इससे सिद्ध हो जाता है कि जो पात्र संस्कृत नहीं बोलते थे, वह भी संस्कृत अवश्य समझते थे।

(११) पर्याप्त प्रमाणों से यह भी संकेत मिलता है कि संस्कृत नाटक खेले जाते थे और इसका यही अर्थ है कि नाटक-दर्शक संस्कृत के वार्तालाप को समझते थे और उसके सौन्दर्य का रसानुभव भी करते थे।

(१२) साहित्य में ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि रामायण व महाभारत जनता के सामने मूल रूप में सुनाये जाते थे, अतः इससे स्पष्ट है कि जनता संस्कृत के श्लोकों का अर्थ समझ लेती होगी।

(१३) कई ऐसे प्रमाण भी प्राप्त हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि हिमालय और विन्ध्य के बीच फैलते हुए सम्पूर्ण आर्यावर्त में संस्कृत बोलचाल की भाषा थी। इसका व्यवहार ब्राह्मण ही नहीं, अन्य लोग भी करते थे। पतंजलि ने एक कथा लिखी है जिसमें कोई सारथी किसी वैयाकरण से 'सूत' शब्द की व्युत्पत्ति पर विवाद करता है।

(१४) यह लोकवार्ता भी प्रचलित है कि राजा भोज ने एक लकड़हारे के सिर पर बोझ देखकर परदुःख-कातर हो उससे संस्कृत में पूछा कि तुम्हें यह बोझ कष्ट तो नहीं पहुँचा रहा है और 'बाधति' क्रिया का प्रयोग किया। इस पर लकड़हारे ने उत्तर दिया—महाराज! मुझे इस बोझ से उतना कष्ट नहीं हो रहा, जितना 'बाँधने' के स्थान पर आपके 'बाधति' प्रयोग पर हो रहा है।

(१५) कहा जाता है कि एक जुलाहे ने अपना परिचय संस्कृत में इस प्रकार दिया था—

काव्यं करोमि नहीं चारुतरं करोमि
यत्नात् करोमि यदि चारुतरं करोमि।
भूपाल मौलिमणि मंडितपाद पीठ,
हे साहसांक! कवयामि वयामि यामि॥

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस भाषा को रथ हाँकने वाला सारथी, लकड़ी का बोझा उठाने वाला लकड़हारा और कपड़ा बुनने वाला जुलाहा सरलतापूर्वक प्रयोग में लाता रहा है वह बोलचाल की भाषा निश्चित रूप में रही थी।

अध्याय | २

वैदिक साहित्य

प्रश्न (४) वैदिक साहित्य की विभिन्न संहिताओं; शाखाओं व सम्प्रदायों की संक्षेप में सम्यक् विवेचन। करते हुए उनकी एक संक्षिप्त विवरण तालिका प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—एक विचारक के कथनानुसार, "वेद हिन्दू धर्म के सर्वस्व हैं। वे हमारे सबसे प्राचीन धर्म-ग्रंथ हैं। भारत की धार्मिकता में जो कुछ निष्ठा देखी जाती है उसका मूल स्रोत वेद ही हैं। वेद महार्षियों के द्वारा अनुभव किये गये तत्वों के साक्षात् प्रति-पादक हैं। स्मृति तथा पुराण भी हमारे लिए मान्य हैं, परन्तु वेद के अनुकूल होने के कारण ही उनका इतना गौरव है।" इस प्रकार 'वेद' भारतीय साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और कई विचारक तो विश्व साहित्य में भारतीय साहित्य की श्रेष्ठता का एकमात्र कारण वैदिक साहित्य को ही मानते हैं तथा विंट्रनिट्ज (Winternitz) ने Indischen Littrature के प्रथम भाग में कहा भी है, "भारतीय वाङ्मय के प्राचीनतम संग्रह के रूप में तथा इंडो यूरोपियन साहित्य के पुरातन अवशेष के रूप में तथा इंडो यूरोपियन साहित्य के पुरातन अवशेष के रूप में, वेद का विश्व साहित्य (के इतिहास) में प्रमुख स्थान है।"

वस्तुत: 'वेद' शब्द की व्युत्पत्ति पर संहिताओं से लेकर उपनिषद्, आयुर्वेद, नाट्यशास्त्र; कोश, कल्प व मनुस्मृति आदि ग्रन्थों तक में व्यापक रूप से प्रकाश डाला गया है और जैसा कि श्री वाचस्पति गैरोला का कहना है, "वेद शब्द चार धातुओं से निष्पन्न होता है विद्ज्ञाने, विद्-सत्तायाम, विद्लृ-लाभे और विद् विचारणे।" उक्त सभी ग्रन्थों में वेद का प्रयोग मंत्र संहिताओं के अर्थ में किया गया है। ऋग्वेद-भाष्य-भूमिका में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने 'वेद' शब्द का निवर्चन इस प्रकार किया है, "विदन्ति जानन्ति, विद्यन्ते भवन्ति विन्दन्ति अथवा विन्दन्ते, लभन्ते, विन्यन्ति विचारयन्ति, सर्वे मनुष्या: सत्यविद्यां यैर्येषु वा तथा विद्वांसश्च ते वेदा। अर्थात् जिनसे सभी मनुष्य सत्यविद्या को जानते हैं, अथवा प्राप्त करते हैं, अथवा विचारते हैं, अथवा विद्वान् होते हैं, अथवा सत्यविद्या की प्राप्ति के लिए जिनमें प्रवृत्त होते हैं, वे वेद हैं।" इसके पश्चात् वह पुन: कहते हैं, "वेद शब्द का व्याकरण निष्पन्न शास्त्रीय अर्थ 'ज्ञान' है, क्योंकि 'वे' शब्द की व्युत्पत्ति ज्ञानार्थक 'विद' धातु से है। 'ज्ञान' शब्द व्यापक अर्थ का प्रतिपादक है। इतिहास भी एक ज्ञान है, भूगोल भी एक ज्ञान है और गणित भी एक ज्ञान है। ज्ञानार्थ प्रतिपादक 'वेद' शब्द से इतिहास, भूगोल और गणित

प्रभृति विषयों का ज्ञान अभिप्रेत नहीं है, यद्यपि (प्रासंगिक रूप से) वैदिक साहित्य का अनुसंधान करने पर भले ही हमें इतिहास, भूगोल एवं गणित की चर्चाएँ मिल जायँ, उसकी बात दूसरी है। 'वेद' कहने से हमें वह ईश्वरीय ज्ञान अभिप्रेत है, हिन्दू धर्म की परम्परा के अनुसार जिसको पहले पहल ऋषि-महर्षियों ने खोजा अथवा जिनसे उन्होंने साक्षात्कार किया था। अतः यह स्पष्ट हो गया कि तपःपूत ऋषि महर्षियों द्वारा इष्ट ज्ञान ही 'वेद' शब्द का अभिप्रेत ज्ञान है।

इस प्रकार 'वेद' का शाब्दिक अर्थ 'ज्ञान' है और वेदों का उद्देश्य अपने समय का समस्त ज्ञान-विज्ञान स्पष्ट कर देता था, अतः हम भारत के सभी शास्त्रों अर्थात् भारतीय साहित्य, दर्शन व जीवन का बीज वेदों में ही पाते हैं तथा संसार की प्राचीनतम रचनाएँ होने के कारण 'वेद' आदि मानव संस्कृति के अन्वेषण के लिये बहुमूल्य भी हैं। वेद न केवल हिन्दुओं या भारतीयों के लिए जीवन सर्वस्व हैं अपितु विश्व के अन्यान्य धर्मावलम्बियों के लिए भी अत्यधिक उपादेय और महत्त्वशाली हैं तथा पाश्चात्य विद्वान् विंटरनिट्ज के शब्दों में, "जो मनुष्य वैदिक साहित्य के समझने में असमर्थ रहता है वह भारतीय संस्कृति को जान नहीं सकता। इतना ही नहीं; वैदिक साहित्य से अनभिज्ञ व्यक्ति बौद्ध साहित्य के रहस्य को समझने में असमर्थ रहता है क्योंकि बौद्ध साहित्य वैदिक साहित्य का ही नवीन विकास या नव्य रूप है।" इतना ही नहीं विंटरनिट्ज का तो यहाँ तक कहना है. "यदि हम अपनी ही संस्कृति के प्रारम्भिक दिनों की अवस्था को जानने के इच्छुक हैं, यदि हम सबसे पुरानी यूरोपीय संस्कृति को समझना चाहते हैं, तो हमें भारत की शरण लेनी होगी, जहाँ एक यूरोपीय जाति का सबसे पुराना साहित्य सुरक्षित है।"

विभाग

वेद के प्रधानतः दो विभाग हैं—(१) संहिता और (२) ब्राह्मण। मन्त्रों के समुदाय का नाम 'संहिता' है और ब्राह्मण ग्रन्थों में एक प्रकार से इन्हीं मन्त्रों की विस्तृत व्याख्या की गई है लेकिन मूलतः ब्राह्मण ग्रन्थों का लक्ष्य यज्ञ का सविस्तार वर्णन करना ही रहा है। ब्राह्मण ग्रन्थों के भी निम्नलिखित तीन रूप मिलते हैं—(१) ब्राह्मण, (२) आरण्यक और (३) उपनिषद्। कहा जाता है कि "आरण्यक ग्रन्थ वे हैं जो जन साधारण से दूर जंगल में पढ़े जाते थे। इनमें यज्ञों के आध्यात्मिक रूप का विवेचन है। ब्राह्मण गृहस्थों के लिए उपादेय हैं, तो आरण्यक वानप्रस्थ आश्रम से जीवन बिताने वाले मनुष्य के लिए हितकर हैं। उपनिषदों से तात्पर्य ब्रह्मविद्या से है जिसके अनुशीलन करने से प्राणी संसार के प्रपंचों से छुटकारा पाकर अन्त में सुख का अधिकारी बनता है। उपनिषद् वैदिक साहित्य का अन्त भाग है। इसलिए उसे 'वेदान्त' के नाम से भी पुकारते हैं। उपनिषदों का सारांश भगवद्गीता है। ब्रह्मसूत्र में बादरायण व्यास ने उद्निषयों के सिद्धान्तों को व्यवस्थित रूप से दिखलाया है। ये ही तीनों ग्रन्थ—उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र तथा भगवद्गीता—प्रस्थानत्रयी के नाम से प्रसिद्ध हैं। विषय की दृष्टि से वेद में दो विभाग हैं—कर्मकाण्ड तथा ज्ञान काण्ड। संहिता ब्राह्मण तथा आरण्यक में प्रधानतया कर्म की विवेचना है। अतः ये कर्मकाण्ड के अन्तर्गत माने जाते हैं। उपनिषदों का प्रधान विषय ज्ञान का विवेचन करना है। अतः ये ज्ञान के काण्ड नाम से प्रसिद्ध हैं।"

किसी देवता विशेष की स्तुति में प्रयुक्त होने वाले अर्थ को स्मरण कराने की क्षमता रखने वाले वाक्य 'मन्त्र' कहलाते हैं और ऐसे मन्त्रों का समुच्चय या समुदाय 'संहिता' कहलाता है। ये संहिताएँ चार हैं—१. ऋक् संहिता, २. यजुः संहिता, ३. साम संहिता, और ४. अथर्व संहिता। कहा जाता है कि इन संहिताओं का संकलन महर्षि वेदव्यास ने यज्ञ की आवश्यकता को दृष्टि में रखकर किया था। इसी प्रकार प्रत्येक यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—१. होता, २. अध्वर्युत ३. उद्गाता और ४. ब्रह्मा। 'होता' का शब्दार्थ पुकारने वाला है और वह—होता—यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता की प्रशंसा में मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। 'होता' के लिए आवश्यक सभी मन्त्र ऋक् या ऋग्वेद संहिता में संकलित हैं। 'अध्वर्यु' का कार्य यज्ञों का विधिवत् सम्पादन है और उसके लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन यजुः या यजुर्वेद संहिता में है। 'उद्गाता' का अर्थ है उच्चस्वर से गानेवाला और उसके लिए आवश्यक मन्त्रों का संग्रह साम या सामवेद संहिता में है। 'ब्रह्मा' का कार्य यज्ञ का पूर्ण रूप से निरीक्षण करना है ताकि अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो और उसके लिए आवश्यक मन्त्र अथर्ववेद संहिता में संकलित हैं।

चूंकि प्रारम्भ में वेदों के मन्त्र वंश-परम्परा या गुरु-शिष्य-परम्परा से सुनकर याद किए जाते थे अतः वेदों को श्रुति कहा गया है पर बाद में लेखन कला का प्रचार होने से वह संहिताओं (संग्रहों) के रूप में लिपिबद्ध कर लिए गए। उक्त चारों संहिताओं में से ऋग्वेद में पूर्णतया ऋक् अर्थात् पद्य मन्त्र हैं, यजुर्वेद में मुख्यतया यजुष् अर्थात् गद्यमन्त्र हैं, सामवेद में सभी गेय मन्त्र हैं और अथर्ववेद में पद्यमन्त्रों की अधिकता है। आरम्भ में ऋक्, साम व यजुः नामक तीन वेद ही प्रसिद्ध रहे हैं तथा वेदों को 'त्रयी' भी कहा गया है। साथ ही वैदिक मन्त्रों का शुद्धतापूर्वक उच्चारण करने के हेतु उन्हें स्वरपूर्वक पढ़ने पर जोर दिया जाता है और ये तीन स्वर हैं—उदात्त अनुदात्त और स्वरित।

जैसा कि डॉ० शांतिकुमार नानूराम व्यास का कहना है, "प्राचीन प्रणाली के भारतीय पंडित वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानते हैं। पर ऐतिहासिक दृष्टि वाले आधुनिक अनुसन्धानकर्त्ताओं ने उनके रचना-काल के विषय में बहुत ऊहापोह की है और विभिन्न आधारों पर अनेक प्रकार के निश्चित-अनिश्चित अनुमान लगाये हैं। ऐसा करते समय उन्होंने पुरातत्व, ज्योतिष, भूगोल, खगोल, इतिहास, भाषा-विज्ञान, भूगर्भ-शास्त्र तथा वेदों के अन्तःप्रमाण जैसे साधनों का सहारा लिया है। भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों के मतों में हजारों वर्षों का अन्तर है। इतना तो निश्चित है कि समग्र वैदिक साहित्य की रचना में शताब्दियों का समय लगा होगा। कुछ भारतीय विद्वान्, मन्त्रों में आए हुए छुटपुट शब्दों तथा भूगर्भशास्त्र के आधार पर वैदिक साहित्य का प्रारम्भ ५०,००० से लेकर ७५,००० वर्ष ई० पू० तक ले जाने की चेष्टा करते हैं। पर इतनी प्राचीनता भाषा-विज्ञान द्वारा निर्धारित तथ्यों से मेल नहीं खाती। लोकमान्य तिलक और जर्मन विद्वान् याकोबी ने खगोल और ज्योतिष के आधार पर वेदों का रचनाकाल लगभग ४,५००० वर्ष ई० पू० स्थिर किया है। लोकमान्य तिलक ने तो कुछ मन्त्रों की रचना ६,५०० और ८,५०० ई० पू० तक की मानी है। आधुनिक विद्वानों में डॉ० विंटरनिट्ज का यह मत ही अधिक ग्राह्य माना जाता है वैदिक साहित्य का

प्रारम्भ ईसा से लगभग २,००० या २,५० वर्ष पूर्व हुआ और ७५०-५०० ई० पू० तक वह सम्पूर्ण हुआ। पर मोहनजोदड़ों की खुदाई के बाद वेदों को इससे और प्रमाणित करने की प्रवृत्ति रही है।'

सामान्यतः प्रत्येक वैदिक संहिता में सूक्तियाँ, प्रार्थनाएँ और यज्ञ विधान संबंधी मन्त्रों की ही अधिकता है तथा कहा जाता है कि पहले विभिन्न ऋषिकुलों द्वारा अनेक संहिताएं संकलित हुई थीं, पर केवल ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद नामक चार संहिताएँ तो उपलब्ध होती हैं। इन संहिताओं की भी अपनी-अपनी शाखाएँ, ब्राह्मण आरण्यक व उपनिषद् आदि हैं। अतः उन चारों का यहाँ संक्षेप में परिचय देना आवश्यक हो जाता है।

ऋग्वेद संहिता

वैदिक संहिताओं में ऋग्वेद को सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है और मैक्समूलर ने तो उसे 'आर्य जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया पहला शब्द' बतलाया है।

ऋग्वेद के मन्त्र अन्य तीनों वेदों में उपलब्ध होते हैं और सामवेद तो पूरा का पूरा ऋग्वेद के मन्त्रों से ही बना हुआ है अतः चारों संहिताओं से ऋग्वेद की प्राचीनता सिद्ध हो जाती है। कहा जाता है कि ऋग्वेद एक ग्रंथ न होकर विशालकाय ग्रंथ समूह है और भाषा व अर्थ की दृष्टि से भी वह एक ही ऋषि की रचना नहीं है तथा विभिन्न ऋषियों द्वारा विभिन्न कालों में निर्माण की हुई रचना है। साथ ही ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं—१. अष्टक, अध्याय और सूक्त तथा २. मण्डल, अनुवाक और सूक्त। पूरा ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त है ज़िसे अष्टक कहा जाता है और प्रत्येक अष्टक में आठ अध्याय हैं अतः पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक व चौसठ अध्याय हैं। संभवतः यह विभाग पाठ्यक्रम की दृष्टि से किया गया है, पर दूसरा विभाग ऐतिहासिक व महत्वपूर्ण है। इस विभाग में समग्र ऋग्वेद दस खण्डों में विभक्त है जिन्हें मण्डल कहा जाता है और मण्डल में संग्रहीत मन्त्र समूह को सूक्त कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहते हैं तथा ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या १०२८ और मन्त्रों की संख्या 11 हजार के लगभग अर्थात् १०,५८० है जिसमें धार्मिक कविता के साथ-साथ आख्यानों, पहेलियों, गीतों आदि में उच्च-कोटि का साहित्य विद्यमान है।

यद्यपि ऋग्वेद की शाकल, बाष्कल, आश्वलावन, सांख्यायन और माडूकायन नामक पाँच शाखाएँ प्रसिद्ध हैं तथा इनमें से इस समय केवल प्रथम 'शाकल' शाखा ही उपलब्ध है पर पं० भगवद्दत ने 'वैदिक वाङ्मय का इतिहास' में ऋग्वेद की निम्नलिखित २७ शाखाएँ मानी हैं :

१. मुदगल शाखा, २. गालव शाखा, ३. शाली शाखा, ४. वात्स्य शाखा, ५. रौशिरि शाखा, ६. बोध्य शाखा, ७. अग्नि माठर शाखा, ८. पराशर शाखा, ९. जातूकर्ण्य शाखा, १०. आश्वलायन शाखा, ११. शाखायन शाखा, १२. कौषीतकी शाखा, १३. महाकोषीतकी शाखा, १४. शाम्ब्य शाखा, १५. मांडूकेय शाखा, १६. बहवृच शाखा, १७. पैङ्गय शाखा, १८. उद्दालक शाखा, १९. सतबलाक्ष शाखा, २०. गज शाखा, २१, २२ व २३. बाष्कलि भरद्वाज की शाखाएँ, २४. ऐतरेय शाखा, २५. वाशिष्ट शाखा, २६. सुलभ शाखा तथा २७. शौनक शाखा।

कहा जाता है कि किसी वेद-संहिता की जितनी शाखायें होंगी उतने ही ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् भी होंगे, पर वैदिक साहित्य का अधिकांश भाग अनुपलब्ध होने के कारण अब यह सिद्धान्त मान्य नहीं रहा। इतना ही नहीं अब तो यह भी देखा जाता है कि 'शाखा किसी सम्प्रदाय की है तो ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् किसी दूसरे सम्प्रदाय के जोड़ दिए गए हैं। इस प्रकार ऋग्वेद के केवल ऐतरेय ब्राह्मण व कौषीतकि ब्राह्मण नामक दो ब्राह्मण और ऐतरेय आरण्यक व कौषीतकी आरण्यक नामक दो आरण्यक तथा ऐतरेय उपनिषद् व कौषीतकी उपनिषद् नामक दो उपनिषद मिलते हैं। साथ ही ऋग्वेद संहिता से सम्बन्धित आश्वलायन श्रौतसूत्र भी मिलता है।

यजुर्वेद संहिता

यह संहिता केवल 'यजुर्वेद' भी कहलाती है और श्री बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "गद्य को 'यजु' कहते हैं। इस वेद में उन गद्य वाक्यों का समूह है जिनका उपयोग 'अध्वर्यु' यज्ञ के अवसर पर करता है। यज्ञ का वास्तव क्रियात्मक अनुष्ठान 'अध्वर्यु' ही करता है। अतः इस वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठान के साथ सबसे अधिक है। इसके दो भेद हैं—कृष्णयजुः और शुक्लयजुः। इन नामकरणों के विषय में एक साम्प्रदायिक कथा पुराणों में दी गई है। वेदव्यास ने यजुर्वेद अपने शिष्य वैशम्पायन को सिखलाया, जिन्होंने इसे याज्ञवल्क्य ऋषि को पढ़ाया। किसी कारण गुरु अपने शिष्य से रुष्ट हो गए और पठित विद्या को उनसे माँगने लगे। याज्ञवल्क्य ने पठित यजुषों को वमन कर दिया। तब अन्य शिष्यों ने तित्तिर का रूप धारण कर उन्हें चुन लिया। यही कृष्ण-यजुः हुआ। उधर याज्ञवल्क्य ने सूर्य की आराधना कर नवीन यजुषों को उत्पन्न किया। वही हुआ शुक्ल यजुर्वेद। इन दोनों के रूप में महान् अन्तर है। शुक्लयजुः में केवल मन्त्रों का ही संग्रह है जिसमें विनियोग वाक्य नहीं हैं। अतः ब्राह्मण से अमिश्रित होने के कारण यह 'शुक्ल' कहा जाता है। परन्तु कृष्ण यजुर्वेद में छन्दोबद्ध मन्त्र तथा गद्यात्मक विनियोगों का मिश्रण है। इसी मिलावट के कारण कृष्ण यजुर्वेद कहते हैं।"

कहा जाता है कि सूर्य ने बाजी अर्थात् घोड़े का रूप धारण कर शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का उपदेश दिया था, अतः इस संहिता को बाजसनेयी संहिता भी कहते हैं। इसमें चालीस अध्याय हैं और इस संहिता की दो प्रधान शाखाएँ हैं—माध्यन्दिन तथा काण्व। माध्यन्दिन शाखा उत्तरी भारत में प्रचलित है और काण्व शाखा का प्रचार दक्षिण भारत में है। इस संहिता का ब्राह्मण शतपथ ब्राह्मण है और बृहदारण्यक नामक एक आरण्यक भी प्रसिद्ध है तथा ईशोपनिषद् व बृहदारण्यकोपनिषद् नामक दो उपनिषद् भी कहे जाते हैं।

प्रारम्भ में कृष्ण यजुर्वेद की अनेक शाखाएँ थीं, पर अब केवल चार शाखाएँ ही मिलती हैं, (१) तैत्तिरीय संहिता, (२) मैत्रायणी संहिता, (३) काठक संहिता और (४) कपिष्ठल कठ संहिता। पर इनमें से चौथी संहिता भी केवल आधी ही उपलब्ध है। इन चारों संहिताओं में तैत्तिरीय ही सर्वप्रमुख व प्रसिद्ध संहिता है और इसमें सात खण्ड हैं—जिन्हें अष्टक या काण्ड कहा जाता है। प्रत्येक काण्ड में कुछ अध्याय हैं जो प्रश्न या प्रपाठक कहलाते हैं तथा प्रत्येक प्रश्न अनेक अनुवाकों में विभक्त हैं। इसी प्रकार मैत्रायिणी संहिता और काठक संहिता तैत्तिरीय संहिता से बहुत कुछ मिलती है तथा क्रम में ही केवल यत्र तत्र अन्तर है। यद्यपि पतंजलि ने कृष्ण यजुर्वेद की १०१

शाखाएँ बतलाई हैं पर शौनक ने केवल ८६ शाखाओं का उल्लेख किया है और उक्त चारों संहिताओं के नाम पर इनकी चार शाखाएँ भी मिलती हैं, जैसे—(१) तैत्तिरीय संहिता की तैत्तिरीय शाखा, (२) मैत्रायणी संहिता की मैत्रायिणी शाखा, (३) काठक संहिता की काठक शाखा और (४) कठ कापिष्ठल संहिता की कठ कापिष्ठल शाखा। कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तिरीय ब्राह्मण नामक एक ब्राह्मण ग्रन्थ और तैत्तिरीय आरण्यक नामक एक आरण्यक भी प्रसिद्ध हैं। साथ ही उसके तैत्तिरीय उपनिषद्, मैत्रायिणी उपनिषद् और कठोपनिषद् नामक तीन उपनिषद् भी हैं तथा आठ सूत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनके नाम इस प्रकार हैं—(१) आपस्तम्ब कल्प सूत्र, (२) बोधायन श्रोत सूत्र, (३) हिरण्यकेशी कल्प सूत्र, (४) भारद्वाज श्रौत सूत्र, (५) मानव श्रौत सूत्र, (६) मानव गृह्य सूत्र, (७) बाराह गृह्य सूत्र और (८) काठक गृह्य सूत्र।

सामवेद संहिता

ऋग्वेद और यजुर्वेद के पश्चात् सामवेद संहिता की गणना की जाती है और पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, 'सामवेद का सकलन उद्गाता ऋत्विक् के निमित्त किया गया है। यज्ञ के अवसर पर जिस देवता के लिए होम किया जाता था, उसे बुलाने के लिए उद्गाता उचित स्वर में उस देवता का स्तुति मंत्र गाता था। गायन को साम कहते हैं। ये ऋचाओं के ऊपर ही आश्रित हैं। ऋचाएँ ही गायी जाती हैं। इसलिए समग्र सामवद में ऋचाएँ ही हैं। इनकी संख्या १५४६ है जिनमें केवल ७५ ऋचाएँ ही स्वतन्त्र हैं जो ऋक् संहिता में उपलब्ध नहीं होती। इसलिए सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता नहीं मानी जाती। साम संहिता के दो भाग हैं—(१) पूर्वाचिक और (२) उत्तरार्चिक। पूर्वाचिक को छन्दः, छन्दसी अथवा छन्दशिका कहते हैं। विषयानुसार इस खण्ड की ऋचायें चार भागों में विभक्त की गई हैं—(क) आग्नेय पर्व (अग्नि के विषय में ऋचायें), (ख) ऐन्द्रः (ग) पवमान (सोम-विषय मंत्र), (घ) आरण्यक पर्व। दूसरा खण्ड 'उत्तरार्चिक' के नाम से प्रख्यात है। इसमें विषय के अनुसार कई उपखण्ड हैं जिनमें इन अनुष्ठानों का निर्देश किया गया है—(१) दशराज, (२) सम्वत्सर, (३) ऐकाह, (४) अहीन, (५) सत्र, (६) प्रायश्चित और (७) क्षुद्र। साम के गायनों में सात स्वरों का प्रयोग किया जाता है। सङ्गीत का मूल यहीं उपलब्ध होता है। उस प्राचीन-काल में संगीत की इतनी उन्नति भारतीय सभ्यता के उदात्त विकास की सूचना देती है।"

यद्यपि सामवेद की सहस्त्रों शाखाएँ मानी जाती हैं पर इस समय केवल तीन ही उपलब्ध हैं—(१) कौथुम, (२) राणयनीय और (३) जैमिनीय। इनमें से कौथुम का प्रचार गुजराती ब्राह्मणों में है, राणायनीय महाराष्ट्र में प्रचलित है और जैमिनीय का प्रचार कर्नाटक प्रदेश में है, इन्हीं शाखाओं के आधार पर सामवेद की कौथुम संहिता, राणायनीय संहिता व जैमनीय संहिता नामक तीन संहिताएँ भी मिलती हैं। साथ ही सामवेद के तांड्य ब्राह्मण, षडविंष ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण व जैमिनीय ब्राह्मण नामक चार ब्राह्मण और छांदोग्य व जैमिनीय नामक दो आरण्यक तथा छांदोग्य, केन व जैमिनीय नामक तीन उपनिषद् भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त सामवेद के सात सूत्र ग्रन्थ भी मिलते हैं जिनका उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—

१. कौथुक संहिता—(१) मशक कल्प सूत्र, (२) लाटय्या श्रौत सूत्र, (३) गोभिल गृह्य सूत्र
२. राणायनी संहिता—(४) द्राह्यायण श्रौत सूत्र, (५) खदिर गृह्य सूत्र,
३. जैमिनीय संहिता—(६) जैमिनीय श्रौत सूत्र, (७) जैमिनीय गृह्य सूत्र,

अथर्व वेद संहिता

'अथर्ववेद' का नामकरण 'अथर्वा' नामक ऋषि के नाम से माना जाता है और श्री वाचस्पति गैरोला के कथनानुसार, "महर्षि अथर्वा से सम्बन्धित 'गोपथ ब्राह्मण' में एक कथा वर्णित है, जिसके अनुशीलन से विदित होता है कि पुराकाल में स्वयं ब्रह्मा ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिये कठिन तप किया। इस घोर तप के प्रभाव से अन्त में उनके तपःपूत शरीर से तेजस्वरूप दो जल धाराएँ उद्भूत हुईं, जिनमें एक धारा से अथर्वन् और दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं से अथर्वांगिरसों की उत्पत्ति हुई। इसी भृगु अथवा अथर्वन् और अंगिरा के वंशजों को जो मन्त्र दृष्ट हुए उन्हीं का नामकरण अथर्ववेद, भृग्वंगिरसवेद या अर्वांगिरसवेद हुआ।"

अथर्ववेद में संगृहीत मन्त्रों का सम्बन्ध यज्ञ से नहीं है बल्कि उसमें यज्ञ में उत्पन्न होने वाले विघ्नों का निवारण करने के लिये यज्ञ संरक्षक ब्रह्मा के निमित्त मन्त्र दिये गये हैं जिनमें मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार क्रियाओं का ही विशेष वर्ण है। यह संहिता बीस खण्डों में विभक्त है जिन्हें 'कांड कहा जाता है और प्रत्येक कांड प्रपाठक, अनुवाक, सूक्त व मन्त्र आदि में विभक्त है। इस प्रकार अथर्ववेद २० कांड, ३४ प्रपाठक, १११ अनुवाक्, ७३१ सूक्त व ५९४६ मन्त्र या ऋचाएँ हैं और इनमें से लगभग बारह सौ ऋचाएँ ऋग्वेद से ली गयी हैं तथा सम्पूर्ण संहिता का छठा भाग गद्य में है। अथर्ववेद के प्रारम्भिक १३ कांडों में मारण-मोहनादि क्रियाओं का वर्णन है, १४वें कांड में विवाह विषयक मन्त्र हैं, १८वाँ कांड श्राद्ध विषयक और २४वाँ कांड सोम यज्ञ से सम्बन्धित है।

अथर्ववेद की पैप्पलाद, शौणकीय, दामोद, तोत्तायान, जमाल, ब्रह्म पालास कुनरवा, देवदर्शी व चरणविद्या नामक नौ शाखाएँ मानी जाती हैं, पर आज-कल केवल शौनक व पैप्पलाद नामक दो शाखाएँ ही उपलब्ध हैं लेकिन पैप्पलाद का केवल प्रश्नोपरिषद् ही उपलब्ध है तथा अन्य ग्रन्थ लुप्तप्राय हैं। शौनक शाखा अवश्य प्रसिद्ध है और इसकी शौनक संहिता भी प्राचीन है तथा, गोपथ ब्राह्मण नामक एक ब्राह्मण ग्रन्थ भी मिलता है। साथ ही इसके मुंडक और मांड्क्य नामक दो उपनिषद तथा दो सूत्र मिलते हैं जिनके नाम क्रमशः वैतान श्रौत सूत्र व कौशिक गृह सूत्र हैं।

प्रश्न (५) वेदों का निर्माण काल निश्चित करते समय विन्टरनिट्ज ने जिन मतों को उद्धृत किया है उनका संक्षेप में उल्लेख कोजिए।

उत्तर—यह तो सर्वविदित है कि प्रायः सभी विद्वान् वेदों को विश्व साहित्य में अत्यन्त प्राचीन मानते हैं पर वेदों के निर्माण काल का यथातथ्य निर्णय करना सहज नहीं है और विद्वान् इस सम्बन्ध में अपने पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत के अधिकांश धार्मिक व्यक्ति वेदों को अनादि व अपौरुषेय मानकर उन्हें समय की सीमा में आबद्ध करने के पक्ष में नहीं हैं तथा कुछ भारतीय विद्वानों ने वेद काल की मर्यादा निर्धारित करते समय जो विचार व्यक्त किए हैं उनमें वेदों की तिथि लाखों वर्ष पूर्व बैठती है अतः उनका मत भी अनादि सिद्धान्त के ही समक्ष है। ठीक इसके विपरीत पाश्चात्य विचारक और कुछ भारतीय विचारक भी वेदों को ऋषि निर्मित्त पौरुषेय मानकर उनकी समय सीमा का निर्धारण भी करते हैं अतः उनके विचारों का अनुशीलन करना भी आवश्यक हो जाता है। सुपरिचित

पाश्चात्य विचारक विंटरनिट्ज (M. Winternitz) ने अपने उल्लेखनीय ग्रन्थ (Indischen Litterature) के प्रथम भाग में वेदों के काल निर्णय सम्बन्धित अनेक भारतीय पाश्चात्य विचारकों के मतों को संकलित कर उनकी समीक्षा करते हुए अपने विचार भी व्यक्त किए हैं। प्रशंसा की बात है कि विंटरनिट्ज का उक्त ग्रन्थ मूल जर्मन भाषा से श्री लाजपत द्वारा हिन्दी में, 'प्राचीन भारतीय साहित्य' के नाम से प्रकाशित भी हो चुका है अतः हम यहाँ इस ग्रन्थ के आधार पर वेदों के निर्माण काल सम्बन्धी मतों का उल्लेख करेंगे।

(१) वस्तुतः वेदों का काल निर्णय करने का सर्वप्रथक प्रयत्न वेबर महोदय ने अपने 'भारतीय साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ के प्रथम संस्करण (सन् १८५२) में किया है और उन्होंने भारतीय साहित्य को विश्वसाहित्य का प्राचीनतम रूप मानकर वेदों को विश्व में सर्वाधिक प्राचीन माना है पर उक्त इतिहास के द्वितीय संस्करण (सन् १८७६) में उन्होंने यह भी संकेत किया कि 'मिस्र के प्राचीन अभिलेख तथा असीरियन साहित्य के अवशेष जो हाल ही में प्रकाश में आये हैं, शायद हमारी वेद-सम्बन्धी प्राचीन स्थापनाओं को संदिग्ध कर दें। वेबर के इस निर्णय का आधार मुख्यतया भूगोल व धर्म के इतिहास सम्बन्धी साक्ष्य पर आधारित है क्योंकि ऋग्वेद के प्राचीन अंशों में भारतीयों का पंजाब के आस-पास बसना स्वीकार किया गया है और महाभारत व रामायण के युग में उनका दक्षिण में फैलना सिद्ध हो पाता है। साथ ही ऋग्वेद की प्रकृति पूजा को उपनिषदों की दार्शनिकता में परिणत होने के लिये भी पर्याप्त समय लगा होगा और तीन सौ ईसवी पूर्व मेगस्थनीज को भी पौराणिक सांस्कृतिक साहित्य के अवलोकन में समय लगा होगा। इस प्रकार वेबर ने वेदों के काल निर्णय सम्बन्धी किसी निश्चित समय की ओर संकेत न कर केवल वेदों की प्राचीनता का ही संकेत किया है।

(2) यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो मैक्समूलर ने ही सन् १८५६ में वेदों का कालनिर्णय निश्चित करने के लिए सर्वप्रथम प्रयत्न किया है और उनका कहना है कि बौद्ध धर्म का जन्म ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रियास्वरूप हुआ तथा वह—बौद्ध धर्म—समस्त वैदिक साहित्य—जिसमें संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् सम्मिलित हैं—की सत्ता पूर्णतया स्वीकार करता है, इस प्रकार मैक्समूलर की दृष्टि में सम्पूर्ण वैदिक साहित्य ईसा से ५०० वर्ष पूर्व बन चुका था और उन्होंने उसे छन्दकाल, मन्त्र काल, ब्राह्मण काल व सूत्र काल नामक चार कालों में विभाजित कर प्रत्येक काल के विकास में २०० वर्षों का अनुमान किया है और सूत्र साहित्य या वेदांग की रचना बौद्ध धर्म के उद्भव एवम् विकास के साथ मानी है। चूंकि बुद्ध का निर्वाण ४७३ ई० पूर्व हुआ था अतः इससे २०० वर्ष पूर्व सूत्रकाल, उससे २०० वर्ष पूर्व ब्राह्मण काल, उससे २०० वर्ष पूर्व मन्त्रकाल और उससे २०० वर्ष पूर्व छन्दकाल का होना माना जा सकता है। इस प्रकार मैक्समूलर के कथनानुसार १२०० से १००० ई० पूर्व तक छन्दकाल, १००० से ८०० ई० पूर्व का मन्त्र काल, ८०० से ६०० ई० तक ब्राह्मण काल और ६०० से ४०० ई० पूर्व तक सूत्रकाल का होना सिद्ध होता है तथा इस क्रम से वेदों का निर्माण काल वह १२०० से १००० ई० पू० तक मानते हैं पर उन्होंने उक्त मत का निर्माण करते समय जो प्रत्येक काल के विकास में २०० वर्षों का अनुमानन किया है उसकी पुष्टि के लिए कोई प्रमाण नहीं मिलता। स्वयं मैक्समूलर ने सन्

१८८६ में गिफ्फर्ड लैक्चर्स (Gifford Lectures) में स्पष्टतया कहा था कि एक हजार ईसवी पूर्व तक वेद बन चुके थे; १५०० या २००० या ३००० ई० पू०—कब प्रथम वैदिक कविता सुनी गई—इसे जानने के लिए हमारे पास कोई साधन नहीं। इतना होते हुए भी मैक्समूलर के परवर्ती अनेक विचारों ने उसके मत को आँख मूंद कर स्वीकार कर लिया, पर ह्विटनी ने उसके विचारकों की स्पष्टतया निन्दा की थी तथा श्रोडर ने संकोच के साथ ही उक्त तिथियों को स्वीकार किया था।

(३) कुछ विचारक ज्योतिष-विज्ञान की गणना के आधार पर वेदों का काल निर्णय करते हैं और याकोबी ने ज्योतिष विज्ञान की गणना के आधार पर वेदों का रचना काल चौथी सहस्राब्दी ईसा पूर्व माना है। लुड्विग ने सूर्य ग्रहण के आधार पर एक ऐसा ही प्रयत्न याकोबी से पूर्व किया था, लेकिन भारत के लिए ज्योतिष गणना कोई नवीन वस्तु नहीं है। हमारे यहाँ सन् १८६३ में लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष गणना के आधार पर वेदों का निर्णय ६५०० वर्ष पूर्व का माना था, जब कि याकोबी ने वैदिक सूक्तों की रचना ४५००-२५०० ई० पूर्व स्वीकार की है। वस्तुतः उक्त मत 'गृह्य सूत्र' में वर्णित 'ध्रुव दर्शन के आधार पर माना जाता है पर ऋग्वेद के विवाह मन्त्रों में 'ध्रुव दर्शन' जैसे किसी कार्य का वर्णन ही नहीं मिलता; इसलिए याकोबी का विचार है कि ऋग्वेद की इस ध्रुवमूलक वैवाहिक प्रथा का काल लानव सभ्यता के इतिहास में ३००० ई० पूर्व ही होना चाहिए।

(४) शिलालेखों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ईसा से तीन सौ वर्ष पूर्व दक्षिण भारत आर्यों की राजनीतिक व सांस्कृतिक आधीनता में आ चुका था और दक्षिण में बोधायन व आपस्तम्ब आदि वैदिक सम्प्रदायों का जन्म, आर्यों की उक्त विजय को सातवीं-आठवीं सदी ईसवी पूर्व तक ले जाती जान पड़ता है लेकिन मूलर का कहना है कि "७००-६०० ई० पू० में आर्यों की यह दक्षिण-विजय इस सिद्धान्त को (कि १२००-१५०० ई० पू० में वे भारत के उत्तरीय छोर पर और पूर्वी अफगानिस्तान में बस चुके थे) सर्वथा उन्मूलित कर देती है और यह कल्पना थी—कि इंडो-आर्यन लोगों का वह कबीला जो वैदिक युग में आंतरिक द्वेष-विद्वेष से सर्वथा शिथिल पड़ चुका था—विदीर्ण हो चुका था, पंजाब, आसाम और बर्मा के अतिरिक्त भारत के एक लाख तेईस हजार वर्ग मील क्षेत्र पर हावी हो गया, और जगह-जगह राज्यों की स्थापना करते हुए ५-७ सदियों की मध्यावधि में सम्पूर्ण भारत को एक रूप कर गया, उपहासास्पद प्रतीत होती है। सबसे बड़ी मुश्किल शायद इस तथाकथित विजय की राह में यह भी थी कि इन प्रदेशों में बसने वाले लोग जंगली नहीं थे, अपितु सभ्यता और संस्कृति की दृष्टि से, आर्यों की अपेक्षा किसी दर्जे कम भी न थे। इस सफलता के लिए जो समय पर्याप्त समझ लिया गया है, उससे दुगुने समय में भी उसकी सिद्धि आसान नहीं लगती।" मूलर के उक्त मत का खण्डन करते हुए ओल्डन वर्ग ने सात सौ वर्षों की अवधि किसी भी राष्ट्रव्यापी प्रगति के लिए पर्याप्त मानी है और उनका विचार है कि उत्तरी व दक्षिण अमेरिका के विपुल भूखण्ड की काया इन चार सौ वर्षों में ही कितनी पलट गयी है पर विंटरनिट्ज इस तर्क से सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि अमेरिका में दोनों दलों की सभ्यता में महान् अन्तर होने के कारण परिवर्तन शीघ्र सम्भव हो सकता था, पर भारत में तो दोनों सभ्यताओं में न केवल

पर्याप्त साम्यता थी अपितु महाकाव्यों से यह भी प्रमाणित होता है कि दोनों में कई शताब्दियों तक युद्ध होता रहा, अतः मूलर का मत युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इसी प्रकार वेद श्रुति कहे जाते हैं और उनके लिखित रूप में आने से पूर्व ही वैदिक मन्त्रों की रचना हो चुकी थी तथा मौखिक मन्त्रों का संहिता के रूप में संकलन होने में कई शताब्दियाँ भी लगी होंगी। साथ ही वैदिक साहित्य के आरम्भ होने से अन्त तक आर्य सिन्धु नदी से गङ्गा तक के प्रदेश पर ही अधिकार कर पाये थे और दक्षिण विजय में तो उन्हें और भी समय लगा होगा; अतः मूलर का दक्षिण विजय के आधार पर वेदों का रचना काल १२०० या १५०० ई० पूर्व निर्धारित करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

(५) सन् १९०७ में एशिया माइनर के अन्तर्गत बोगाजकोई (Boshazkoy) में ह्यूगो विक्टर की खुदाइयों से ऋग्वेद व वैदिक संस्कृति सम्बन्धी वादविवाद पुनः जाग्रत हो गया क्योंकि उसे वहाँ कुछ ऐसी मिट्टी की मुद्राएँ प्राप्त हुईं, जिन पर १४वीं सदी ई० पू० के प्रारम्भ में हित्तियों व मितन्नियों के मध्य हुई एक संधि का उल्लेख मिलता है। इस संधि-पत्र पर शपथ खाते हुई दोनों जातियों ने प्राचीन बेबिलोनियन तथा हित्ती देवताओं के साथ मित्र, वरुण, इन्द्र व नासत्या का भी आवाहन किया है अतः यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि एशिया माइनर में उक्त वैदिक देवता कहाँ से और कैसे पहुँचे ? इस प्रकार प्रसिद्ध इतिहास एडवर्ड मेयर, प्रो० जाइमल आदि के मतों को उद्भृत करते हुए विंटरनिट्ज ने उस समय (१४०० ई० पू०) भारतीय व ईरानी जातियों को भाषा और धर्म की दृष्टि से एक मानते हुए यह भी कहा है कि यह सच है कि वरुण, मित्र, इन्द्र और नासत्या के इस संयोग की गवेषणा आदि कहीं हो सकती है तो यह भारतीयों के वेद वाङ्मय में ही। इसलिए हम याकोबी, कोनो और हिल्ली बाँट के इस विचार से सर्वथा सहमत हैं कि ये देवता विशुद्ध भारतीय देवता ही हैं, इन्हें किसी और राष्ट्र के देवता मानने की आवश्यकता नहीं।

(६) कुछ ऐसे विचारक भी हैं जो भारतीय संस्कृत को अर्वाचीन से अर्वाचीन सिद्ध करना ही अपना जीवन-ध्येय समझते हैं और हर्टले के कथनानुसार ऋग्वेद का निर्माण उत्तरी पश्चिमी भारत में नहीं, ईरान में हुआ था और उसके समय को जरथुष्ट (हर्टल द्वारा गृहीत तिथि ५०० ई० पू०) आस-पास ही समझना चाहिए। इसी प्रकार ह्यूसिंग का कहना है कि १००० ई० पूर्व भारतीय लोग आर्मीनिया की ओर से अफगानिस्तान में आ बसे, जहाँ कि उन्होंने ऋग्वेद की रचना की और इसके बहुत समय पश्चात् वह भारत की ओर बढ़े। इतना ही नहीं थुनहॉफर को एक कल्पना का सहारा लेकर ह्यूसिंग ने सरलतापूर्वक यह भी जान लिया है कि एक ग्रीक अभिलेख में उल्लिखित सीथियनों का राजा कनितास (दूसरी सदी ईसवी पूर्व) और कोई नहीं ऋग्वेद का 'कानीत पृथुश्रवस' है अतः इससे तो यही स्पष्ट होती है कि २०० ई० पूर्व तक ऋग्वेद का ही संकलन न हो पाया था, पर यह मत उपहासास्पद ही है।

इस प्रकार उक्त मतों को उद्धृत करते हुए और उनकी समीक्षा करते हुए अन्त में विंटरनिट्ज में वैदिक काल-गणना के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष उपस्थित किये हैं—

"१. नक्षत्र-विज्ञान के आधार पर वैदिक काल-निर्णय कुछ निश्चित नहीं हो

पाता, क्योंकि ऐसे प्रकरणों की व्याख्या के सम्बन्ध में ही अभी तक पर्याप्त मतभेद है। सो—वैज्ञानिक दृष्टि से ये तिथियाँ कितनी ही सही हों, काल-निर्धारण के लिए उनका मूल्य तब तक कुछ भी नहीं—जब तक कि उक्त प्रकरणों के सम्बन्ध में विद्वान एक मत नहीं हो जाते।

२. क्यूनिफार्म अभिलेखों में अथवा बोगजकोई के सिक्कों में आए ऐतिहासिक तथ्य अपने आप में इतने अनिश्चित हैं; और वैदिक प्राचीनता का इंडोयूरोपियन युग के साथ परस्पर सम्बन्ध भी एक ऐसी अस्थिर सी युक्ति है कि जिसके आधार पर विद्वान् अद्यावधि नितान्त विभिन्न निष्कर्षों पर पहुँचते रहे हैं। हाँ एशिया माइनर तथा पश्चिमी एशिया के साथ भारतीयों के सम्बन्ध की युक्ति; अलबत्ता; वैदिक युग को दूसरी सहस्राब्दी ईसवी पूर्व के बहुत इधर नहीं ला सकती।

३. वेद और अवेस्ता में, वैदिक और लौकिक में (भाषागत) परस्पर सादृश विभेद की युक्ति भी हमें किन्हीं निश्चित तथ्यों पर पहुँचाती प्रतीत नहीं होती।

४. अलबत्ता, भाषा की यही युक्ति हमें सचेत अवश्य कर देती है कि —व्यर्थ ही हम भूगर्भ विद्या अथवा हिरण्यगर्भ विद्या के झाँसे में आकर वेदों को कहीं तैंस-चालीस हजार साल ईसवी पूर्व तक ले जाने न लग जायें।

५. और अन्त में, जब सभी युक्तियाँ—सभी साक्षियाँ—व्यर्थ सिद्ध हो जाती हैं, तब वेद की तिथि के सम्बन्ध में एक ही प्रमाण बचा रहता है—और वह (प्रमाण) है, भारतीय वाङ्मय की ऐतिहासिक परम्परा का स्वतोऽभ्युदयः भारत के ऐतिहासिक पुराण पुरुष पार्श्व महावीर, बुद्ध—सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय की सत्ता को अपने पूर्व 'निश्चित' करते हैं अर्थात् वैदिक वाङ्मय के किसी भी अंग को हम ५०० ई० पू० से इधर (किसी भी हालत में) नहीं ला सकते; और सुविधा के लिए यदि १२०० या १५०० ई० पू० को हम वैदिक वाङ्मय का आरम्भ विन्दु मान लें तो....शेष साहित्य की विपुलता को हम ७०० वर्षों की छोटी-सी अवधि में फलता-फूलता नहीं देख सकते तो इस महान् साहित्यिक युग का श्रीगणेश २५००/२००० ई० पू० में हुआ और अन्त ७५०। ५० ई० प० में—ऐसा मानने से हम दोनों प्रकार की अतियों से भी बच जाते हैं। इससे न तो वेद इतने प्राचीन हो जाते हैं कि उनमें पौरुषेयता का अंश निपट दुर्लभ हो जाय और न इतने अर्वाचीन ही कि उनकी साहित्यिक संगति निपट—'आधुनिक' प्रतीत होने लगे—'अ-वैदिक' ही प्रतीत होने लगे।"

प्रश्न (६) ऋग्वेद के रचना-काल, रचना-क्रम और वर्ण्य-विषय का समीक्षात्मक परिचय दीजिए।

उत्तर—वेद चार हैं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद तथा इन चारों में ऋग्वेद प्राचीनतम है। मैक्समूलर ने तो उसे आर्य जाति के मनुष्य द्वारा कहा गया पहला 'शब्द' माना है। यद्यपि ऋग्वेद में उसके रचना काल का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता और न उसमें कहीं भी कुछ ऐसे तथ्य हैं जिनके आधार पर उसका रचना काल निर्धारित किया जा सके पर विचारकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से प्रमाण प्रस्तुत करते हुए उसका रचना काल निश्चित १२०० या १५०० ई० पू० माना है और मैकडानल व कीथ ने भी ऐसा करने का प्रयास किया है। इस प्रकार मैक्समूलर ने ऋग्वेद का रचना काल का समर्थन किया है पर ज्योतिष गणना के आधार पर उसका

रचनाकाल याकोबी ने ३०० ई० पूर्व तथा लोकमान्य तिलक ने लगभग ६००० ई० पू० माना है। विंटरनिट्ज ने उक्त सभी विचारकों के मतों का मूल्यांकन करते हुए ऋग्वेद का रचना काल २५०० ई० पूर्व माना है पर यदि इसे भी अमान्य समझा जाय तो भी उक्त सभी विद्वानों के मतानुसार ऋग्वेद १२०० या १५०० ई० पूर्व अवश्य विद्यमान था और इस प्रकार उसे प्राचीनतम ग्रंथ निर्विवाद रूप से माना जा सकता है। चूंकि उसकी भाषा अन्य तीनों वेदों की अपेक्षा विभक्ति व क्रिया की दृष्टि से अधिक प्राचीन है अतः वह तीनों वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है।

वस्तुतः ऋग्वेद एक ग्रन्थ न होकर एक विशालकाल ग्रन्थ समूह है और पाश्चात्य विचारक उसे किसी एक काल-विशेष की रचना न मानकर विभिन्न कालों में उसके विभिन्न अंशों का निर्माण होना प्रतिपादित करते हैं और कालान्तर में उक्त विभिन्न अंशों का संकलन ही ऋग्वेद संहिता के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस प्रकार पाश्चात्य विद्वान् वशिष्ट, गृत्समद आदि ऋषियों को ऋग्वेद का वास्तविक प्रणेता नहीं मानते। साथ ही ऋग्वेद के दो प्रकार के विभाग उपलब्ध होते हैं— १. अष्टक, अध्याय व सूक्त और २. मण्डल, अनुवाद व सूक्त। सम्पूर्ण ऋग्वेद आठ भागों में विभक्त हैं जिन्हें अष्टक कहा जाता है और पूरे ऋग्वेद में आठ अष्टक या चौंसठ अध्याय हैं लेकिन यह विभाग पाठ्यक्रम की सुविधा के लिए किया गया प्रतीत होता है तथा दूसरा विभाग अपेक्षाकृत कहीं अधिक ऐतिहासिक व वैज्ञानिक है। इस विभाग में सम्पूर्ण ऋग्वेद दस खण्डों में विभक्त है और यह खंड मण्डल कहलाते हैं, तथा मण्डल में संग्रहीत मन्त्र समूह को 'सूक्त' कहते हैं। इन सूक्तों के खण्डों को ऋचाएँ कहा जाता है और ऋग्वेद में सूक्तों की संख्या 'खिल सूक्तों' को मिलाकर १०२८ है तथा मन्त्रों की संख्या १०,५८०।

भारतीय विद्वानों ने वेदों को ऋषियों के द्वारा 'इष्ट' माना है और एक विद्वान् के कथनानुसार 'ऋषि' शब्द का अर्थ ही 'देखने वाला' है। यास्क ने ऋषियों को इसलिए मन्त्र का द्रष्टा माना है। ऋग्वेद के ऋषिगण भिन्न-भिन्न कुटुम्बों से सम्बद्ध हैं। एक कुल के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संग्रह एक मण्डल में किया गया है। प्रथम मण्डल और दशम मण्डल में तो नाना कुटुम्बों के ऋषियों के मन्त्र हैं, परन्तु द्वितीय से लेकर सप्तम तक प्रत्येक में एक ही कुटुम्ब के ऋषियों के द्वारा दृष्ट मन्त्रों का संकलन है। इन ऋषियों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—(१) गृत्समद, (२) विश्वामित्र, (३) वामदेव, (४) अत्रि, (५) भारद्वाज, (६) वशिष्ठ, जो क्रमशः द्वितीय से लेकर सप्तम मण्डल तक से सम्बद्ध हैं। अष्टम मण्डल में काण्व वंश और अंगिरा गोत्र के ऋषियों के मन्त्र हैं। नवम् मण्डल में सोम विषयक मन्त्रों का ही संकलन है। सोम का नाम है 'पवमान' अर्थात् पवित्र करने वाला। सोम विषयक होने से ही इस मण्डल का नाम 'पवमान' मण्डल' है। दशम मण्डल के मन्त्र ऋषि कुलों से सम्बद्ध हैं, इसमें केवल देवताओं की स्तुति नहीं है, अपितु अन्य विषयों का भी संनिवेश है। दूसरे से लेकर सातवें मण्डल तक ऋग्वेद सबसे प्राचीन माना जाता है। दशम मण्डल पूरे ऋग्वेद में अर्वाचीन माना जाता है।

वास्तव में ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त विभिन्न देवी-देवताओं की कृतियाँ ही हैं और डा० शांतिकुमार नानूराम व्यास के शब्दों में, "वैदिक आर्य मुख्यतः प्रकृति-पूजक थे और उनके देव प्रकृति-जगत् के ही रूप-रूपान्तर हैं। जाज्वल्यमान रश्मिवन्त सूर्य, रात्रि

के समय मधु वर्षा करता हुआ सुखद शीतल चन्द्रमा, यज्ञवेदी पर या पाकशाला में धधकती अग्नि, मेघों में से तीर की तरह निकल पड़ने वाली विद्युत, दिन का स्वच्छ और चमकता हुआ अथवा रात का नक्षत्र मंडित आकाश, जिसका कोई पारावार नहीं, गरजता-बरसता तूफान और नदियों में प्रवाहित होनेवाली वेगमती जल-धारा—प्रकृति की अचिन्त्य शक्ति के प्रतीक इन चेतन रूपों में आर्यों की तेजस्वी और स्पष्ट कल्पना ने देवत्व के दर्शन किये। ऋग्वेद के मंत्रों में अनेक देवताओं को प्राकृतिक जगत् के अधिष्ठाता मान कर उनका आवाहन एवं स्तवन किया गया है। इन मंत्रों का यज्ञों में घृत की आहुति देते समय उच्चारण किया जाता था। देवताओं की संख्या ३३ थीं, जिनमें से ये प्रमुख ये हैं—आकाश के देवता द्यौः और वरुण सौर मंडल के देवता सूर्य, मित्र, सवितृ, पृषन् और विष्णुः प्रभात के देवता अश्विनी और ऊषा, अंतरिक्ष के देवता इन्द्र, अपांनपात्, रुद्र, मरुत्, वायु, पर्जन्य और आप, धरातल के देवता पृथिवी, अग्नि और सोम; तथा सिन्धु, विपाशा, शतद्रु और सरस्वती नदियाँ।

इन देवों पर मानव रूप आरोपित किया गया है, परन्तु उसके अंग-अत्यंग वास्तव में प्राकृतिक उपादनों के ही प्रतीक हैं। सूर्य के हाथ उसकी रश्मियाँ हैं, अग्नि की जीभ उसकी ज्वाला है। इन्द्र और मरुत की योद्धाओं तथा अग्नि और बृहस्पति को पुरोहितो के रूप में कल्पना की गई है। सभी देवता दिव्य रथों में भ्रमण करते हैं। उनका भोजन मानव का-सा है। यह भोजन उन्हें यज्ञों में अर्पित किया जाता है, जो अग्नि द्वारा उन तक पहुँचाया जाता है, अथवा जिसे ग्रहण करने के लिए स्वयं अपने दिव्य रथों में बैठकर वे यज्ञ भूमि में जाते हैं। सोमरस उनका प्रिय पेय है। बल, वीर्य शक्ति एवं तेज के वे आधार हैं। वे प्रकृति जगत् की व्यवस्था, सज्जनता की रक्षा और दुष्टों का स्थल को न बीधे, हृदय पर आघात न करें। जिस पृथ्वी पर लोग गाते हैं, नाचते हैं, युद्ध करते हैं, ढोल बजाते हैं, वही हमें शत्रुओं से छुटकारा देगी। हे पृथ्वी, हमें अरण्य के पशुओं, सिंहों व्याघ्रों और वृक्षों से बचाओ। द्यौ, पृथ्वी और अंतरिक्ष ने हमें विस्तार दिया है। अग्नि, सूर्य, आप और विश्वेदेवाः ने हमें मेघ प्रदान की है, गाँव हो या अरण्य, सभा, समिति, संग्राम—हम जहाँ कहीं हों, पृथ्वी के सम्बन्ध में भली बातें कहें। शान्त, सुरमियुता, दयालु स्तन में मधुर पान वाली और पयस्वनी, पृथ्वी अपने रस से हमें प्रोत्साहन दे। हे पृथ्वी तुम्हारी गोद हमारे लिए नीरोग और स्वास्थ्यप्रद बन जाय। हम लोग जीवन भर सावधानीपूर्वक तुम्हारे लिए बलि प्रदान करने वाले बने रहें। माता पृथ्वी, हमें सुप्रतिष्ठित पद पर स्थिर बनाओ। द्युलोक के सहयोग के साथ ही, हे ! सुबुद्धि वाली पृथ्वी, तुम मुझे श्री और भूति से सम्पन्न बनाओ।

इसी प्रकार अथर्ववेद में काल—समय का मानवीकरण भी उत्तम व्यंजनाओं के साथ किया गया है और इस वेद की शैली सामान्यतः गीत-काव्य की शैली ही है तथा साधारणतः विषय का सम्बोधन करते हुए उनके प्रति अपने हृदयोद्गार प्रकट किए गए हैं। इस प्रकार अंत में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं "अथर्ववेद में लौकिकता, लोक वाङ्मयता, लोक-विश्वास के साथ-साथ—ऐसे विचार रत्न भी प्रकीर्ण और पनप रहे मिलते हैं। यह सचाई भी इसी ओर इंगित करती प्रतीत होती है कि वैदिक युग की उस प्राचीन काव्यधारा का रस दोनों संहिताओं (ऋग्वेद और अथर्ववेद) के एक साथ अध्ययन से ही स्पष्ट हो सकता है—अनुभाव्य बन सकता है।"

प्रश्न (७) ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमुख सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए काल-क्रमानुसार प्रमुख ब्राह्मणों के रचनाक्रम और वर्ण्य विषय पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—मैक्समूलर ने एक अवसर पर ब्राह्मण ग्रन्थों का मूल्यांकन करते हुए यही कहा है, "साहित्यिक दृष्टि से ब्राह्मणों का भले ही महत्व हो तो हो, सामान्य पाठक के लिए उनका महत्व कुछ बहुत नहीं। ब्राह्मणों में अधिकांश थोथी बकवास है, लेकिन इस बकवास को धर्म का नाम नहीं दिया जा सकता। जिस व्यक्ति को भारतीय मनोविकास के विकास में ब्राह्मणों का स्थान क्या है—इसका कुछ पूर्व ज्ञान न हो-वह इनके दस पृष्ठ पढ़ कर ही ऊब जाएगा।"

'जैसे मनुष्य अपने घरों में रहते हैं और गौएँ जैसे जौ का खेत चरती हैं, वैसे ही हे सोम, हमारे हृदय में रम जाओ, उसे अपना निवास स्थान-बना लो।'

इस प्रकार ऋग्वेद में धार्मिकता की ही प्रधानता दीख पड़ती है, पर उसके लगभग ३० सूक्त देवता-विषयक न होकर लौकिक विषयों से सम्बन्धित हैं और एक सूक्त में वर्षा के आगमन पर टर-टर्र करने वाले मेंढकों की तुलना वेद-पाठी ब्राह्मणों से की गई है तथा सूक्त विवाह विषयक भी है। इसी प्रकार एक सूक्त में जुआरी का करुण विलाप है और पाँच सूक्त मृत्यु के संबन्ध में हैं। ऋग्वेद में लगभग दान स्तुतियों के भी ४० सूक्त संगृहीत्र हैं और युद्ध सम्बन्धी चर्चा भी उसमें की गई है तथा कुछ सूक्तों में दार्शनिक अनुसंधानों का आकलन भी है जिनमें से अति प्रसिद्ध पुरुष सूक्त में विश्वात्मक पुरुष से चराचर की सृष्टि होने का वर्णन किया गया है तथा नासदीय सूक्त की सृष्टि की रहस्यात्मक प्रक्रिया का विवेचन है।

इससे यह स्पष्ट है कि ऋग्वेद के वर्ण्य विषय की परिधि सुविस्तृत थी और ऋग्वेद का अध्ययन करने से प्राचीन आर्यों की भौगोलिक, कौटुम्बिक, सामाजिक, धार्मिक व राजनीतिक स्थिति पर भी प्रचुर प्रकाश पड़ता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि उस समय आर्यों का प्रसार सम्पूर्ण भारत में नहीं हुआ था और वह मुख्यत: वर्तमान पंजाब प्रदेश में ही बसे हुए थे तथा पर्व की ओर बढ़ते समय उन्होंने कृष्ण वर्ण के दस्युओं अर्थात् आदिवासियों से जूझना भी पड़ा था। ऋग्वेद में ऐसे यज्ञों का उल्लेख भी हुआ है पर उसके अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि युद्धात्मक वातावरण चिरकालीन न रहता था क्योंकि और आर्येतर संस्कृतियों से परस्पर सम्मिलन सा हो जाता था। ऋग्वेद के केवल एक मंत्र में ही चारों वर्णों का उल्लेख है पर यह मंत्र प्रक्षिप्त माना जाता है अत: ऋग्वेद काल में वर्ण-व्यवस्था होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं। उस समय खान-पान की भी कोई रोक-टोक न थी तथा आर्यों को उस समय परलोक की चिन्ता उतनी न थी जितनी कि उनके वंशजों में १००० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक पाई जाती है। ऋग्वेद में पुनर्जन्म के भी संकेत नहीं मिलते और उस समय आर्यों की दृष्टि मुख्यत: वर्तमान जीवन की ओर ही रहती थी तथा उनका मुख्य व्यवसाय पशुपालन ही था। उस समय कृषि के व्यवसाय में पूर्णतः उन्नति न हुई थी और धान व जौ की खेती ही विशेष रूप से होती थी तथा रथकार, बढ़ई, चमार, सुनार, शिल्पकार व नाविक आदि व्यवसायियों का उल्लेख भी ऋग्वेद में मिलता है।

निस्संदेह ऋग्वेद में पर्याप्त साहित्य सौंदर्य भी है और एक विचारक के कथनानुसार, "उसकी भाषा लौकिक संस्कृत की अपेक्षा अधिक नैसर्गिक, सरल एवं प्रवाहपूर्ण

है। वैदिक ऋषियों का छन्द कौशल एवं भाषा पर अधिकार दर्शनीय है। क्या निराडम्बर और क्या अलंकारिक दोनों प्रकार के वर्णनों में उन्होंने कमनीय काव्य-कला का प्रदर्शन किया है। अवसर के अनुरूप उन्होंने कहीं सौंदर्य भावना का आधिक्य दिखलाया है तो कहीं तेजस्विता का प्राचुर्य; कहीं स्वाभावोक्ति का आश्रय लिया है तो कहीं हृदयगत कोमल भावों की अभिव्यक्ति की।" विद्वानों ने तो ऋग्वेद की उषा विषयक ऋचाओं में गीत काव्य का प्रथम उद्गम माना है और कहीं-कहीं विशुद्ध प्रकृति वर्णन भी दीख पड़ता है तथा उसके कुछ सूक्तों में देवताओं और मानवों के चरित गाथा सम्बन्धी संक्षिप्त आख्यान मिलते हैं। विचारक इन सूक्तों को परवर्ती युगीन आख्यान एवं महाकाव्य का पूर्व रूप भी कहते हैं और इसी प्रकार कुछ संवाद सूक्तों में कथोपकथन की विशिष्टता होने के कारण वह परवर्ती युगीन रूपक साहित्य के पूर्व रूप प्रतीत होते हैं। साथ ही ऋग्वेद की काव्य शैली भी सरल व प्रभावोत्पादक है पर ऋग्वेद का अर्थ समझने के लिए व्यंजनावृत्ति का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है तथा सम्पूर्ण ऋग्वेद में पन्द्रह प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है जिनमें से त्रिष्टुप्, गायत्री व जगती छन्दों का प्रयोग अधिक दीख पड़ता है।

प्रश्न (८) यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं और उनके वर्ण्यविषय का विस्तृत विवेचन कीजिए।

उत्तर—विचारकों का कहना है कि यज्ञ की आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर महर्षि वेद व्यास ने ऋक् संहिता, यजुः संहिता, साम एवं अथर्व संहिता नामक चार संहिताओं का संकलन किया था। "यज्ञ के लिये चार ऋत्विजों की आवश्यकता होती है—(१) होता (२) अध्वर्यु, (३) उद्गाता, (४) ब्रह्मा। 'होता' शब्द का अर्थ है पुकारने वाला।' होता' यज्ञ के अवसर पर विशिष्ट देवता के प्रशंसात्मक मन्त्रों का उच्चारण कर उस देवता का आह्वान करता है। उसके लिए आवश्यक मन्त्रों का संकलन जिस संहिता में किया गया है उसका ऋक् संहिता या ऋग्वेद है। 'अध्वर्यु' का काम यज्ञों का विधिवत् सम्पादन है। उसके लिए आवश्यक मन्त्रों का समुदाय यजुर्वेद कहलाता है। 'उद्गाता' शब्द का अर्थ है। उच्च स्वर से गाने वाला। उसका कार्य ऋचाओं के ऊपर स्वर लगाकर उन्हें मधुर स्वर में गाना होता है। इस कार्य के लिए सामवेद का संकलन किया गया। 'ब्रह्मा' नामक ऋत्विज् का काम यज्ञ का पूर्ण रूप में निरीक्षण करना है जिससे अनुष्ठान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो। 'ब्रह्मा' को समग्र वेदों का ज्ञान होना चाहिए पर उसका विशिष्ट वेद अथर्ववेद है।" इस प्रकार यजुर्वेद का सम्बन्ध यज्ञानुष्ठानों से है और उसमें संकलित मन्त्रों का विषय यज्ञ विधियों का सम्पादन करना है तथा किस यज्ञ में किस कांड के मन्त्रों का व्यवहार किया जाना चाहिए; इसकी विधियाँ यजुर्वेद में दी गयी हैं अतः यह वेद कर्मकांड प्रधान है।

यद्यपि व्याकरणकार पतंजलि का कहना है 'यजुर्वेद की एक सौ एक शाखाएँ मिलती हैं' पर अब यह सब उपलब्ध नहीं होती हैं तथा श्री वाचस्पति गैरोला के शब्दों में,"यजुर्वेद के दो भाग हैं। कृष्ण और शुक्ल छन्दोबद्ध मन्त्र और गद्यात्मक विनियोगों के सम्मिश्रण के कारण पहिले भाग का नाम कृष्ण और छन्दोबद्ध मन्त्रों तथा विनियोगों के अभाव में दूसरे भाग का नाम शुक्ल पड़ा। शुक्ल यजुर्वेद के सम्बन्ध में ऐसा भी कहा जाता है कि सूर्य के द्वारा याज्ञवल्क्य ऋषि को दिन में ज्ञान प्राप्त होने के कारण दूसरे भाग का नाम शुक्ल यजुर्वेद पड़ा है।

यजुर्वेद के उक्त दोनों विभागों की लगभग सौ शाखाएँ थीं जिनमें आजकल केवल पांच शाखाएँ ही उपलब्ध हैं। शाखाएँ, संहिताओं को कहते हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तीन शाखाएँ या संहिताएँ हैं तैत्तिरीय, मैत्रायणी और कठ। शाखा के अन्तर्गत कपिष्ठल कठ का भी समावेश है। शुक्ल यजुर्वेद की दो संहिताएँ हैं काव्य और वाजसनेय। काण्व माध्यंदिन, जाबाल, वुधेय, शाकेय, तापनीय, कापील, पौडवहा आवर्त्तिक परमावर्त्तिक, पाराशरीय, वैतेय, बौधेय, औधेय और गालव। इन १५ शाखाओं को वाजसनेय नाम से अभिहित किया जाता है। 'चरण व्यूह' के उल्लेखानुसार जिसमें १६०० मन्त्र हैं 'द्वे सहस्रे शतंन्यूनमंजा वाजसनेय के।' याज्ञवल्य के १५ शिष्यों द्वारा इन शाखाओं का आविर्भाव हुआ। वाजसेनी-पुत्र याज्ञवल्क्य द्वारा दृष्ट होने के कारण शुक्ल यजुओं को इस संहिता का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा। वाजी (घोड़े) का रूप धारण कर जो उपदेश याज्ञवल्क्य को उपलब्ध हुआ, उसी का नाम 'वाजसनेय संहिता' पड़ा, एक ऐसी भी श्रुति है। संहिता के रूप में प्राप्त ज्ञान का उपदेश याज्ञवल्क्य ने जाबाल आदि पन्द्रह शिष्यों को दिया। इन शिष्यों में माध्यन्दिन प्रमुख थे। वाजसनेय संहिता की माध्यन्दिन शाखा ही सम्प्रति प्रचलित है। इस प्रकार यजुर्वेद की तैत्तिरीय और वाजसनेय, इन दोनों शाखाओं का निर्माण हुआ। 'वाजसनेय संहिता' में राष्ट्र की उन्नति और उसकी सुख शान्ति के लिए बड़ी सुन्दर भावनाएँ अभिव्यक्त है, 'हे पितृ-देवो नमस्कार! तुम्हारी कृपा से बसन्त ऋतु राष्ट्र को सुखी करे। हे पितरो, नमस्कार! तुम्हारी कृपा से देश में ग्रीष्म ऋतु अनुकूल हो, आदि।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय संहिता से सम्बन्धित विष्णुपुराण में एक कथा है कि वैशम्पायन ने एक बार क्रुद्ध होकर अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से कहा 'मैंने तुम्हें जो वेद पढ़ाया है उसे वापिस करो।' शिष्य ने उसे अधीत वेद विद्या को वमन कर दिया। गुरु की आज्ञा से दूसरे शिष्यों ने तित्तिर बन कर उस वमन की हुई विद्या को चुग लिया। इसीलिए इसका नाम तैत्तिरीय संहिता पड़ा। कृष्ण यजुर्वेद की संहिताएँ गद्य और पद्य दोनों में हैं। शुक्ल यजुर्वेद की संहिता का उत्तर भारत से दक्षिण भारत तक सर्वाधिक प्रचार है। तैत्तिरीय संहिता पर सायणाचार्य का प्रामाणिक भाष्य है। बालकृष्ण दीक्षित और भास्कर मिश्र ने भी उस पर लघु भाष्य लिखे।

कृष्ण यजुर्वेद की ८६ शाखाओं का उल्लेख हुआ है, किन्तु वाह्याभ्यन्तर प्रमाणों के आधार पर उनकी संख्या केवल ४१ तक ही उपलब्ध हुई है। कृष्ण यजुर्वेद की मंत्र संख्या १८००० है। कृष्ण यजुर्वेद में सात कांड हैं और प्रत्येक कांड कई प्रपाठकों में विभक्त है। कृष्ण यजुर्वेद की शाखाओं में अकेले चरक सम्प्रदाय की बारह उपशाखाएँ थीं, जिनके नाम थे : चरक, आह्वरक, कठ, प्राच्य, कठ, कापिष्ट-कठ, आष्ठल-कठ', चारायणीय, वारायणीय, वार्तान्तरेव, श्वेताश्वतर, औपमन्यु और मैत्रायणी। इनमें भी मैत्रायणी की सात शाखाएँ हुईं, मानव, दुन्दुभ, अत्रेय, बाराह, हारिदवेय, श्याम और शामानयीय। कृष्ण यजुर्वेद का एक खंडकीय सम्प्रदाय भी था।"

वस्तुतः यजुर्वेद की समस्त शाखाओं में वाजसनेयि संहिता ही प्रसिद्ध है और इसके अध्ययन से हमें यजुर्वेद के वर्ण्य विषय का सम्यक् ज्ञान हो जाता है। विंटरनिट्ज ने इसका परिचय देते हुए कहा भी है, "वाजसनेयि संहिता में ४० अध्याय है जिनमें अन्तिम १५ (शायद २२) अध्याय मूल में पीछे से जोड़ दिये गये प्रतीत होते

हैं। यजुर्वेद के पहले २५ अध्यायों में महासत्रों के प्रसंग में पढ़ी जाने वाली प्रार्थनाएँ संग्रहीत हैं। प्रथम २ अध्यायों में दर्श और पूर्णमास (चन्द्र सम्बन्धी) दो सत्रों का विधान है जिसमें पिंड नितृ यज्ञ परक आहुतियाँ देने का जिक्र भी है। तीसरे अध्याय में दैनिक अग्निहोत्र के प्रार्थना मन्त्र, अग्न्याधान, प्रातः तथा सायं पढ़े जाने वाले विशिष्ट अग्नेिय मन्त्रों का एवं चातुर्मास्य सत्र का उल्लेख है। सोम यज्ञ सामान्य रूप मे, तथा सोम सम्बद्ध पशु यज्ञ के प्रकरण में (चौथे से आठवें तक) पाँच अध्यायों का विषय है। सोम यज्ञों में कुछ यज्ञ यदि एक दिन की अवधि के हैं तो कुछ कितने ही दिनों तक फैल जाते हैं। एक दिवस यज्ञों में हम क्षत्रियों तथा राजन्यों की रथेष्टियों से सम्बद्ध वाजपेय सत्र का निर्देश पाते हैं जिसमें सोम-पान की भी अनुमति थी (यद्यपि सोम-पान का विधान अन्यत्र ब्राह्मणों के लिए ही हुआ है)। राजसूय का सम्बन्ध राजाओं से ही हुआ करता था, परन्तु इस यज्ञ के साथ संलग्न दो-एक प्रथाएँ और भी थीं जैसे—यज्ञ यात्रा का नाट्य और तरह-तरह के जादू टोने। इन दोनों सत्रों से सम्बद्ध मन्त्रों का विधान नवम् तथा दशम् अध्याय में मिलता है। इसके अनन्तर ११वें से १८वें अध्याय तक अग्निचयन सम्बन्धी विविध मन्त्रांशों का सम्पादन हुआ है, क्योंकि—यह अग्नि-चयन सारा साल, निरन्तर, चलता रहता था और अग्नि चयन के प्रत्येक अङ्ग की, प्रत्येक रहस्य की व्यवस्था ब्राह्मणों में भी काफी खोलकर की गई है। यज्ञवेदि ही अग्निदेव का पार्थिक प्रतिरूप है और सो, पुजारी की ध्यान-धारणा का एकमात्र विषय है। यज्ञवेद को १०८०० ईंटों से, एक पंख फैलाये विशाल पक्षी के रूप में बनाने का आदेश है। वेदि के निम्नतर आधार में पाँच यज्ञ-पशुओं को गाड़ा जाना चाहिए और इन पशुओं के शरीरों को पवित्र जल में फेंक कर ही ईंटें और यज्ञ पात्र बनाने चाहिए। इन ईंटों में प्रायः प्रत्येक का पृथक नाम है पृथक् निर्माण प्रकार है। उसी प्रकार, यज्ञ के पवित्र पात्र को पकाने का भी एक विशिष्ट ढङ्ग विहित है। छोटी-छोटी प्रक्रियाओं का अपना-अपना अर्थ है। अपना-अपना रहस्य है जो बिना विशिष्ट मन्त्रों-मन्त्रांशों के शक्ति-हीन हो जाता है। १९ से २१ के तीन अध्याओं में सौत्रामणि सत्र का वर्णन हुआ है जिसमें सोम के स्थान पर सुरा का प्रयोग विहित है; और इस यज्ञ की आहुतियों के देवता हैं—अश्विनीकुमार, सरस्वती और इन्द्र। इस यज्ञ का विशेष प्रसंग कोई भी ऐसा व्यक्ति हो सकता है जिसने सोमपान में इतनी अति कर दी हो कि अब सोम का उस पर कोई प्रभाव ही न पड़ता हो; मूल अभिप्राय इस यज्ञ का शायद यही था; किन्तु इसके अतिरिक्त—ब्राह्मण किसी कार्य में सफलता के लिए, निर्वासित राजा खोए राज्य को पुनः प्राप्त करने के लिए क्षत्रिय विजय के उद्देश्य से, तो वैश्य धन कमाने की गर्ज से इसका उपयोग कर सकता है। यज्ञ के कितने ही मन्त्र इन्द्र की उस पुरानी गाथा की ओर संकेत करते प्रतीत होते हैं जिसे सोमपान में मस्त, और होश हवास खो बैठे देवराज का उपचार कभी करते हैं, अश्विनी कुमारों ने और सरस्वती ने किया था, और अन्त में २२ से २५ तक के चार अध्यायों मे प्राचीन चक्रवर्तियों के प्रिय यज्ञ अश्वमेघ का वर्णन है। पुरानी गाथाओं में तथा महाकाव्यों में हम कितने ही राजाओं का उल्लेख पाते हैं कि वे अश्वमेघ करके चक्रवर्ती बने, लोक लोकान्तर के स्वामी बने। अश्वमेघ को वैदिक यज्ञों का शीर्ष स्थानीय समझा जाता है और इसी के साथ प्राचीन वाजसनेयि संहिता समाप्त होती है।"

जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं यजुर्वेद के अन्तिम 15 अध्याय मूल यजुर्वेद का भाग नहीं है और स्वयं भारतीय ही २६ से ३५ अध्याय तक खिल अर्थात् परिशिष्ट

मानते हैं तथा यह भी प्रसिद्ध है कि २६ वें से २९ वें अध्याय तक का ग्रन्थांश पिछले अध्यायों की परिपूर्ति मात्र है। इसी प्रकार ३० वाँ अध्याय तो पुरुषमेघ में आहुति रूप पड़ने वाले विविध पशुओं की परिगणना के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं हैं तथा पुरुष सूक्त नामक ३१वें अध्याय में प्रायः ऋग्वेद के ९. ९० वे प्रसिद्ध शब्दों में ही पुरुषमेघ द्वारा सृष्टि की उत्पत्ति का परमोत्कर्ष बनाते हुए स्वयं (पुरुषमेघ) सूक्त को उपनिषद् का नाम दे दिया गया। यजुर्वेद का अध्याय ३२ भी विषय और विषय योजना की दृष्टि से एक उपनिषद् ही जान पड़ता है जिसमें पुरुष को, एवं ब्राह्मण को, स्रष्टा व प्रजापति की उपाधि दी गई है तथा अध्याय ३४ के प्रथम छः मन्त्रों का नाम ही शिव संकल्पोनिषद् है। वस्तुतः अध्याय ३२-३४ में सर्वश्रेष्ठ यज्ञ सर्वमेध का उल्लेख किया गया है जिसमें यजमान अपना शेष जीवन वानप्रस्थ रूप में व्यतीत करने से पूर्व, अपनी सम्पूर्ण चल-अचल सम्पत्ति अन्तिम दक्षिणा के रूप में ब्राह्मण देवता के हाथ दे जाता है। अध्याय ३५ में ऋग्वेद से संग्रहीत कुछ अन्त्येष्टि मन्त्र हैं और अध्याय ३६-३९ में प्रवर्ग्य से सम्बद्ध कुछ मन्त्र हैं जिनमें एक बड़े कड़ाहे को यज्ञ कुण्ड पर इतना तपाया जाता है कि वह लाल होकर सूर्य की तरह चमकने लगता है और उसे सूर्य का प्रतिरूप समझ कर उसमें दूध उबाला जाता है तथा उस दूध को आहुति रूप में अश्विनों के मुख में डाल दिया जाता है। अन्तिम चालीस अध्याय तो ईशोपनिषद् प्रायः सभी उपनिषद् संग्रहों में संकलित है। अतः उसे यजुर्वेद का अध्याय न समझकर एक पृथक् उपनिषद् ही समझना चाहिए।

इस प्रकार यजुर्वेद के प्रत्येक अध्याय का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर हमें ज्ञात हो जाता है कि यज्ञ ही उसका प्रमुख विषय है और यज्ञ की विविध विधियों व उनके तत्वों का विवेचन करने के लिए ही उसकी रचना हुई है अतः उसका मूल उद्देश्य पौरोहित्य शिक्षा ही समझना चाहिए। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि यजुर्वेद के बहुत से मन्त्र ऋग्वेद से लिये गये हैं पर ऋग्वेद का पूरा-पूरा मन्त्र कदाचित् ही कहीं यजुर्वेद में मिले और अधिकांशतः उन मन्त्रों के चरण-मात्र ही दीख पड़ते हैं जो कि ऋग्वेद के प्रसङ्गों से ग्रहण कर यज्ञादि संस्कारों के अनुकूल बनाकर संकलित कर दिये गये हैं। इतना होते हुए भी यजुर्वेद का अपना निजी महत्व है और 'गायत्री' मन्त्र तो उसमें ही विद्यमान हैं तथा वह गायत्री मन्त्र निर्विवाद रूप से सर्वत्र समादृत होता रहा है। साथ ही यजुर्वेद में सौ वर्ष की आयु का उत्कृष्ट आदर्श भी व्यक्त किया गया है—

पश्येम शरदः शतं जीवेम् शरदः शतं श्रृणुयाम् शरदः शतं प्रब्रजाम शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्।

अर्थात् हम सौ वर्ष तक जीते रहें, हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ सौ वर्ष तक काम करती रहें। हम सौ वर्ष तक ज्ञान संचय करते रहें, हम सौ वर्ष तक अदीन सम्पन्न बने रहें।

इसी प्रकार एक अन्य मन्त्र में शिव संकल्प की अभिलाषा व्यक्त करते हुए कहा गया कि, "जाग्रतावस्था में जो हमारे सभी इन्द्रिय व्यापारों की उपेक्षा करके एक ही उड़ान में सारे चराचर को माप लिया करता है; सुप्तावस्था में भी जो हमारी सर्वाङ्गीण जड़ता के प्रतिकूल सारे ब्रह्मांड में अबाध विचरण किया करता है, जिसके

वेग के सम्मुख सृष्टि के समस्त वेग पराजित हो जाते हैं, जो सब ज्योतियों की ज्योति है, सारे चैतन्यों का स्रोत है—ऐसा हमारा मन सदैव मांगलिक संकल्पों को धारण करे।" देखिये—

यज्जाग्रतो दूरमुदैति देव
तद्दु सुप्तस्य तथैवैति
दूरङ्गमज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसंकल्पमस्तु

सम्भवतः उक्त विशिष्टताओं के कारण ही विचारक यजुर्वेद को उत्तरकालीन ब्राह्मणों और उपनिषदों की आधारशिला मानते हैं तथा उसका भाग अत्यन्त क्लिष्ट व अस्पष्ट होते हुए भी वह बिना यजुर्वेद को समझे ब्राह्मण व उपनिषदों का समझ पाना असम्भव ही समझते हैं।

प्रश्न (९) अथर्ववेद के रचना-काल वर्ण्य विषय और रचना-क्रम का संक्षिप्त पर सम्यक् निरूपण कीजिए।

उत्तर—अथर्ववेद की गणना पहले वेदों में नहीं की जाती थी और वेद को 'त्रयी' कहा जाता था। चौथा वेद अथर्ववेद, अन्य तीनों वेदों—ऋग्वेद, यजुर्वेद व सामवेद—से न केवल अर्वाचीन है अपितु विषयवस्तु आदि की दृष्टि से भी वह उनसे बहुत कुछ भिन्न है। विंटरनिट्ज के शब्दों में, "अथर्ववेद का अर्थ है, 'अथक वाणी', जादू टोने। स्वयं अथर्वन् का मौलिक अर्थ था—अग्नि-उद्बोधन करने वाला पुरोहित, जिससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का प्रचलन बड़े पुराने समय से, सम्भवतः इण्डो-ईरानियन युग से होता आ रहा है। अवेस्ता के अग्निपूजक भारतीय साहित्य के थे अथवा ही प्रतीत होते हैं। अग्नि पूजा का प्राचीन भारतीयों के दैनिक जीवनों में भी वही महत्व था जो कि उधर, पारसियों में था; इन अग्नि-पूजकों को उत्तरी एशिया में 'शमन' कहते थे और अमेरिकन इण्डियन्स में इनकी प्रतिष्ठा कविराज या 'जादू के पुरोहित' करके थी। मीडिया में इन अथर्वाओं के लिए जो शब्द (भागी) इस्तेमाल होता था उससे भी यही प्रतीत होता है कि जादूगर और पुरोहित—दोनों का ही भाव 'अथर्वन्' की व्युत्पत्ति में समाविष्ट है। अर्थात् अथर्वाणि का अर्थ, मूल में, अथर्वा के (जादू के पुरोहित के) मन्त्र-तन्त्र ही था।"

कहा जाता है कि अथर्वा नामक ऋषि के नाम से अथर्ववेद का नामकरण हुआ है और श्री वाचस्पति गैरोला के कथनानुसार, "महर्षि अथर्वा से सम्बन्धित गोपथ ब्राह्मण में एक कथा वर्णित है, जिसके अनुशीलन से विदित होता है कि प्राचीनकाल में स्वयं ब्रह्म ने सृष्टि की उत्पत्ति के लिए कठिन तप किया। इस घोर तप के प्रभाव से अन्त में उनके तप.पूत शरीर से तेजस्वी रूप दो जल धाराएँ उद्भूत हुईं, जिनमें एक धारा से अथर्वन और दूसरी से अंगिरा की उत्पत्ति हुई। इन्हीं से अथर्वांगिरसों की उत्पत्ति हुई। इसी भृगु अथवा अथर्वन् और अंगिरा के वंशजों को जो मन्त्र दृष्ट हुए, उन्हीं का नामकरण अथर्ववेद, भृग्वंगिरसवेद या कथर्वांगिरसवेद हुआ।

विषय की दृष्टि से अथर्ववेद को इसीलिए अथर्वन् और अंगिरा इन दो भागों में विभक्त किया जाता है। जितने भी मन्त्र-तन्त्र, टोना-टोटका एवं औषधियों के प्रतिपादक मन्त्र हैं, उन्हें अथर्वन् भाग के अन्तर्गत और मारण-उच्चाटन विषयक मन्त्रों को अंगिरस भाग के अन्तर्गत माना जाता है।

मन्त्र, औषधि और उच्चाटन-विषयक मन्त्रों के अतिरिक्त अथर्ववेद की कुछ ऋचाएँ यज्ञ सम्बन्धी और कुछ ब्रह्मविद्या विषयक भी हैं। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक मन्त्र होने के कारण अथर्ववेद के एक 'ब्रह्मवेद' भी है। इस नामकरण का एक आधार यह भी है कि अथर्ववेद के शाप, वशीकरण, मोहन, मारण, उच्चाटन, आशीर्वाद, स्तुति और प्रार्थना विषयक जितने भी समग्र मन्त्र हैं उन्हें 'ब्रह्माणि' भी कहा जाता है कि इसीलिए उसका ब्रह्मदेव अभिधान हुआ। एक तीसरा कारण यह भी बताया जाता है कि अथर्ववेद का नाम ब्रह्मदेव इसलिए पड़ा, क्योंकि उसमें ब्रह्म ज्ञान और पारलौकिक मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है।

अथर्ववेद में बीस कांड हैं। इस आधार पर परम्परागत श्रुति इस सम्बन्ध में यह भी है कि महर्षि भृगु के एक शिष्य अथर्वा हुए और उनके बीस पुत्रों द्वारा परम्परागत ज्ञान अथर्ववेद के बीस कांडों में निर्मित हुआ।

अथर्ववेद की नौ शाखाएँ थीं : पैप्लाद, शौनक, दामोद, तोत्तायन, जामल, ब्रह्म पालास, कुनरबा, देववर्शी और चारण विद्या। इसमें से सम्प्रति शौनक और पिप्पलाद शाखाओं की दो संहिताएँ ही उपलब्ध हैं।" साथ ही इन दोनों संहिताओं में शौनक पर्याप्त सुरक्षित मिलती है और बीस कांडों या अध्यायों में विभक्त हैं तथा उसमें ७३१ सूक्त व छः हजार मन्त्र हैं पर बीसवाँ अध्याय बहुत पीछे जोड़ा गया और कहा जाता है कि कभी उन्नीसवाँ अध्याय भी इस संहिता का अंग न था, अतः अथर्ववेद के अठारह कांड ही प्रमाणित जान पड़ते हैं लेकिन इसमें से काफी सामग्री ऋग्वेद में पहले से विद्यमान है।

जैसा कि हम अभी-अभी कह चुके हैं अथर्ववेद का एक अन्य नाम अथर्वांगिरस है और विंटरनिट्ज ने इसे उसका प्राचीनतम नाम माना है तथा इसके 'अंगिरस्, शब्द का अर्थ भी 'जादू टोने' ही है और "प्रतीत ऐसा होता है कि अथर्वाणि और अंगिरस् में अभीष्ट भावना आशीर्वाद और अभिशाप—जादू से दो भिन्न तथा विपरीत पार्श्वों की थी, क्योंकि अथर्वाणि में जहाँ बीमारी आदि दूर करने के लिए गुप्त शक्ति है तो अंगिरस् में शत्रुओं, प्रतिस्पर्द्धियों के विरुद्ध शाप देने की क्षमता है और यही दोनों अंग अथर्ववेद की प्रायः समस्त विषयवस्तु हैं। अथर्ववेद इस प्रकार अथर्वांगिरस का संक्षेप प्रतीत होता है।"

इससे यह स्पष्ट है कि अथर्ववेद में यज्ञ सम्बन्धी सामग्री बहुत कम है और मारण, मोहन, उच्चाटन आदि अभिचार क्रियाओं व जादू-टोने का ही विशेष वर्णन है तथा जब हम उसके बहिरंग पर विचार करते हैं तो यही देखते हैं कि उसके प्रथम सात अध्यायों में छोटे-छोटे सूक्त संकलित हैं, यथा प्रथम अध्याय में ४ मन्त्रों के सूक्त, द्वितीय में ५ के तृतीय में ६ के और चतुर्थ में ७ के। इसी प्रकार ५वें अध्याय में ८ लेकर १८ मन्त्रों के सूत्र मिलते हैं, छठे अध्याय में तीन मन्त्रों वाले १४२ सूक्त हैं, सप्तम अध्याय में ११८ सूक्त जो प्रायः दो मन्त्रों वाले ही हैं और अध्याय ८–१४ तथा १७–१८ में लम्बे-लम्बे सूक्त हैं जिसमें २१ मन्त्रों का एक सूक्त अध्याय के आरम्भ में है पर अध्याय १५ व १६ इस शृंखला को भंग कर देते हैं क्योंकि इनकी भाषा व शैली सर्वथा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा व शैली है और गद्यात्मक भी है। अध्याय १९

और २० तो परवर्ती तथा बाद में जोड़ गए हैं और बीसवें अध्याय के तो सभी मन्त्र ऋग्वेद में विद्यमान हैं।

अथर्ववेद का काव्यात्मक महत्व भी है और उसमें भले ही ऐसे सूक्तों की संख्या गिनी-चुनी हो जिनमें काव्य सौष्ठव उच्चकोटि का हो पर इन थोड़े से अंशों में भी उच्चकोटि का काव्य सौन्दर्य झलक उठता है। डॉ० रामजी उपाध्याय के शब्दों में, "अथर्ववेद की भाषा बलशालिनी है, इसमें स्पष्टता है और विचारों को व्यक्त करने की क्षमता है। संभव है अथर्ववेद के सूक्तों के साथ ही कुछ उच्चकोटि की काव्य प्रतिभा के परिचायक पद्यों की रचना भी उस युग में हुई हो, जो आजकल अप्राप्त हैं। ऐसे पद्यों की संभावना अथर्ववेद के छुटपुट वाक्यांशों से मिलती है। जो कवि यह लिख सकता था—अस्थुवृक्षा ऊर्ध्वस्वप्ना: अर्थात् वृक्ष खड़े-खड़े ही सोते हैं—वह कवि उच्चकोटि की काव्य रचना में समर्थ हो सकता था। कहीं-कहीं उच्चकोटि की उपमाएँ तत्कालीन कवियों की काव्य प्रतिभा का संकेत करती हैं। एक कवि ने रक्त की धमनियों की लाल वस्त्र धारण करने वाली रमणियों से उपमा दी है। कवि प्रतिभा से ही बादलों में गरजने वाले वृषभ की उत्प्रेक्षा हो सकती थी। युद्ध सम्बन्धी कुछ सूक्तों में अथर्ववेद के उच्चतम काव्य का निदर्शन मिलता है।"

अथर्ववैदिक काव्य का विशद स्वरूप पृथ्वी सूक्त में वर्तमान है। इस सूक्त की नीचे लिखी चयनिका से इसके काव्यगत उत्कर्ष की कल्पना की जा सकती है—"पृथ्वी विश्वम्भरा वसुधानी, प्रतिष्ठा, हिरण्यवक्षा, जगत् को आश्रय देने वाली और वैश्वानर का भरण-पोषण करने वाली है। हे पृथ्वी, तुम्हारे हिमवान् पर्वत और तुम्हारे वन हमारे लिए मनोरम हों। पृथ्वी पर मैं सर्वथा स्वस्थ होकर विराजमान हूँ। यह भूरी, कृष्ण, रोहिणी, विश्वरूपा एवं ध्रुवा है और इन्द्र के द्वारा रक्षित है। अग्नि का परिधान धारण करने वाली पृथ्वी मुझे त्विषीमान और संशित बनायेगी। हे पृथ्वी, तुम्हारी जो सुगन्ध पौधों में और कमल में है, उससे मुझे सुरभित करो। उठते हुए या बैठते हुए, चलते हुए या खड़े हुए, हम कहीं लड़खड़ाकर गिर न जायँ। अपने साथी सूर्य के साथ जब तक तुम्हें देखता हूँ, तब तक मेरी दृष्टि दुर्बल न हो चाहे कितने ही वर्ष क्यों न बीतते जायँ। हम लोग, जो कुछ (धातु आदि) तुम्हारे गर्भ से खोद निकालते हैं, वह वहाँ शीघ्र ही पुनः उत्पन्न हो जाय। हम तुम्हारे मर्म-पराभव करते हैं। उनकी सर्वत्र अप्रतिहत गति है। भक्तों की कामनाओं के वे पूरक हैं। उनके विधानों का विरोध नहीं किया जा सकता।

वैदिक आर्य अनेक देवों के पूजक होते हुए भी यह भली-भाँति जानते थे कि समस्त देव एक ही सर्वव्यापी परमेश्वर के विविध रूप हैं।

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः (१।१६६।४६)

'परमात्मा एक है तो भी विद्वान् उन्हें अग्नि, यम मातरिश्वा आदि अनेक नामों से पुकारते हैं।'

वैदिक देव-स्तुतियों में सकाम उपासना अधिक दृष्टिगोचर होती है; उनमें देवताओं से धन-धान्य, सुख-शान्ति और पुत्र-पौत्रों की याचना की गई है। हिंस्र पशुओं और चोर-लुटेरों से मणि सुवर्ण की प्राप्ति, इष्ट सिद्धि, निर्मलों बुद्धि की उपलब्धि अपराधों के लिए क्षमा आदि अनेक सूक्तों के विषय हैं। कुछ उदाहरण देखिए—

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो उभयं करत्
जेता शत्रून् विचर्षिणः। २।४१।१२

हे शत्रुओं के विजेता इन्द्रदेव, हमें समस्त दिशा विदिशाओं में निर्भय बना दो।

यच्चिद्धि ते विशो यथा
प्र देव वरुण व्रतम्।
मिनीमसि द्यवि द्यवि॥ १।२५।१

'हे वरुण, हम अविवेकीजन दिन-रात तुम्हारी आज्ञाओं का भंग और व्रत पालन में प्रमाद करते हैं, हमें अपनी संतति समझकर क्षमा कर दो और हमारा उद्धार करो।

कहीं-कहीं विशुद्ध भक्ति की घटा दिखाई दे जाती है----

सोम रारन्धि नो हृदि
गावो न यवसेष्वा
मर्त्यं इव स्व ओक्ये १।९१।१३

इस प्रकार मैक्समूलर ने ब्राह्मण ग्रंथों का कुछ भी महत्व स्वीकार नहीं किया है और अधिकांश विचारक काल-क्रम की दृष्टि से और विषय-वस्तु की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थों को वेदों के पश्चात् स्थान देने के पक्ष में हैं तथा एक विद्वान् ने कहा भी है, "हिन्दू जाति की धार्मिक व्यवस्था के सम्बन्ध में जो सहस्त्रा नीति, नियम और विधि व्यवस्थाएँ हैं उनका विस्तार से निरूपण करने वाले आदि ग्रन्थ ब्राह्मण हैं, इस दृष्टि से ब्राह्मण ग्रन्थ हिन्दू धर्म के आदि स्रोत और धर्म के अति प्राचीन व्याख्या न होने के कारण मानव जाति के पहले धर्म ग्रन्थ भी हैं। ब्राह्मण ग्रंथों का वेदों का समकक्षों और समकलीन कहा गया है।"

सामान्यत: 'ब्राह्मण' का अर्थ याज्ञिक व्याख्या है और ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रधान विषय यज्ञों का प्रतिपादन व उनकी विधियों की व्याख्या करना है तथा शतपथ ब्राह्मण में कहा भी गया है। 'यज्ञों वै श्रेष्ठतम कर्म।' इसी प्रकार 'शतपथ ब्राह्मण' में यज्ञ को 'प्रजापति' और प्रजापति को ब्रह्म कहा गया है। 'एष वै प्रत्यक्ष यज्ञो यो प्रजापति' अर्थात् यज्ञ प्रतिपादक ग्रंथ होने के कारण इनको ब्राह्मण कहा गया है। यह भी एक मौखिक परम्परा है कि यज्ञयागादियों के विधान करने वाले एक मात्र ब्राह्मण पुरोहितों के निजी ग्रंथ होने के कारण इन्हें ब्राह्मण कहा गया। साथ ही आप्टेकृत संस्कृत अँग्रेजी कोश में 'ब्राह्मण' शब्द की रचना परक (जाति विशेषपरक नहीं) अर्थ इस प्रकार दिया गया है—

"That portion of the Vedas which states rules for the employment of the hymns at the Various sacrifices, their origin and detailed explanation with sometimes lengthy illustrations in the shape of legends and stories. It is distinct from the main portion of the Vedas."

अर्थात् वेदों का वह भाग, जो विविध वैदिक यज्ञों के लिए वेद मन्त्रों के प्रयोग के नियमों, उनकी उत्पत्ति एवं विवरणपूर्ण व्याख्या का कथन करता है और जिसमें समय-समय पर सुविस्तृत दृष्टान्तों के रूप में परम्परागत कथाओं व कहानियों का समा-

वेश रहता है, ब्राह्मण कहलाता है, पर ब्राह्मण वेदों के मन्त्र वाले अंश से निश्चित रूप में पृथक् होता है।

विषय की दृष्टि से ब्राह्मण ग्रंथों के चार भाग विधि, अर्थवाद, उपनिषद् और आख्यान नामक किये जाते हैं पर कुछ विचारक ब्राह्मण साहित्य का विषय केवल विधि और अर्थवाद नामक दो भागों में ही विभाजित करते हैं। इस प्रकार, "विधि के अन्तर्गत यज्ञ की प्रक्रियाओं की रूपरेखा का विधान है। अर्थवाद के द्वारा यज्ञ की प्रक्रियाओं और प्रार्थनाओं की इस प्रकार व्याख्याएँ की गई हैं कि उनसे यज्ञ की विधियों का समर्थन हो सके। काव्यात्मक साहित्य की दृष्टि से अर्थवाद का महत्व है। अर्थवाद से तत्कालीन इतिहास, आख्यान और पुराणों की परम्परा का ज्ञान होता है। इन्हीं इतिहास और पुराणों के प्रकरण में कहीं-कहीं तत्कालीन काव्य-धारा के मनोरम स्रोत की प्रतिष्ठा मिलती है। ब्राह्मण साहित्य में इतिहास, पुराण आदि कथाओं के रूप में मिलते हैं। साधारणतः कथाएँ छोटी हैं, पर कुछ कथाएँ बडी भी हैं जिनमें शुनःशेष आख्यान सुप्रसिद्ध हैं। कथाओं की शैली कथोपकथन विशिष्ट है और प्रायः मनोरंजक है।" साथ ही ब्राह्मण ग्रन्थों के क्रमिक विकास पर विचार करते समय हमारा ध्यान इस ओर भी जाता है कि किसी समय अनेक ऐसे ग्रंथ उपलब्ध रहे होंगे क्योंकि आजकल जो ब्राह्मण ग्रंथ उपलब्ध है उनमें अनेक ऐसे ब्राह्मण ग्रंथों का उल्लेख मिलता है जो आज कहीं भी उपलब्ध नहीं हैं। इतना होते हुए भी आजकल ब्राह्मण ग्रंथों की जो प्रचुर संख्या विद्यमान है वह भी कुछ कम नहीं है और चारों वैदिक संहिताओं के अपने-अपने ब्राह्मण हैं, जिनकी रचना विविध शाखाओं के साथ-साथ हुई थी अतः हम यहाँ प्रत्येक वैदिक संहिता के ब्राह्मण ग्रंथों का संक्षेप में उल्लेख करना आवश्यक समझते हैं।

ऋग्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ—ऋग्वेद के ऐतरेय व कौषीतिकी नामक दो ब्राह्मण ग्रंथ कहे जाते हैं और उपलब्ध 'एतरेय ब्राह्मण' में ४० अध्याय हैं, जो कि आठ पंचकों में विभक्त हैं और ऐतरेय ब्राह्मण 'इतरा नामक एक शूद्रा दासी के पुत्र महीदास की रचना माना गया है पर कुछ विद्वान् उसे अनेक व्यक्तियों द्वारा निर्मित मानते हैं क्योंकि उसके अन्तिम दस अध्याय प्रारम्भिक तीस अध्यायों से भिन्न हैं। इस ब्राह्मण का रचना काल ईसा से एक हजार वर्ष के पूर्व लगभग माना जाता है पर कुछ विचारक उसका रचना-काल और भी प्राचीन मानते हैं तथा इसके मुख्य देवता तैंतीस हैं जिनमें इन्द्र को सर्वश्रेष्ठ माना गया है। इसी प्रकार ऋग्वेद का दूसरा ब्राह्मण कौषीतकी या शांखायान है जिसमें ३० अध्याय हैं और जो एक ही व्यक्ति की रचना माना गया है तथा उसमें यज्ञ की श्रेष्ठता व शास्त्रीय व्याख्या का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। संभवतः कुषीतक ऋषि के पुत्र कौषीतक के नाम पर ही इस ब्राह्मण का नामकरण किया गया है। यद्यपि यह दोनों ब्राह्मण ग्रंथ समान व परस्पर घनिष्ठ सम्बन्धी हैं पर अनेक स्थानों पर वह विचारों के प्रतिपादक भी हैं तथा ऐतरेय ब्राह्मण की अपेक्षा कौषीतकी ब्राह्मण में विषय प्रतिपादन की अपूर्व क्षमता है।

यजुर्वेद के ब्राह्मण ग्रन्थ—वस्तुतः यजुर्वेद की ,संहिता, ब्राह्मण व अनुक्रमणिका में प्रायः कोई भेद नहीं है। यजुर्वेद की दो शाखाओं—कृष्ण यजुर्वेद व शुक्ल यजुर्वेद—में से कृष्ण यजुर्वेद की मैत्रायणी व काठक संहिताओं के ब्राह्मण एक प्रकार से उनके परिशिष्ट का अंश ही हैं तथा आपस्तम्ब व आत्रेय शाखा का ब्राह्मण ग्रंथ स्वतन्त्र रूप

से प्रकाशित हुआ है जिसका नाम तैत्तिरीय ब्राह्मण है। इसके तीन भाग, २५ प्रपाठक और ३०० अनुवाक् हैं तथा इसमें पुरुषमेध, चर्तवर्ण, चतुर्विध आश्रमों की व्यवस्था व उनके कर्त्तव्यों का विस्तृत प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकार शुक्ल यजुर्वेद की माध्यान्दिन और काण्व, दोनों शाखाओं के ब्राह्मण ग्रंथों का नाम 'शतपथ' है तथा यह पूर्ण एवम् क्रमबद्ध रूप से व्यवस्थित है। संभवतः सौ अध्याय होने के कारण ही इसे 'शतपथ' अर्थात् सौ रास्तों वाला कहा गया है और इसमें १४ काण्ड हैं तथा ३३ देवताओं का भी उल्लेख किया गया है। 'शतपथ ब्राह्मण' के प्रथम पांच काण्डों और अन्तिम चौदहवें काण्ड के रचयिता महर्षि शाण्डिल्य कहे जाते हैं तथा प्रथम नौ काण्ड एक दृष्टि से वाजसेनय संहिता के प्रथम अठारह अध्यायों की टीका के रूप में हैं। प्रायः समस्त ब्राह्मण ग्रन्थों में 'शतपथ' सबसे बड़ा है और उसमें बारह हजार ऋचाएँ, अठारह हजार बसु व चार हजार समय हैं तथा एक विश्वकोश के समान संस्कृत साहित्य के भावी विकास के लिए शतपथ ब्राह्मण का बहुत बड़ा महत्व रहा है।

सामवेद के ब्राह्मण–सामवेद की कौथुमीय, जैमिनीय व राणायनीय नामक जो तीन संहिताएँ उपलब्ध हैं उनमें से पहली कौथुमीय संहिता के ब्राह्मण ग्रन्थ चालीस अध्यायों में विभाजित पाँच ब्राह्मणों के नाम हैं। पंचविश ब्राह्मण या ताड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण अद्भुत ब्राह्मण, मन्त्र ब्राह्मण व पाँचवाँ है छान्दोग्य ब्राह्मण। इसी प्रकार जैमिनीक के भी जैमिनीय ब्राह्मण व जैमिनीक उपनिषद् ब्राह्मण नामक दो ब्राह्मण हैं तथा उन्हें क्रमशः आर्षेय ब्राह्मण व छान्दोग्य ब्राह्मण भी कहा जाता है पर राणायणीय का कोई भी ब्राह्मण उपलब्ध नहीं है।

अथर्ववेद के ब्राह्मण—अथर्ववेद के ब्राह्मण ग्रंथ का नाम गोपथ ब्राह्मण है और इसमें दो काण्ड या खण्ड हैं जो ग्यारह अध्यायों में विभक्त है अर्थात् प्रथम काण्ड में पाँच और दूसरे काण्ड में छः अध्याय हैं तथा ये अध्याय प्रपाठक भी कहलाते हैं। इस ब्राह्मण को वेदान्त श्रेणी का ग्रंथ कहा जाता है, पर उसमें कुछ अंश तो शतपथ और ताड्य ब्राह्मण से उद्धृत हैं।

उक्त सभी ब्राह्मण ग्रंथों में एक ओर तो सांसारिक क्रियाकलापों का वर्णन है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक विषय का भी गम्भीर निरूपण है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि, "यज्ञ, कर्मफल, पुनर्जन्म आदि मानवोपयोगी गहनीय विशेषताओं की विश्वास की बातें भारतीय जीवन में ब्राह्मण युग से ही आरम्भ हुई हैं" तथा "ब्राह्मण ग्रंथकारों की यह वैज्ञानिक दृष्टि कि छवि अन्तरिक्ष में व्याप्त होकर वर्षा के रूप में फिर धरती अन्नजल की वृद्धि करती हैं, बहुत ही सूक्ष्य सन्तुलित एवं अनुभूत दृष्टि है।" इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों में सत्य की महिमा पर भी विशेष रूप से जोर दिया गया है और 'शतपथ' ब्राह्मण' में तो स्पष्टतया कहा गया है कि जो असत्य बोलता है वह अपनी पवित्रता का हनन करता है तथा सत्य तो साक्षात् वेदस्वरूप ही है। इस प्रकार ब्राह्मण ग्रंथों में भारत का प्राचीनतम ज्ञान-विज्ञान एक साथ समाविष्ट है और उसकी संस्कृति व उसके व्यापक साहित्य के सूत्र भी उसमें सुरक्षित हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों के उक्त परिचय एवम् उनकी उपयोगिता का ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् हमें यह भी ध्यान में रखना होगा कि, "विभिन्न वेदों से सम्बद्ध विभिन्न ब्राह्मणों में परस्पर अन्तर होते हुए भी याज्ञिक प्रक्रिया के विधि-विधान का ही मौलिक अन्तर पाया जाता है। ऋग्वेद के ब्राह्मण में होता के लिए ऋचाओं

का पाठ करने से सम्बद्ध निर्देश है, तो सामवेद के ब्राह्मण उद्गाता के पथ-प्रदर्शक हैं, यजुर्वेद के अवर्ध्यु सम्बन्धी क्रिया-कलापों पर प्रकाश डालते हैं। अन्यथा, सभी ब्राह्मणों में मौलिक विषय प्रायः एक ही है और उन विषयों का विवेचन भी प्रायः एक ही प्रकार से हुआ है।'' यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का रचनाकाल सहज ही निश्चित नहीं किया जा सकता और विचारकों का कहना है कि इन ग्रन्थों के निर्माण में कई शताब्दियाँ लगी होंगी तथा ब्राह्मण ग्रन्थ बौद्ध साहित्य से तो निर्विवाद रूप में प्राचीन हैं, क्योंकि इन शब्दों में ब्राह्मण धर्म का जो उत्कर्ष दिखाई देता है उसी का विरोध बौद्धों ने किया था। अतः ब्राह्मण साहित्य के विकास का काल १००० ई० पू० से ६००० ई० पू० तक लगभग आठ शताब्दियों का माना जा सकता है। इस सम्बन्ध में विटरनिट्ज का यह भी कहना है, "यदि हमसे कोई पूछे कि ब्राह्मण वाङ्मय के विकास की निश्चित तिथि क्या दी जा सकती है तो हमें मानना ही पड़ेगा कि हमारा उत्तर ब्राह्मणों के सम्बन्ध में उतना ही अनिश्चयात्मक है जितनी कि स्वयं संहिताओं के सम्बन्ध में। निश्चित रूप से तो बस हम इतना ही कह सकते हैं कि ऋग्वेद के सूत्रों का युग पर्याप्त प्राचीन हो चुका था, जब यज्ञों में तन्त्रों की नयी विधा का जन्म हुआ। संभवतः यह भी निश्चित है कि अथर्ववेद और यजुर्वेद के मन्त्र तंत्रात्मक वाङ्मय का अधिकांश, एवं सामवेद की गीतियों का अधिकांश, ब्राह्मण ग्रन्थों के ऊहापोह से एक पर्याप्त पूर्वत्तर वस्तु है। दूसरी ओर यह भी सम्बन्ध प्रतीत होता है कि अथर्ववेद के जादू-टोनों तथा यज्ञपरक संहिताओं को अन्तिम रूप में सम्पादित प्रायः ब्राह्मण युग के आरम्भ में ही किया गया और इस दृष्टि से, इन वैदिक अंशों तथा ब्राह्मण वाङ्मय के पूर्वांश परस्पर समकालीन भी हो सकते हैं।''

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के वर्ण्य-विषय का संकेत करते हुए विचारक यही कहते हैं ''ऋग्वेद के देवताओं की स्तुति यद्यपि यजुर्वेद की संहिताओं में तथा ब्राह्मणों में जब भी होती है, जिस प्रकार कि अथर्ववेद में होती आ रही थी, किन्तु उनकी मौलिक महिमा अब कुछ नहीं रह गई। उनमें जो कुछ प्रभाव कहा है, आज, वह सब यज्ञमूलक है। यही नहीं—विष्णु, रुद्र, शिव आदि जो देवता ऋग्वेद के दिनों बहुत गौण थे, उनका महत्व इन यज्ञपरक संहिताओं में तथा ब्राह्मण वाङ्मय में बहुत बढ़ चुका है। यजुर्वेदीय दृष्टिकोण में प्रजापति देवाधिदेव भी हैं और असुरों के अधिपति भी। ऋग्वेद में 'असुर' कुछ सारगर्भित शब्द था और प्रायः उसकी अद्भुत शक्तियों का अधिष्ठान वरुण को ही समझा जाता था किन्तु यहाँ—लौकिक संस्कृति की भाँति—ब्राह्मणों में भी न केवल उसका शब्दार्थ 'दैत्य' हो गया है अपितु आये-रोज देवों और असुरों में संग्राम छिड़ जाते हैं। यह बात बड़े आश्चर्य की है कि इन देवासुर संग्रामों में यह पुरानी भयावहता नहीं जो ऋग्वेद के इन्द्र और व्रत के बीच युद्धों में हुआ करती थी, यहाँ तो यज्ञ की शक्ति द्वारा सम्पन्न होकर देव और असुर परस्पर स्पर्द्धा में रत हैं, और कुछ नहीं। देवताओं को भी यदि कुछ सिद्धि प्राप्त करनी इष्ठ होती है तो उन्हें भी 'तदर्थ' यज्ञ में निपुणता प्राप्त करनी होती है। ये यज्ञः साधन ही नहीं, परम सिद्धि हैं। यज्ञ के द्वारा प्रकृति की अन्तःशक्तियों पर प्रभुता प्राप्त की जा सकती है और ब्राह्मणों में स्थान-स्थान पर यज्ञ ही प्रजापति है।' इस प्रकार की घोषणा की भी गई है।' इससे यह स्पष्ट है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में यज्ञ का ही वर्णन विशेष रूप से किया गया है और ब्राह्मणों का महत्व भी प्रतिपादित किया है तथा उनमें ऐसी अनेक कथाएँ भी हैं जो इतिहास और पुराणों की मूल स्रोत हैं।

प्रश्न (१०) आरण्यकों और उपनिषदों का विवेचन करते हुए उनके वर्ण्य-विषय का स्पष्ट परिचय दीजिए।

उत्तर—वस्तुतः वैदिक साहित्य के प्रपूरक अंग संहिताएँ ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् हैं, अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के पश्चात् आरण्यक ग्रन्थों को स्थान दिया जाता है। यहाँ अधिक स्पष्टीकरण के लिए यह भी कहा जा सकता है कि वैदिक संहिताओं का अन्तिम भाग ब्राह्मण, ब्राह्मणों का अन्तिम भाग आरण्यक और आरण्यकों का अन्तिम भाग उपनिषद् हैं। इस प्रकार ब्राह्मणों में तो आरण्यकों को भी ब्राह्मण कहा गया है। साथ ही आरण्यकों और उपनिषदों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध भी है क्योंकि उपनिषद् आरण्यकों का अन्तिम भाग ही है ; इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन करते हुए विंटरनिट्ज ने लिखा भी है, "ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तिम भाग में, प्रायः परिशिष्ट रूप में, आरण्यकों का संकलन हुआ है जिनमें प्रायः जो कुछ भी लौकिक जीवन में रहस्यात्मक होता है, प्रच्छन्न होता है—जो लोग विधिवत् दीक्षित नहीं हैं उनसे दूर रखना ही जिसे श्रेयस्कर है—गवई-गँवारों के सम्मुख जिस पर भूल कर भी समझदार जबान न खोले। ऐसा ही ज्ञान-विज्ञान (आरण्यकों) में सुरक्षित समझा जाता है। इसमें असल बात फकत इतनी ही है कि आरण्यकों में, यज्ञकर्मकांड आदि के व्यर्थ के ऊहापोह में न पड़कर, मनुष्य यदि दो क्षण भी यज्ञीय जीवन की अन्तर्भावना को, अन्तर्दृष्टि को, स्वगत कर लेता है, तो—ऐसा जीवन ही एक सफल कहा जा सकता है। जब आश्रम धर्म को स्वयं ब्राह्मणों ने 'आदर्श जीवन' का एक अपरिहार्य मान लिया, तब वानप्रस्थों एवं परिव्राजकों का स्वभावतः यह कर्त्तव्य ही बन गया कि वे इस आदर्श जीवन के सम्बन्ध में कुछ वैदिक विधि-विधान प्रस्तुत कर दें। यह बात है कि प्राचीन उपनिषदें, पूरी नहीं तो अंशतः, वस्तुतः इन आरण्यकों का अंग बन कर ही आई हैं—दोनों में एक विभाजक रेखा खींच सकना कि कहाँ एक आरण्यक समाप्त होता है और कहाँ (उससे संलग्न) उपनिषद् का आरम्भ होता है–असंभव है।"

इस प्रकार आरण्यक और उपनिषद् परस्पर सम्बन्धित ही हैं तथा वेदान्त रूप में उपनिषदों का सम्बन्ध विभिन्न वैदिक सम्प्रदायों से किया भी जाता है और उन्हें वेदों का अन्तिम भाग न समझ कर ब्राह्मणों के परिशिष्ट रूप में माना जाना ही उचित है। इस प्रकार ऐतरेय उपनिषद् जहाँ कि ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण के अन्त में संलग्न ऐतरेय आरण्यक का परिशिष्ट है वहाँ कौषीतकी उपनिषद कौषीतकी ब्राह्मण में संलग्न कौषीतकी आरण्यक का परिशिष्ट है। इसी प्रकार कृष्ण यजुर्वेद का तैत्तरीय आरण्यक वास्तव में तैत्तरीय ब्राह्मण का ही विस्तार है और उसकी परिसमाप्ति तैत्तिरीय उपनिषद् व महानारायण उपनिषद् नामक दो उपनिषदों में हुई है। साथ ही शुक्ल यजुर्वेद से सम्बद्ध शतपथ ब्राह्मण की १४वीं कंडिका का प्रथम तिहाई यदि एक आरण्यक है तो शेष दो-तिहाई स्वयं बृहदारण्यक उपनिषद् है और छांदोग्य उपनिषद्—जिसका प्रथम भाग वास्तव में एक आरण्यक ही है–संभवतः तांड्य महाब्राह्मण का ही अंश है तथा जैमिनी उपनिषद् सामवेद के जैमिनीय या तलवकार सम्प्रदाय का एक आरण्यक है और उसकी पूर्णाहुति केन ता तलवकार उपनिषद् में हुई है।

वास्तव में तैत्तरीय आरण्यक में संलग्न महानारायण उपनिषद् के अतिरिक्त अन्य सभी उपनिषद् ग्रंथ उपनिषद् युग की प्राचीनतम रचनाएँ हैं और भाषा व शैली में वह

ब्राह्मण ग्रन्थों का ही अनुकरण करती हैं। साथ ही वृहदारण्यक व छांदोग्य जैसे वृहदाकार उपनिषदों से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि अनेक छोटे-छोटे उपनिषदों को मिलाकर उनका —उपनिषदों का—कलेवर भी समय-समय पर बढ़ता रहा है और समय-समय पर कुछ अंश एक से अधिक उपनिषदों में प्राय: एक ही रूप में संकलित भी हो गये। प्राय: ऐतरेय, वृहदारण्यक, छांदोग्य, तैत्तिरीय, कौषीतकी व केन नामक छ: उपनिषद् प्राचीन माने जाते हैं और कठ, श्वेताश्वर, ईश, मुंडक, प्रश्न, मैत्रायणी व मांडुक्य उन छ: उपनिषदों के बाद की रचनाएँ कही जाती हैं लेकिन शंकराचार्य तो ब्रह्मसूत्र की व्याख्या करते समय केवल निम्नलिखित बारह उपनिषदों को ही प्रामाणिक व मौलिक माना है–ईशावास्य; केन कठ, मुंडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, वृहदारण्यक, कौषीतकी और श्वेताश्वर। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि विचारक उपनिषदों की संख्या २०० से अधिक मानते हैं पर न तो सभी उपनिषद् उपलब्ध ही हैं और न उनकी प्रामाणिकता ही सर्वमान्य है तथा परवर्ती उपनिषदों को तो प्राय: दार्शनिक न मानकर धार्मिक ही कहा जाता है। इस प्रकार यहाँ संक्षेप में आरण्यकों और उपनिषदों की पृथकता स्पष्ट करते समय कहा जा सकता है कि आरण्यकों में तो ब्राह्मण ग्रन्थों का ही विषय प्रतिपादन किया गया है और उनमें याज्ञिक क्रिया व उनके अनुष्ठानों की विधि का अत्यन्त रहस्यपूर्ण ढंग से सम्यक् विवेचन किया गया है जबकि उपनिषदों में प्रतीकों, रूपकों व पहेलियों द्वारा ब्रह्म आत्मा, जीव एवम् आवागमन सम्बन्धी दार्शनिक विचार प्रकट किये जाने से उनमें दर्शन की स्वतन्त्र विचारधारा भी विद्यमान है। इस दृष्टि से आरण्यकों की अपेक्षा उपनिषदों का महत्व अधिक जान पड़ता है।

प्रश्न (११) प्रमुख उपनिषदों के ऐतिहासिक क्रम का संक्षिप्त परिचय देते हुए उनके प्रमुख सिद्धान्तों पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—वस्तुत: उपनिषद् शब्द 'उप' और 'नि' उपसर्ग के साथ 'सद्' धातु से क्विप प्रत्यय जोड़ने पर बना है तथा 'सद्, धातु के तीन अर्थ माने जाते हैं—१. विवरण = नाश होना, २. गति = प्राप्त होना, ३. अवसादन = शिथिल होना। इस प्रकार उपनिषद् के अर्थ में सद् धातु के ये तीनों अंग सुसंगत हैं और विचारकों का कहना है कि "उपनिषद् का मुख्य अर्थ अध्यात्म विद्या है जिसके अध्ययन करने से मुमुक्ष लोगों की अविद्या नष्ट हो जाती है" जो विद्या उन्हें ब्रह्म की प्राप्ति करा देती है, तथा जिसके अभ्यास से गर्भवास आदि नाना प्रकार के दु:ख शिथिल हो जाते हैं। "यहाँ यह भी स्मरणीय है कि विंटरनिट्ज और आप्टे आदि विचारक उपनिषद् का अर्थ वह ज्ञान मानते हैं जो गुरु के चरणों के समीप बैठकर प्राप्त किया जाता है क्योंकि उनका विचार है कि उपनिषद् की व्युत्पत्ति उप+नि+पूर्वक सद् (बैठना धातु से हुई है पर अन्य अधिकांश विचारक उपनिषद् का निर्वाचन इससे कुछ भिन्न, ब्रह्म ज्ञान के उपदेश के द्वारा अविद्या का नाश कर सांसारिक जीवनरूपी बन्धन का उच्छेद करना मानते हैं। इसी प्रकार वैदिक साहित्य में उपनिषदों का स्थान सबसे अन्त में होते हुए भी और उन्हें वेदान्त कहे जाने पर भी उपनिषदों का अपना निजी महत्व है तथा डॉ० रामजी उपाध्याय का तो यहाँ तक कहना है, "संस्कृत काव्य की प्रगति में उपनिषदों का विशेष महत्व है। काव्य की पृष्ठभूमि में जिस उच्च दर्शन की अपेक्षा होती है, वह उपनिषदों में पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित है। इसके अतिरिक्त काव्य की पृष्ठभूमि के लिए स्वस्थ जीवन दर्शन की अपेक्षा होती है। इस प्रकार का जीवन दर्शन उपनिषदों में मनीषियों की

जीवन चर्या के माध्यम से प्रस्तुत है। इन्हीं का आधार लेकर उपनिषद् युग के पश्चात् महाभारत और रामायण जैसे महाकाव्यों की रचना हो सकी।"

उपनिषदों के क्रमिक विकास का अध्ययन करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस ओर जाता है कि उपनिषद् ग्रन्थ वैदिक साहित्य की सीमा के अंतिम सूचक है तथा वैदिक युग में ही उनका आविर्भाव हुआ। इस प्रकार उपनिषदों का अस्तित्व वैदिक काल से ही माना जाता है और उपनिषद् ग्रन्थ का विषय ही होते हुए भी उनकी रचना का क्रम एक नहीं है तथा कुछ उपनिषदों पर तो बहुत बाद की परिस्थितियों का लगभग १४वीं-१५वीं शताब्दी का भी प्रभाव पड़ा है। इसीलिए उपनिषदों के रचना-काल के सम्बन्ध में एक सर्व-सम्मत निश्चित राय का अभाव होने के कारण और स्वयं उपनिषदों में वर्णित तत्व त्रैकालिका होने के कारण विचारक परस्परा विरोधी मत व्यक्त करते हैं लेकिन यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि कुछ उपनिषद् बुद्ध काल के पूर्व के भी हैं। लुड्विग साहब ने तो वर्षों तक उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन करने के बाद यही मत प्रकट किया था कि उपनिषद् ज्ञान की प्राचीनता आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व की ठहरती है और लोकमान्य तिलक का कहना है 'पश्चिमी पंडितों के अटकलपच्चू अनुमानों से वैदिक ग्रन्थों के जो काल निश्चित किए गए हैं, वे भ्रममूलक हैं, वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ईसा के पहले ४५०० वर्ष से कम नहीं ली जा सकती, इत्यादि बातों को हमने अपने 'आरोपन' ग्रन्थ में वेदों के वाक्यों के आधार पर सिद्ध कर दिया है और इसी अनुमान को अब अधिकांश पश्चिमी पंडितों ने भी ग्राह्य माना है।" इस प्रकार लोकमान्य तिलक ने मैत्र्युपनिषद् में वर्णित उद-गयन स्थिति की ज्योतिष गणना के अनुसार अध्ययन कर यह मत व्यक्त किया है कि मैत्र्युपनिषद् की रचना वेदांग ज्योतिष से पूर्व की है और वह उपनिषद् ग्रन्थों का रचनाकाल १६०० ई० पूर्व मानते हैं। मैक्समूलर ने भी उपनिषद् साहित्य की भाषा का तुलनात्मक अध्ययन कर 'मैत्र्युपनिषद्' को पाणिनि से भी प्राचीन माना है पर अधिकांश पाश्चात्य विचारक उपनिषदों का निर्माण ६०० ई० पूर्व मानने के पक्ष में ही हैं, अतः उपनिषदों का विकास-क्रम स्पष्ट करना सहज नहीं है लेकिन यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि वह वैदिक साहित्य की अन्तिम सोपान हैं तथा उन्हीं से उत्तर वेदान्त का आविर्भाव भी हुआ है।

उपनिषद् ग्रन्थों की वास्तविक संख्या भी अभी तक सर्वमान्य नहीं है और इस सम्बन्ध में विचारक अपने पृथक-पृथक मत व्यक्त करते हैं। मुक्तिकोपनिषद्' में तो १०८ उपनिषदों का उल्लेख हुआ है और उपनिषद् वाक्य महाकोश में २२३ उपनिषद् ग्रन्थों की नामावली दी गई है तथा अडियार लाईब्रेरी मद्रास से प्रकाशित एक संग्रह में २७९ उपनिषद् हैं। स्वयं शंकराचार्य ने तो ईशावास्य कन, कठ, प्रश्न, मुँडक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छांदोग्य, वृहदारण्यक कौषीतकी व श्वेताश्वर नामक बारह प्रमुख उपनिषद् माने हैं और उन पर प्रामाणिक भाष्य लिखे हैं। शंकराचार्य के अति-रिक्त रामानुज, निम्बार्क, बल्लभ और रुद्र आदि जितने भी सम्प्रदाय प्रवर्तक शीर्षस्थ आचार्य हुए हैं तथा उनके सम्प्रदाय अनुवर्ती विद्वानों ने उक्त द्वादश उपनिषद् ग्रन्थों पर ही भाष्य व टीकायें लिखी हैं अतः इन बारह उपनिषदों को ही प्रामाणिक कहा जा सकता है। इसमें से ऐतरेय व कौषीतकी ऋग्वेद के उपनिषद् है, तैत्तिरीय व वृहदारण्यक

क्रमशः कृष्ण यजुर्वेद व शुक्ल यजुर्वेद के उपनिषद् हैं और छान्दोग्य तथा केन सामवेद के उपनिषद् हैं। विचारक इन छह उपनिषदों को अत्यन्त प्राचीन मानते हैं और उनका विचार है कि इनमें वेदान्त के सिद्धान्त अपने मूलरूप में विद्यमान हैं तथा यह आरण्यकों के भी अंश नहीं हैं।

विषय की दृष्टि से वेदों के कर्म, उपासना व ज्ञान नामक तीन प्रमुख भाग माने जाते हैं और "कर्म विषय का प्रतिपादन संहिता एवं ब्राह्मण भाग में हुआ है। उपासना का विषय संहिता तथा आरण्यक भाग में वर्णित है और तीसरे ज्ञान भाग का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थ उपनिषद् हैं, जो कि मोक्ष साधन का मार्ग निर्देश करते हैं।" इस प्रकार विचारक प्रकृति, पुरुष व परमात्मा का विवेक ही उपनिषद् विद्या का प्रतिपाद्य विषय मानते हैं तथा विंटरनिट्ज का कहना है कि "जिस सिद्धांत के उपनिषदों का मूल प्रतिपाद्य अर्थात् सभी उपनिषदों में प्रायः एक ही रूप में प्रस्तुत महान् आध्यात्मिक अनुभूति के रूप में—स्वीकार किया गया है, उसे एक वाक्य में इस प्रकार संहृत किया जा सकता है।

यह विश्व ही ब्रह्म है—

और ब्रह्म और कुछ नहीं—हमारा अपना ही अन्तरतम है—

इसी का यदि पाश्चात्य दर्शन की भाषा में अनुवाद करना हो तो हम कहेंगे कि 'कुछ है जो (परमेश्वर) विश्व में भी समाया हुआ है और अन्तरात्मा में भी।'

इस प्रकार उपनिषदों के मूलभूत सिद्धांत तो हैं—ब्रह्म और आत्मा, जिन पर कि उपनिषदों की फिलासफी का भव्य भवन खड़ा है।

इससे यह स्पष्ट है कि उपनिषदों के समस्त सिद्धान्त ब्रह्म व आत्मा पर आधारित हैं और उपनिषद् ग्रन्थ में तो इन दोनों का समन्वय सा कर दिया गया है तथा शांडिल्य के प्रसिद्ध दर्शन का प्रतिपादन 'सचमुच यह सब ब्रह्म ही है, नामक शब्दों में साथ आरम्भ होता है और आत्मा का विवेचन करते हुए उपसंहार में कहा गया है 'सच पूछो तो, ब्रह्म और आत्मा एक ही है।' कहा भी गया है, "यह आत्मा जिसे मैं अपना आपा (स्व-रूप) मानता हूँ, वास्तव में मेरा अन्तःकरण ही है जो चावल, जौ, सरसों, किसी भी चीज (के बीज) से छोटा है। किन्तु साथ ही मुझे अनुभव होता है कि मेरा अन्तर्विन्दु इस पृथ्वी से भी बड़ा है, आकाश में भी बड़ा है, लोकलोकान्तर से भी, नक्षत्रादि से भी कहीं बड़ा है। वह मेरे सब क्रियाकलापों का, मेरी इच्छाओं का, रस, गन्ध, स्पर्श आदि (सब) ऐन्द्रिय प्रवृत्तियों का स्त्रोत है, आधार है। सब कुछ उसी में समाया हुआ है। वह न बोलता है और न कोई चेष्टा करता है। यह आत्मा, जो मेरा अन्तःकरण है ब्रह्म भी वही है। मृत्यु की घड़ी में, अन्य में, मैं अपनी लघुता से मुक्त होकर उसी (की महिमा) में विलीन हो जाऊँगा। यही एक परम ज्ञान है जो सब संशयों को विच्छिन्न कर देता है। मृत्यु को अमर कर देता है, कर सकता है।' उसी प्रकार उपनिषदों के तत्वमसि नामक कथन में भी आत्मा-परमात्मा और जगत् व ब्रह्म की एकता प्रतिपादित की गई है तथा यह सिद्धांत कालान्तर में अत्यधिक महत्वशाली माना गया। छान्दोग्य उपनिषद् में उद्दालक और श्वेतकेतु का उपाख्यान प्रस्तुत कर यही सिद्ध किया गया कि हम आत्मा का इन नेत्रों से दर्शन नहीं कर सकते और

जिस प्रकार नमक पानी में घुल जाने पर दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार वह सर्वान्तर्यामी भी सर्वत्र व्याप्त है । कौषीतकी और बृहदारण्यक उपनिषद् में भी एक अभिमानी ब्राह्मण गार्ग्य एवं वाराणसी के राजा अजातशत्रु के संवाद में ब्रह्म की व्यापकता निरूपित की गई है तथा छांदोग्यपनिषद् में इन्द्र व विरोचन की कथा में आत्मा के स्वरूप को जानने की ओर संकेत किया गया है । आत्मबोध की यह इतिकर्त्तव्यता उपनिषदों में प्रजापति विद्या कहलाती है और बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी के संवाद में आत्मा के अजर-अमरत्व एवं उसकी एकरूपता का अत्यन्त रोचक ढङ्ग से वर्णन कर ब्रह्म व जगत् को आत्मा के अन्तर्गत ही कहा गया है ।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि बृहदारण्यक उपनिषद् में ही पहली बार पुनर्जन्म व कर्म की विवेचना की गयी है और इसके पूर्व छान्दोग्य उपनिषद् में समस्त इन्द्रियों में प्राण की महत्ता सर्वोपरि मानी गयी है अतः उपर्युक्त दो सिद्धांतों—ब्रह्म सिद्धान्त व आत्मा सम्बन्धी सिद्धान्त—के साथ-साथ उपनिषदों के प्राण सिद्धान्त व कर्म सिद्धान्त नामक अन्य तीन सिद्धान्त भी कहे गये हैं । उनमें से प्राण सिद्धान्त में समस्त इन्द्रियों में प्राण की महत्ता सर्वोपरि मानी है और छान्दोग्य उपनिषद् में एक उपाख्यान है जिसमें एक बार सभी इंद्रियाँ स्वयं को बड़ा समझकर आपस में लड़ती हैं तथा प्रजापति के पास अपना निर्णय कराने पहुँचती हैं और वह उन्हें यही बतलाता है कि सभी इन्द्रियों के न रहने पर शरीर का काम चल सकता है पर प्राण के बिना शरीर व्यर्थ है । इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य और अतिभा के सम्वाद में यह बतलाया गया है कि मनुष्य भी सृष्टि के प्राकृत नियमों से स्वतन्त्र नहीं है अर्थात् आत्मा एक शरीर को छोड़ दूसरा शरीर धारण करती है और मनुष्य की मृत्यु के पश्चात् उसके पार्थिव शरीर के समस्त अंश तो पाँचों तत्त्वों में मिल जाते हैं पर उसके कर्म अवशिष्ट रह जाते हैं । इसके अतिरिक्त उपनिषदों में कुछ नैतिक सिद्धान्त भी है और बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि प्रजापति ने समस्त देवताओं व राक्षसों को 'द-द-द' नामक तीन शब्दों का उपदेश दिया था; जिनका अर्थ क्रमशः दाम्यत् अर्थात् आत्मसंयम, दत्त अर्थात् दान देना और दयध्वम् अर्थात् दया करना है । कहा जाता है कि उपनिषदों में नैतिक सिद्धान्त इसलिए रखे गये थे ताकि मानव बुरे कर्मों से बचा रहे और सत्य आत्मा से परिचित हो, ब्रह्म का स्वरूप पहचान सके । इस प्रकार उपनिषदों में ब्रह्म व आत्मा का ही सम्यक् विवेचन हुआ है और उपनिषद् ज्ञान की महानता के समक्ष विश्व के तत्व ज्ञान को तुलनात्मक दृष्टि से न्यून समझते हुए जर्मन विद्वान् फेडरिक श्लेगल ने लिखा भी है—

"Even the Loftist philosopal the Europeans appears in comparison the the abundant light of oriental idealism like a feeble promethean spark on the full flood of the heavenly glory of the noonday Sun. Faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

प्रश्न (१२) संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत सूत्र साहित्य के उद्गम को स्पष्ट करते हुए सूत्रों ग्रन्थों (वेदांगों) का संक्षिप्त विवरण दीजिए और ब्राह्मण ग्रन्थों से उनका सम्बन्ध बतलाइए ।

उत्तर—मुण्डक उपनषिद में परा और अपरा नामक दो विद्यालयों का पृथक्-पृथक् उल्लेख मिलता है तथा "ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष ये सभी शास्त्र परा विद्या के अन्तर्गत परिगणित हैं, और यद्यपि अक्षर ब्रह्म के प्रतिपादक आदि ग्रन्थ उपनिषद् वेदों के ही अंग हैं, तथापि उनके सिद्धान्तों के विकास रूप दर्शन ग्रन्थ, आदि की गणना अपरा विद्या के अन्तर्गत की गई है।" इस प्रकार परा से अभिप्राय ऋषियों की ब्रह्म विद्या है और उसे उत्तम विद्या कहा गया है तथा अपरा विद्या चतुष्टयी व षडवेदांग कही गयी है अतः इस प्रकरण में हमें वेदांग का सर्वप्रथम संकेत मिलता है। प्रारम्भ में वेदांग से अभिप्राय किसी विशिष्ट पुस्तक और किसी विशिष्ट संप्रदाय का न होकर वेदार्थ समझने की एक प्रकार की अध्ययन प्रणाली था। यों तो वेदांग में परिगणित विषयों का पूर्वाभास ब्राह्मणों व आरण्यकों में मिलता है जहाँ कि यज्ञप्रक्रिया की व्याख्या करते समय शिक्षाशास्त्र, व्याकरण शास्त्र, निरुक्त शास्त्र, छन्दशास्त्र व ज्योतिषशास्त्र का आश्रय लिया गया है पर कालान्तर में इन विषयों का पृथक्-पृथक् निरूपण किया गया और वेदांगों की स्वतन्त्र स्थिति भी निर्धारित हो गयी। चूँकि इन ग्रन्थों की रचना सूत्र शैली में हुई जो कि भारतीय साहित्य में गद्य शैली के सम्भवतः प्रारम्भिक उदाहरण हैं अतः इन्हें सूत्र ग्रंथ भी कहा गया। यों भी सूत्र का शब्दार्थ है 'धागा' पर साहित्य में उसका लाक्षणिक अर्थ है विचार का संक्षिप्त प्रस्ताव, अतः जिस प्रकार सूक्ष्म तन्तुओं के ताने-बाने से हम एक वस्त्र का निर्माण करते हैं, उसी प्रकार विचारों में व्यवस्था, परस्पर संगति लाकर कल्पना को भी अनुसूचित किया जा सकता है। इस प्रकार के सूत्रों के समुदाय को सूत्रग्रंथ नाम दिया जाता है। इनकी रचना विशुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से करती थी कि 'सूत्र' के द्वारा वैज्ञानिक तथ्यों को, उनके 'इस' प्रस्तुत 'संक्षिप्त, रूप में, विद्यार्थी आसानी से याद कर सके।"

वस्तुतः विश्व इतिहास में भारतीय सूत्र प्रणाली का निदर्शन अन्यत्र ढूंढ़ना व्यर्थ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो सूत्र शैली का उद्भव ब्राह्मण ग्रंथों के साथ होता है जहाँ छोटे-छोटे वाक्यों में सब कुछ कह दिया गया है। यहाँ यह स्पष्टीकरण भी आवश्यक है कि अनेक सूत्रों के समाहार को भी सूत्र कहा जाता है और प्रायः अधिकांश विचारक यही मानते हैं कि यह सूत्र ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रवर्तित हो चुकी थी, जिसका प्रमाण हमें सूत्र ग्रंथों में उद्धृत ब्राह्मण ग्रंथों के छोटे-छोटे वाक्यों में स्वयं मिल जाता है। विंटरनिटज ने लिखा भी है, "सूत्र शैली का सर्वप्रथम रूप हमें ब्राह्मणों तथा आरण्यकों से सम्बद्ध यज्ञ योग आदि के प्रसंगों में मिलता है। ऐतरेय आरण्यक में सचमुच कितने ही स्थल हैं जिन्हें आश्वलायन, शौनक आदि सूत्रकारों की कृति माना गया है। इसी प्रकार सामवेद के कुछ ब्राह्मण विषय की दृष्टि से भी सूत्र अधिक हैं, ब्राह्मण कम।"

चूंकि ब्राह्मणों का मुख्य विषय विधान है अतः भारत में सर्वप्रथम सूत्र ग्रंथ कल्पशास्त्र या कल्प सूत्र ही माना जाता है और विचारकों का कहना है कि "अनेक विधि-विधानों, कर्मानुष्ठानों, न्याय-नियम, रीति-व्यवस्थाओं और धर्म-आज्ञाओं का संक्षिप्त, सारयुक्त, संदेहरहित, प्रयोक्तव्य, अप्रहित और निर्दोष रूप में विवेचना करना ही कल्पसूत्रों का प्रतिपाद्य विषय है।" साथ ही एक नवीन युग के निर्माण की दृष्टि

से भी संस्कृत साहित्य में कल्पसूत्रों का अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि उनसे लौकिक संस्कृत के अभ्युदय का श्रीगणेश होता है पर इन सूत्रों का प्रधान विषय कर्मों का प्रतिपादन, संस्कारों की व्याख्या और यज्ञों का विधान वर्णन करना है। कल्प सूत्रों के श्रोतसूत्र, गृह्यसूत्रों व धर्म सूत्र नामक तीन विभाग किए गए हैं और प्राचीन ग्रन्थों में कल्पसूत्रों की ११३० मन्त्र संहिताएँ कही गयी हैं पर अब केवल ४० कल्पसूत्र ही उपलब्ध हैं जिनमें कुल मिलाकर ४२ कर्मों का प्रतिपादन है। १७ श्रोतयज्ञ, ७ गृह यज्ञ, ५ महायज्ञ और १६ संस्कार। अब हम यहाँ कल्प सूत्र के प्रत्येक विभाग का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त विवरण देंगे।

श्रोत का अर्थ श्रुति या वेद अथवा यज्ञ से सम्बन्ध रखने वाला है और इस प्रकार श्रोत सूत्रों में वैदिक संहिताओं में वर्णित यज्ञ-यज्ञादि विधानों का सार संकलित है। इस प्रकार श्रोत सूत्रों में श्रुति प्रतिपादित चौदह यज्ञों का प्रधानतया विधान है और प्रधान श्रोत सूत्रों के नाम हैं। आश्वलायन श्रोत सूत्र, शांखायान श्रोतसूत्र मानव श्रोतसूत्र, बौधायन श्रोतसूत्र, अपास्तम्ब श्रोतसूत्र, हिरण्यकेशी श्रोतसूत्र, कात्यायन श्रोतसूत्र, लाट् यायन श्रोतसूत्र, द्राह्यायण श्रोतसूत्र, जैमिनीय श्रोतसूत्र और वैतान श्रोतसूत्र।

गृह्यसूत्रों का विषय श्रोतसूत्रों की अपेक्षा व्यापक है और उनमें गार्हस्थ्य जीवन विषयक धार्मिक विधियों का वर्णन है। इस प्रकार गृह सूत्रों में गृहस्थ जीवन से सम्बन्धित गर्भाधान से लेकर मृत्युपर्यन्त जितने भी क्रिया-कलाप हैं, उन सबकी सविस्तार अनुष्ठान विधि अंकित की गई है तथा पितृ यज्ञ, अष्टकायज्ञ, श्रावणी यज्ञ, अश्वायुजी यज्ञ, अग्रहायणी यज्ञ व चैत्री यज्ञ नामक सप्त ग्रह यज्ञ माने गये हैं। साथ ही प्रधान गृह्यसूत्रों के नाम इस प्रकार दिये जाते हैं—आश्वलायन गृह्यसूत्र, शांखायन गृह्यसूत्र, मानव गृह्यसूत्र, बौधायन गृह्यसूत्र, आपस्तम्ब गृह्यसूत्र हिरण्यकेशी गृह्यसूत्र, भारद्वाज गृह्यसूत्र, पारस्कर गृह्यसूत्र द्राह्यायण गृह्यसूत्र, गोभिल गृह्यसूत्र, खाद्रिर गृह्यसूत्र और कौशिक गृह्यसूत्र।

धर्मसूत्रों की रचना सामाजिक जीवन के रीति-रिवाजों, नियमों और सामाजिक प्रथाओं के अन्तर्गत समाज के पारस्परिक कर्त्तव्यों पर प्रकाश डालने के उद्देश्य से की गयी और इस प्रकार इनमें पारलौकिक, सामाजिक व नैतिक क्रियाकलापों का भी प्रतिपादन किया गया है तथा सामाजिक आचार विचार एवं वर्णाश्रम की विस्तृत मीमांसा की गयी है। इन धर्मसूत्रों से राज्य व्यवस्था और कर कानूनों की भी समुचित व्यवस्था है तथा प्रधान धर्म-सूत्रों के नाम हैं : वशिष्ठ धर्मसूत्र, मानव धर्मसूत्र बौधायन धर्मसूत्र, आपस्तम्ब धर्मसूत्र व गौतम धर्मसूत्र।

उपर्युक्त कल्प सूत्रों के अतिरिक्त अन्य वेदांग इस प्रकार हैं—शिक्षा कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द व ज्योतिष और यहाँ भी यह स्मरणीय है कि व्याकरण वेद का मुख है, ज्योतिष नेत्र, निरुक्त श्रोध, कल्प हाथ शिका नासिका, छन्द, दोनों पाद। चूंकि कल्प सूत्रों का विवेचन किया जा चुका है, अतः यहाँ अन्य पाँचों अंगों का संक्षिप्त परिचय भी आवश्यक हो जाता है।

शिक्षा उन ग्रंथों का कहा जाता है जिनकी सहायता से वेदों के उच्चारण का भली-भाँति ज्ञान हो। वेद पाठ में स्वरों का अत्यन्त महत्व होने के कारण स्वर की शिक्षा के लिए इस पृथक् वेदांग की रचना की गई है। वस्तुतः प्रत्येक वेद की अलग-अलग

शिक्षा है और याज्ञवल्क्य शिक्षा शुक्ल यजुर्वेद की है तथा नारद शिक्षा सामवेद की है। इसी प्रकार पाणिनी द्वारा निर्मित 'पाणिनीय शिक्षा' भी अत्यन्त महत्व रखती है।

वैदिक मन्त्र छन्दोबद्ध और छन्द का बिना ज्ञान प्राप्त किए हुए वेद मन्त्रों का ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता अतः छन्द ज्ञान नितान्त आवश्यक है। इस प्रकार शौनकविरचित 'ऋक् प्रातिशाख्य' के अन्त में छन्दों का पर्याप्त विवेचन है पर इस वेदांग का एक मात्र स्वतन्त्र ग्रन्थ 'पिंगल' है जिसके रचयिता कोई पिंगल नामक आचार्य हैं।

वेदों का अर्थ जानने के लिए शब्द व्युत्पत्ति की अत्यन्त आवश्यकता है अतः निरुक्त नामक वेदांग में शब्दों की व्युत्पत्ति दी गई है पर आजकल महर्षि यास्क रचित केवल एक ही निरुक्त उपलब्ध होता है। प्राचीनकाल से प्रसिद्ध निघंटु नामक एक ग्रन्थ-नायक का विस्तृत भाष्य ही यह निरुक्त है और इसमें यास्क ने शब्दों की उत्पत्ति धातुओं से मानी है।

व्याकरण नामक वेदांग का लक्ष्य वेदों के अर्थ को समझना और वेदार्थ की रक्षा करना है। आजकल पाणिनि व्याकरण ही वेदांग का एक मात्र प्रतिनिधि व्याकरण है पर वास्तव में व्याकरण पाणिनि से भी पुराना है। स्वयं पाणिनि ने अपने अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ में वार्ग्य, स्फोटायन, शाकटायन व भारद्वाज आदि अनेक आचार्यों का भी उल्लेख किया है।

ज्योतिष का भी वेदांगों में विशेष महत्व है, इसे काल (समय) का विधायक शास्त्र कहा जाता है। कहा गया है कि जो व्यक्ति ज्योतिष को जानता है, वह यज्ञ को जानता है। ज्योतिष नामक वेदांग का रचयिता 'लगध' है और आजकल इस वेदांग के दो संस्करण प्राप्त हैं—एक यजुर्वेद से सम्बद्ध तथा दूसरा ऋग्वेद से सम्बद्ध।

उक्त विवेचन से सूत्र साहित्य की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है और सूत्रों का निर्माण वैदिक मन्त्रों व वेदों में वर्णित प्रक्रियाओं को स्मरण रखने के लिए हुआ था। साथ ही इन सूत्र ग्रन्थों का सम्बन्ध केवल ब्राह्मण ग्रंथों से ही नहीं अपितु समस्त वैदिक संहिताओं से है पर अपने विषय के प्रतिपादन में वह सर्वथा स्वतन्त्र जान पड़ते हैं।

प्रश्न (१३) भारत के प्राचीन साहित्य में पुराणों का स्थान निर्धारित करते हुए रचनात्मक और वर्ण्य-विषय की दृष्टि से पुराणों की पृथक् विवेचना कीजिए।

उत्तर—छान्दोग्य उपनिषद और बौद्ध-ग्रन्थों (सुत्त निपात) में पुराण को पंचम वेद कहा गया है और बहुत से भारतीय विद्वान् उसे पंचम वेद के रूप में सम्मानित भी करते हैं। यह भी कहा जाता है कि "व्यास ने (जिनका यह नाम इसलिए पड़ा कि उन्होंने वेद का विभाग करके उसे चार भागों में क्रमबद्ध किया था) वेद अपने शिष्यों के सुपुर्द किये थे। बाद में उन्होंने आख्यायिकाओं, कहानियों, गीतों और परम्परा प्राप्त जनश्रुतियों को लेकर एक पुराण की रचना की और इतिहास के साथ इसे अपने पाँचवें शिष्य रोमहर्षण (या लोमहर्षण) को पढ़ा दिया। इसके बाद उन्होंने महाभारत की रचना की। यहाँ हमारा इससे कोई प्रयोजन नहीं की व्यास असली पुराण के रचयिता नहीं थे। मुख्य बात तो यह है कि पुराने समय से विभिन्न प्रकृति की पर्याप्त परम्परा प्राप्त कथाएं चलती आ रही होंगी, जो स्वभावतः पुराण की रचना के काम मे लायी गयीं। यह बात बिलकुल स्वाभाविक प्रतीत होती है कि जब धार्मिक मन्त्रों का संग्रह

वेद के रूप में हो चुका था, तब पुरानी लोकाचार सम्बन्धी कथाएँ पुराण के रूप में संग्रहीत की जातीं।''

इससे यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में ही पुराणों की उत्पत्ति हो चुकी थी और पुराण शब्द अथर्वेद एवं ब्राह्मणों में तो सृष्टि-मीमांसा के अर्थ में प्रयुक्त भी हुआ है। महाभारत में भी इसका प्रयोग प्राचीन उपाख्यानों में ज्ञान के अर्थ में हुआ है; अतः अर्थवेद, ब्राह्मण ग्रन्थों और महाभारत से तो पुराण की प्राचीनता स्पष्ट ही हो जाती है। महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी ने साप्ताहिक हिन्दुस्तान के २२ जुलाई १९५६ के अंक में प्रकाशित अपने एक शोधपूर्ण निबन्ध 'पुराणों की अनादिता' में कहा भी है, ''पुराणों में ही उनके सम्बन्ध में स्पष्ट लिखा है कि ब्रह्मा ने सब शास्त्रों से पहिले पुराण का स्मरण किया और उसके बाद उनके मुख से चारों वेद प्रकट हुए। आगे यह भी पुराणों में ही बताया गया है कि पहिले पुराण एक ही था। वह बहुत विस्तृत कई कोटि की ग्रन्थ संख्या में था। कलियुग के आरम्भ में मनुष्यों की स्मृति और विचार बुद्धि की दुर्बलता को देखकर भगवान् वेद व्यास ने ज्ञान को चार संहिताओं के रूप में विभाजित किया, वहाँ पुराणों को भी संक्षिप्त कर अठारह विद्याओं में बाँट दिया। यह भी पुराण में ही मिलता है कि वैवस्वत मन्वन्तर के इस अठाईसवें कलियुग तक अठाईस व्यास हो चुके हैं, जो प्रति कलियुग में पुराण विद्या का संक्षेप कर ग्रन्थ निर्माण करते रहे। उन सबके नाम भी कई पुराणों में लिखे मिलते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि पुराण विद्या अनादि है।'' श्री वाचस्पति गैरोला ने भी इसका पूर्ण समर्थन करते हुए लिखा है, ''सब मत मतान्तरों से विदित होता है कि पुराण विद्या का आविर्भाव भी वैदिक युग में ही हो चुका था और जिस प्रकार प्राचीन महर्षिवरों ने वेद एक वैदिक साहित्य का व्यवस्थापन-सम्पादन किया उसी प्रकार उन्होंने पुराणों का भी वर्गीकरण एवं सम्पादन किया। पुराणों का वैदिकयुगीन स्वरूप क्या था, इस सम्बन्ध में गम्भीर अनुसंधान की आवश्यकता है।''

'पुराणमाख्यानम्' के अनुसार पुराण शब्द का अर्थ 'पुराना आख्यान' होता है और संस्कृत साहित्य में पुराण' का अर्थ 'पुराना' माना भी गया है। कदाचिद् पुराणों की अत्यन्त प्राचीनता के कारण ही उन्हें यह नाम प्राप्त हुआ है और यदि विचारपूर्वक देखा जाए तो पुराणों में प्राचीन आख्यानों का ही आधिक्य दीख पड़ता है। साथ ही पुराणों में इतिवृत्तों की अधिकता के कारण उन्हें इतिहास भी कहा जाता है पर सुप्रसिद्ध भाष्यकार सायण और शंकराचार्य जैसे विद्वानों ने इतिहास व पुराण की सत्ता को पृथक्-पृथक स्वीकार किया है। यों तो स्वयं पुराणों में पुराण का लक्षण बतलाते हुए कहा गया है—

सर्गश्च प्रतिसर्गश्च वंशो मन्वतराणि च।
वंशानुचरितं चैव पुराण पंचलक्षणम्॥

अर्थात् (१) सर्ग या सृष्टि, (२) प्रतिसर्ग अर्थात् सृष्टि का विस्तार, लय और पुनः सृष्टि (३) सृष्टि की आदि की वंशावली, (४) मन्वन्तर अर्थात् किस-किस मनु का समय कब तक रहा और उस काल में कौन-सी महत्व की घटना हुई तथा (५) वंशानुचरित सूर्य तथा चन्द्रवंशी राजाओं का वर्णन—यही पुराणों के पाँच विषय हैं।

सामान्यतया पुराणों के उक्त लक्षण ही माने जाते हैं पर यदि विचार-पूर्वक देखा

जाय तो पुराणों में इनके अतिरिक्त अन्य कई बातों का भी समावेश हुआ है और अग्नि पुराण को तो भारतीय ज्ञान कोष भी कहा जाता है, लेकिन यहाँ यह भी न भूलना चाहिये कि जिन पुराणों में उक्त पाँचों विषयों का यथावत् वर्णन नहरीं रहता उन्हें भी पुराण माना जाता है। साथ ही पुराणों का महत्व प्रतिपादित करते हुए श्री बलदेव उपाध्याय का तो यहाँ तक कहना है, "हम लोगों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि हमारे पुराण ही सच्चे तथा आदर्श इतिहास हैं। किसी मानव समाज का इतिहास तभी पूर्ण समझा जायगा जब उसकी कहानी सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान काल तक क्रमबद्ध रूप से दी जाय। जब तक किसी देश की कथा सृष्टि के प्रारम्भ से न लिखी जाय तब तक उसे अधूरा समझना चाहिये। इतिहास की इस वास्तविक कल्पना को पुराणों में हम पाते हैं। आधुनिक विद्वानों ने इतिहास लेखन शैली में इस प्रणाली की चिरकाल से उपेक्षा कर रखी थी; परन्तु हर्ष का विषय है कि इंग्लैण्ड के सुप्रसिद्ध विचारशील विद्वान् श्री एच० जी० वेल्स ने अपने इतिहास की रूपरेखा (आउटलाइन आफ हिस्ट्री) में इसी पौराणिक प्रणाली का अनुकरण किया है। उन्होंने अपने इस प्रसिद्ध इतिहास में मानव समाज के इतिहास लिखने के पूर्व सृष्टि के प्रारम्भ से मनुष्य के विकास का इतिहास लिखा है। मनुष्य योनि की प्राप्ति करने के पहले मानव को कौन-सा रूप धारण करना पड़ा तथा उसका क्रमिक विकास कैसे हुआ इसका बड़ा ही सुन्दर वर्णन उन्होंने किया है। इस प्रकार यदि मनुष्य का इतिहास लिखना हो, तो सृष्टि के आरम्भ से ही उसके विकास की कथा लिखनी ठीक है। इतिहास लिखने का यही पौराणिक प्रकार का आदर्श है।

पुराणों की दूसरी विशेषता उनकी 'वर्णन शैली' है। कुछ लोग पुराणों में लिखी हुई किसी बात को लेकर उसे असम्भव मानकर कपोलकल्पित कहने का दुःसाहस कर बैठते हैं। यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि हमारे शास्त्रों में वस्तु-कथा के तीन प्रकार बतलाये गए हैं—जिन्हें आलंकारिक भाषा में तथ्य कथन, रूपक कथन तथा अतिशयोक्ति कथन कह सकते हैं। जो वस्तु जैसी हो उसे ठीक वैसी ही कहना तथ्य कथन है और यह कथन वैज्ञानिक लोगों के लिए उपयुक्त है जहाँ रूपकालंकार का आश्रय लेकर कुछ कहा जाय उसे रूपक कथन कहते हैं, और यह कथन-प्रणाली वेदों में पायी जाती है, जहाँ सूर्य की किरणों को उनमें पाये, जाने वाले सात रंगों के कारण घोड़ों का रूपक दिया गया है। पुराणों में वस्तुवर्णन के लिए अतिशयोक्ति अलंकार का आश्रय सदा लिया गया है तथा जो कुछ बात कही है, उसे बड़ा ही विस्तृत रूप दिया गया है, जैसे इन्द्रवृत्र के युद्ध में वृत्त की राजा के रूप में विस्तृत कल्पना। इस प्रकार पुराणों में जहाँ कहीं कोई बात कही गयी है, वह बड़े विस्तार से कही गयी है। अतः पौराणिक कथाओं के सम्बन्ध में इस कथन प्रणाली पर ध्यान रख कर ही विचार करना चाहिये। यदि इस दृष्टि से विचार किया जाय तो पुराण शुद्ध तथा आदर्श इतिहास के रूप में हम लोगों को दिखायी पड़ेंगे।

यहाँ यह भी ध्यान में रखना होगा कि पुराणों की रचना एक समय की नहीं है और लगभग वैदिक युग से लेकर बारहवीं शताब्दी तक निरन्तर उसकी रचना, संक्षिप्त संस्करण, सम्पादन व संकलन होता रहा है अतः विचारकों में पुराणों के रचनाकाल के सम्बन्ध में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों ने पुराणों में नवीनतम वृद्धियों के

आधार पर पुराणों को तेरहवीं और चौदहवीं शताब्दी का भी कहा है और वह, "इस बात की प्रायः उपेक्षा कर जाते हैं कि किसी मकान या साहित्यिक रचना का काल उसमें होने वाली नवीनतम वृद्धि के अनुसार निश्चित नहीं हो सकता।" वाचस्पति गैरोला ने पुराणों का रचना-काल निर्धारित करते समय आवश्यक प्रमाण देते हुए अपना मतव्य इस प्रकार प्रकट किया है—

"(१) आचार्य शंकर और कुमारिल भट्ट ने अपने ग्रन्थों में पुराणों की पर्याप्त चर्चाएँ की हैं। कथाकार बाणभट्ट (७०० ई०) ने 'हर्षचरित्र' में स्पष्ट किया है कि उन्होंने अपने जन्म-स्थान में 'वायु पुराण' का पारायण सुना था, कादम्बरी में भी उन्होंने इस 'वायु पुराण' का उल्लेख किया है। 'पुराणेषु वायुप्रलपितम्'।

(२) 'विष्णु पुराण' में मौर्य साम्राज्य' का 'मत्स्यपुराण' में दाक्षिणात्य आन्ध्र राजाओं का और 'वायु पुराण' में गुप्त वंश का जो अविकल उल्लेख मिलता है, उनसे इन पुराणों के तत्कालीन अस्तित्व का सहज में ही अनुमान लगाया जा सकता है।

(३) महाभारत में कतिपय पुराणों के उपाख्यानों का ज्यों का त्यों वर्णन मिलता है। 'महाभारत' या 'जय कथा' के प्रवक्ता लोमहर्षण के पुत्र उग्रश्रवा सूत पुराणों के पूर्ण पण्डित थे। शौनक ऋषि ने एक बार उनसे प्रार्थना की थी कि वे अपने पिता से पुराणों के सम्बन्ध में प्राप्त ज्ञान को उन्हें सुनाएँ। ऋष्य श्रृङ्ग का एक आख्यान 'पद्मपुराण' और महाभारत दोनों से मिलता है। दोनों ग्रंथों के आख्यानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् डॉ० लूडर्स ने यह सिद्ध किया कि 'पद्मपुराण' का आख्यान प्राचीन है।

(४) कौटिल्य का 'अर्थशास्त्र' पुराणों के अस्तित्व से पर्याप्त प्रभावित जान पड़ता है। राजकुमारों के लिए पुराणों के ज्ञान की आवश्यकता, पुराणविद् को राज्याश्रय का अधिकार आदि बातों से ज्ञात है कि कौटिल्य पुराणों के उपयोगी ज्ञान के प्रारंगत विद्वान् थे।

(५) सूत्र ग्रन्थों में एक ओर तो प्राचीनतम 'पुराण-संहिता के अस्तित्व का पता चलता है और दूसरी ओर उसमें उपलब्ध पुराण ग्रन्थों के उद्धरण मिलते हैं। और उनको पंचम वेद के रूप में स्वीकार किया गया है; तथा यह भी स्पष्ट किया है कि इतिहास एवं पुराण का अस्तित्व तब सर्वथा पृथक् था।

(७) अथर्वसंहिता में चारों वेदों के अनन्तर पुराणों की उत्पत्ति का निर्देश किया गया है, जिससे पुराण-विषय के प्राचीनतम अस्तित्व का पता चलता है। कदाचित् 'अथर्व संहिता' का लक्ष्य प्राचीनतम पुराण संहिता से था, किन्तु इससे भी इतना तो प्रमाण मिलता ही है कि पुराण-विषय भी वैदिक युग की ही उपज थी।

इस प्रकार लगभग १२वीं शताब्दी ई० से लेकर मौर्यवंश (३७४, १६० ई० पू०), आन्ध्रवंश (२१२ ई० पू० से ३३८ ई), गुप्तवंश (२७५-५१० ई०), महाभारत (५०० ई० पू०), अर्थशास्त्र (३०० ई० पू०), कल्पसूत्र (७०० ई० पू०), उपनिषद (१००० ई० पू०) और वैदिक संहिताओं (२५०० ई० पू०) तक पुराणों के प्राचीनतम और आधुनिक स्वरूपों की समर्थ चर्चाएँ विद्यमान होने के कारण उनकी पूर्व सीमा वैदिक युग और उत्तर सीमा गुप्त साम्राज्य तक निर्धारित की जा सकती है।" हम

इस मान्यता से पूर्ण सहमत हैं और पुराण का अस्तित्व विद्या-विशेष के रूप में वैदिक काल में भी मानने के पक्ष में हैं, लेकिन पुराण किसी एक शताब्दी की रचना नहीं है तथा समय-समय पर उनमें नये-नये अध्याय जोड़ गये हैं और उनका वर्तमान रूप गुप्त काल तक पूर्ण हो चुका था।

पुराणों की वास्तविक संख्या के सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद है और 'विष्णुपुराण' में पुराण ग्रन्थों के प्रणयन या उनके रचयिताओं के सम्बन्ध में एक रोचक कथा दी गयी है जिसके अनुसार भगवान् वेदव्यास ने आख्यान, उपाख्यान, गाथा व कल्प शुद्धि आदि के साथ-साथ पुराण-संहिता की भी रचना कर उसका अध्यापन अपने सुयोग्य सूतजातीय शिष्य लोमहर्षण से कराया था। लोमहर्षण ने अपने कश्यपवंशीय तीन सुपात्र शिष्यों—अकृतव्रण, सावर्णि और वैशम्पायन—को पुराणों को महान् ज्ञान दिया तथा इन तीनों ने मूल संरिता के आधार पर तीन पुराण संहिताएँ तैयार कीं। कालांतर में इन्हीं की शिष्य परम्परा ने अष्टादश महापुराणों और अनेक उपपुराणों की रचना की तथा 'ब्रह्मपुराण' इस प्रसंग में सबसे पहले रचा गया।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आरम्भ में केवल एक ही पुराण की रचना हुई थी और 'मत्स्यपुराण' के एक प्रसंग से भी यह ज्ञात होता है कि पहले केवल एक ही पुराण संहिता थी तथा 'शिवपुराण' में भी कहा गया है कि कल्प के अन्त में केवल एक ही पुराण था जिसे (वेदों की भाँति) ब्रह्मा ने मुनियों के लिए बनाया, पर व्यास ने यह सोचकर कि इतना बड़ा ग्रंथ मनुष्यों की मेधा में न आ सकेगा, उन्होंने उस चार लाख श्लोक परिणाम ही वृहत् पुराण संहिता को अठारह भागों में विभक्त कर स्वयं उनका प्रवचन किया। एक ही मूल संहिता से अष्टादश पुराणों के विभाजन व प्रवचन की यही बात देवी-भागवत, वाराह पुराण, भागवत और पद्मपुराण आदि ग्रंथों में भी एक जैसे रूप में विद्यमान हैं अतः इन समस्त प्रसंगों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ब्रह्मा ने वेदों की भाँति पुराण विद्या का स्मरण कर वह ज्ञान व्यास तक पहुँचाया है। व्यास से संसार में पुराण विद्या का महान् ज्ञान प्रकाशित किया तथा उनके शिष्य-प्रशियों द्वारा पुराण संहिता के पहले तो तीन और बाद में अठारह भाग किए।

इस प्रकार पुराणों की संख्या अठारह मानी जाती है; यथा-(१) मत्स्य, (२) मार्कण्डेय, (३) भविष्य, (४) भागवत, (५) ब्रह्मांड, (६) ब्रह्मवैवर्त, (७) ब्रह्म, (८) वामन, (९) वराह, (१०) विष्णु, (११) वायु, (शिव) (१२) अग्नि, (१३) नारद, (१४) पद्म, (१५) लिंग, (१६) गरुण, (१७) कूर्म और (१८) स्कंद। इन पुराणों में विभिन्न देवताओं की उपासना और महत्ता का प्रतिपादन किया गया है पर इन महा पुराणों के अतिरिक्त अठारह उप-पुराण भी मिलते हैं, जिनके नाम गरुण पुराण में इन प्रकार दिए गये हैं-(१) सनतकुमार, (२) नारसिंह, (३) स्कन्द, (४) शिवधर्म, (५) आश्चर्य, (६) नारदीय, (७) कापिल, (८) वामन, (९) औशनस, (१०) विष्णु, (११) वारुण, (१२) कालिका, (१३) माहेश्वर, (१४) साम्ब, (१५) सौर, (१६) पराशर, (१८) भार्गव। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि देवी भागवत में स्कंद, वामन, ब्रह्मांड, मारीचि व भार्गव के स्थान पर क्रमशः शिव, मानव, आदित्य, भागवत व वसिष्ठ आदि नाम दिए गए हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त तालिकाओं में से कौन महा-पुराण है और कौन उपपुराण पर अठारह पुराण अधिकांश विद्वानों को मान्य हैं।

उक्त विवेचन से पुराणों का महत्व और स्वरूप स्पष्ट हो जाता है तथा हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत साहित्य में पुराणों का अपना निजी एवं उल्लेखनीय स्थान रहा है और रहेगा।

प्रश्न (१४) वैदिक और लौकिक संस्कृत के अन्तर का स्पष्ट विवेचन कीजिए।

उत्तर—प्रायः सभी विचारक संस्कृत को संसार की प्राचीनतम भाषा मानते हैं और उसे देववाणी भी कहा जा सकता है क्योंकि देवराज इन्द्र ने देवताओं व तत्कालीन अध्येताओं की प्रार्थना पर, "देव भाषा में प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग द्वारा प्रत्येक शब्द को मध्य से विभक्त कर, शब्दोपदेश एवं अध्ययन की सरल सुगम प्रक्रिया का निर्माण किया।" आगे चलकर इसी प्रकृति-प्रत्ययादि विभाग के पुनः संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का नाम संस्कृत पड़ा। संस्कृत शब्द 'सम्' पूर्वक 'क' धातु से निर्मित हुआ है जिसका मौलिक अर्थ है—संस्कार की गई भाषा। इस प्रकार संस्कृत नाम ही इस भाषा का हो गया। लेकिन संस्कृत भाषा के भी दो रूप दीख पड़ते हैं—वैदिकी और लौकिकी, अर्थात् वेद भाषा और लोकभाषा। वस्तुतः वैदिक संस्कृत में वैदिक संहिताओं व ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना हुई है और लौकिक संस्कृत में वाल्मीकीय रामायण व महाभारत आदि रचे गए हैं पर इन दोनों भाषाओं के शब्द रूपों में पर्याप्त अन्तर है जिसे संस्कृत साहित्य के सुयोग्य विद्वान पं० बलदेव उपाध्याय ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—

(१) "अकारांत पुलिंग शब्दों का प्रथमा बहुवचन रूप असस और अस् दो प्रत्ययों के जोड़ने से बनता है। ब्राह्मणामः तथा ब्राह्मणाः लौकिक संस्कृत में केवल अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(२) अकारांत शब्दों का तृतीया बहुवचन दो प्रकार का होता है–देवेभिः तथा देवैः। लौकिक संस्कृत में अन्तिम रूप ग्राह्य है।

(३) अकारांत शब्दों का प्रथमा द्विवचन 'आ' प्रत्यय के योग से बनता है जैसे अश्विना (अश्विनी) सुष्टुती, सुष्टुत्या।

(४) सप्तमी का एक वचन अनेक जगहों में लुप्त हो जाता है जैसे परमे व्योमन् लौकिक संस्कृत है व्योम्नि—व्योमनि।

(५) अकारांत अपुँसक शब्दों का बहुवचन 'आ' तथा 'आनि' दो प्रत्ययों के योग से बनता है जैसे 'विश्वा' तथा विश्वानि', 'अद्भुता'। लौकिक संस्कृत में अद्भुतानि होगा।

(६) क्रियापदों में उत्तम पुरुष 'बहुवचन' (वर्तमान काल) 'मसि' प्रत्यय के योग से बनता है। मिनीमसि। लौकिक संस्कृत 'मिनीमः' होगा।

(७) 'लट्' लकार (आज्ञा) मध्यमपुरुष बहुवचन के प्रत्यय हैं—त, तन, थन्, तात्। जैसे शृणोत, सुनोतन, यतिष्ठन क्रणुतात्।

(८) लौकिक संस्कृत में क्रियार्थक क्रिया के लिये 'तुमुन्' का प्रयोग होता है, जैसे—गन्तुम्, (जाने के लिये) कर्तुम (करने के लिए) आदि, परन्तु वेद में इस अर्थ के लगभग ८ या १० प्रत्यय होते हैं। जैसे—से, असे, कसे, बध्यै, शध्यै आदि। जैसे, जीवसे (जीवितुम्), पिबध्यै (पातुम), दातवै (दातुम्), कर्तवे (कर्तुम्)।

(९) वैदिक भाषा में आज्ञा तथा सम्भावना दिखाने के लिए एक नये लकार की योजना है जिसे लेट् लकार कहते हैं। परन्तु यह लौकिक संस्कृत में बिलकुल ही नहीं है। उसके कुछ उदाहरण ये हैं—प्रण आयूंषि तारिषत् (हे वरुण, हमारी उम्र को बढ़ाओ) यहाँ 'तारिषत्' लेट् लकार है। लौकिक भाषा में इसकी जगह पर तारय कहेंगे।'

यहाँ यह स्मरणीय है कि ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा लौकिक और वैदिक युग की मध्यकालीन भाषा है क्योंकि उसमें कुछ प्रयोग तो संहिताओं के मिलते हैं और कुछ प्रयोग लौकिक संस्कृत के तथा निरुक्त की भाषा भी मध्यकालीन ही कही जाएगी।

प्रश्न (१५) वैदिक और लौकिक संस्कृत साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—विचारक संस्कृत साहित्य के इतिहास को वैदिक संस्कृत काल और लौकिक संस्कृत काल नामक दो भागों में विभाजित करते हैं तथा लगभग २५०० ई० से ५००० ई० पू० तक का समय वैदिक संस्कृत काल के लिए और बाद का लौकिक संस्कृत काल के लिये निर्धारित करते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वैदिक संस्कृत से अभिप्राय उस भाषा से माना जाता है जो कि वेदों में प्रयुक्त है और लौकिक संस्कृत से मतलब उस भाषा से है जो वेदों के पश्चात् रचे गये ग्रन्थों में पाई जाती है तथा पाणिनि-व्याकरण के नियमों का अनुसरण करती है। लौकिक संस्कृत में लिखा गया साहित्य विषय, भाव और भाषा की दृष्टि से अपना विशेष महत्व रखता है तथा वैदिक संस्कृत साहित्य से उसकी तुलना करने पर अनेक नवीन बातें प्रकाश में आती हैं अतः यहाँ दोनों का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है और हम विभिन्न शीर्षकों के अन्तर्गत उन दोनों की तुलना प्रस्तुत कर रहे हैं।

विषय—वैदिक साहित्य मूलतः धर्मप्रधान साहित्य है और उसमें यज्ञ व देव स्तुतियों की ही अधिकता है पर लौकिक संस्कृत साहित्य प्रधानतया लोक वृत्तप्रधान है अतः उसका प्रसार स्वाभाविक ही प्रत्येक दिशा में हो सका। यों तो लौकिक संस्कृत साहित्य में भी धर्म का वर्णन है और वह प्रायः वैदिक धर्म पर ही निर्भर है लेकिन उसमें कुछ नवीनता भी है। यह स्मरणीय है कि वैदिक काल में जिन देवताओं की प्रधानता रही है उनके स्थान पर विष्णु व शिव की उपासना को ही अधिक महत्व दिया गया तथा कुछ नवीन देवताओं की उपासना की जाने लगी।

भाषा शैली—लौकिक संस्कृत भाषा की दृष्टि अपने पूर्ववर्ती वैदिक साहित्य से भिन्न है और जहाँ कि वैदिक काल में संस्कृत भाषा व्याकरण के नपे-तुले नियमों से जकड़ी हुई नहीं थी, वहाँ इस युग में व्याकरण के नियमों से बँधकर वह विशेष रूप से संयत कर दी गई। यह तो संस्कृत साहित्य के प्रायः अधिकांश विचारक मानते हैं कि लौकिक संस्कृत का विशुद्ध रूप महर्षि पाणिनि द्वारा प्रस्तुत किया गया, पर प्रारम्भ में उनके नियमों को उतनी मान्यता न प्राप्त हो सकी; अतः रामायण व महाभारत में कई आर्ष प्रयोग भी विद्यमान हैं पर बाद में पाणिनि व उसके अनुयायियों का प्रभुत्व सा-स्थापित हो गया। वैदिक साहित्य में गद्य की गरिमा स्वीकृत की गई है और संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों व प्राचीन उपनिषदों में उदात्त गद्य का प्रयोग मिलता है पर लौकिक साहित्य का उदय होते ही गद्य का ह्रास आरम्भ हो जाता तथा है गद्य का क्षेत्र केवल व्याकरण व दर्शन शास्त्र तक ही सीमित रह जाता है। इतना ही नहीं पद्य

की प्रभुता अब इतनी अधिक बढ़ जाती है कि ज्योतिष व वैज्ञानिक विषयों का भी वर्णन छन्दोमयी वाणी में ही किया गया है और साहित्य गद्य केवल कथानक व गद्य काव्यों में ही दीख पड़ता है लेकिन क्षेत्र सीमित होने के कारण वह वैदिक गद्य की अपेक्षा कई बातों में हीन व न्यून जान पड़ता है। इसी प्रकार लौकिक संस्कृत साहित्य से छन्द योजना भी वैदिक छन्द पद्धति से कुछ पृथक् है और पुराणों व रामायण-महाभारत में विशुद्ध श्लोक का ही साम्राज्य है जबकि वेद में गायत्री, त्रिष्टुप् व जगती नामक छन्दों का भी प्रचलन है।

आभ्यन्तरिक पक्ष—वस्तुतः वैदिक संस्कृत साहित्य में उपमा तथा रूपक अलंकारों की ही प्रधानता है और प्रतीक रूप से अनेक अमूर्त भावनाओं को मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया गया है पर लौकिक साहित्य में अतिशयोक्ति की ओर अधिक अभिरुचि दीख पड़ती है यों वैदिक व पौराणिक तत्वों में कोई विशेष अन्तर नहीं है और केवल शैलीगत भिन्नता ही दीख पड़ती है साथ ही वैदिक युग से विकसित होकर पुनर्जन्म का सिद्धान्त अब लौकिक संस्कृत साहित्य में अत्यधिक आदरणीय समझा जाने लगा और कई ऐसी कथाएँ भी अंकित की गयीं जिनका नायक पशुयोनि में जन्म लेते हुए भी पुण्य का अधिक संचय होने के कारण देवलोक में जा विराजने लगता है। लौकिक संस्कृत साहित्य का अनुशीलन करने पर यह भी स्पष्ट हो जाता है कि साहित्य मानव समाज का प्रतिबिम्ब है और मानव जीवन में सम्बद्ध तथा उसे सुखद बनाने वाला कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जो अब इस लौकिक संस्कृत साहित्य से अछूता बच गया हो। कदाचित् इसीलिए पहले जहाँ कि नैसर्गिकता की प्रधानता थी वहाँ अब अलंकृति की अभिरुचि विशेष रूप से बढ़ने लगी और उक्तियों में अलंकारों की प्रधानता-सी दीख पड़ने लगी।

अध्याय | ३

महाकाव्य और ऐतिहासिक काव्य

प्रश्न (१६) संस्कृत महाकाव्यों के स्वरूप पर एक समीक्षात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—जैसा कि एक विचारक का कहना है, "साधारणतः काव्य के भेद तीन प्रकार से किये जाते हैं शैली या आकार की दृष्टि से, अर्थ की दृष्टि से और बन्धकी की दृष्टि से। शैली या आकार की दृष्टि से काव्य को गद्य-पद्य और मिश्रित (जिसका कि एक रूप चम्पू माना जाता है) नामक तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। अर्थ की दृष्टि से भी काव्य के उत्तम, मध्यम और अधम या सामान्य नामक तीन विभाग किए गये हैं। बन्धकी दृष्टि से भी दो प्रकार की काव्य कृतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

एक प्रबन्ध और दूसरी निर्बन्ध या मुक्तक। प्रबन्धकाव्य में किसी कथा की क्रमबद्धता और तारतम्यता रहती है, किन्तु मुक्तक काव्य में स्वच्छन्द रूप से किसी रस, भाव या तथ्य को व्यक्त किया जाता है। मुक्तक काव्य में वैयक्तिक अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की ही प्रधानता रहती है तथा कवि अपने अन्तर्जगत् की सुकुमार मनोभावनाओं की अभिव्यक्ति द्वारा अपने हर्ष विषाद, हास-विलास, संयोग-वियोग आदि का चित्रण कर पाठकों को भावमग्न कर देता है। वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता के ही कारण इस प्रकार की कविता को विषयगत (Objective) या उसे विषय प्रधान (Subjective) या वर्णन प्रधान (Narative) भी कहा जाता है।" प्रबन्धकाव्य के तीन भेद महाकाव्य, खंडकाव्य और एकार्थ काव्य नामक माने जाते हैं और संस्कृत के प्राचीन आचार्यों, पाश्चात्य समीक्षकों व आधुनिक हिन्दी आलोचकों ने महाकाव्य के लक्षण भी निर्धारित किए हैं तथा प्राचीन संस्कृत लक्षण ग्रन्थों में तो विस्तारपूर्वक महाकाव्य के विविध अंगों की विवेचना करते हुए महाकाव्य की रूपरेखा को स्पष्ट किया गया है। अतः यहाँ हम उसे संक्षेप में स्पष्ट करना आवश्यक समझते हैं।

भामह ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित करते हुए काव्यालंकार में लिखा है कि—

सर्गबन्धो महाकाव्यं महतांच महच्च यत्।
अग्राम्यशब्दमर्थ्यंच सालङ्कार सदाश्रयम्।
मन्त्रदूतप्रयाणाजिनायकाभ्युदयैश्च यत्।
पञ्चभिः सन्धिभिर्युक्तं नातिव्याख्येयमृद्धिमत्।
चतुर्वर्गाभिधानेऽपि भूयसार्थोपदेशकृत।
युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।
नायकं प्रागुपन्यस्य वंशवीर्यश्रुतादिभिः।
न तस्यैव वधं ब्रूयादन्योत्कर्षाभिधित्सया॥
यदि काव्यशरीरस्य न स व्यापितयेष्यते।
न चाभ्युदयभाक्तस्य मुधादौ ग्रहणस्तवौ॥ १।१६-२३॥

उक्त विवरण के आधार पर महाकाव्य के लक्षण इस प्रकार निर्धारित किये जा सकते हैं।

(१) महाकाव्य सर्गबद्ध होता है और वह महान् विषय का निरूपक व महान् होता है तथा उसे अग्राम्य शब्द, सुन्दर अर्थ, अलंकार से युक्त तथा सत्पुरुषाश्रित होना चाहिए।

(२) उसमें मन्त्र, दूत-प्रयाण, अभियान, युद्ध नायक का अभ्युदय और पाँच संधियाँ होनी चाहिए तथा वह बहुत व्याख्या के योग न हो और उत्कर्ष युक्त हो।

(३) उसमें धर्म आदि चारों वर्गों का वर्णन हो तथा समस्त रसों का पृथक्-पृथक् निरूपण हो।

(४) उसमें कुल बल, शास्त्राध्ययन आदि से नायक का उत्कर्ष बतलाकर फिर, पुनः दूसरे का उत्कर्ष कहने की अभिलाषा से नायक का वध न दिखलाया जाय।

(५) यदि महाकाव्य में नायक को व्यापकता प्रदान न करनी हो और उसका

अभ्युदय भी न दिखाना अभीष्ट हो तो उसका आश्रयण व पहले स्तुति करना भी व्यर्थ है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भामह द्वारा निर्दिष्ट लक्षणों के आधार पर महाकाव्य का स्वरूप स्पष्ट नहीं हो पाता और दण्डी ने ही वास्तव में अपने ग्रन्थ 'काव्यादर्श' में 'महाकाव्य' के लक्षण निर्धारित करते हुए लिखा है—

सर्गबन्धो महाकाव्यमुच्यते तस्य लक्षणन्।
आशार्नमस्क्रियावस्तुनिदेशों वापि तन्मुखमू ।।
इतिहासकथोदभूतमितरद्वा सदाश्रयम्।
चतुर्वर्गफलायतं चतुरोदात्तनायकम् ।।
नगरार्णवशैलतुं चन्द्रार्कोदयवर्णनैः ।।
उद्यानसलिलक्रीडामधुपानरतोसवैः ।।
विप्रलम्भैर्विवाहैश्च कुमारोदयवर्णनैः।
मन्त्रदूत प्रयाणाजिनायकाभ्युदयैरपि ।।
अलंकृतमसंक्षिप्तं रसभावनिरन्तरम्।
सर्गैरनतिविस्तीर्णैः श्रव्यवृत्तैः सुसन्धिभि ।।
सर्वत्र भिन्नवृत्तान्तैरुपेतं लोकरंजनम्।
काव्यं कल्पान्तरस्थायि जायते सदलंकृतिः ।।
न्यूनमप्यत्र यैः कैश्चिदङ्गैः काव्यं न दुष्यति ।।
गद्युपात्तेषु संपत्तिराराधयति तद्विदः ।।
गुणतः प्रागुपन्यस्य नायकं तेन विद्विषाम्।
निराकरणमित्येष मार्गः प्रकृतिसुन्दरः ।।
वंशवीर्यश्रुतादीनि वार्णयित्वा रिपोरपि।
तज्जयान्नायकोत्कर्षकथनं च धिनोति नः ।।१।१४-२२।।

दंडी के उक्त कथन का रूपान्तर डॉ० रणवीरसिंह ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"अनेक सर्गों में जहाँ कथा का वर्णन हो वह महाकाव्य कहलाता है। उसका लक्षण यह है—वह आशीर्वाद, नमस्कार या वस्तु-निर्देश द्वारा आरम्भ होता है।

इसकी रचना ऐतिहासिक कथा या अन्य किसी उत्कृष्ट कथा के आधार पर होनी चाहिए। यह काव्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का फलदायक हो। इसका नायक चतुर (बुद्धिमान) तथा उदात्त होना चाहिए।

महाकाव्य; नगर समुद्र, पर्वत, ऋतु तथा चन्द्र और सूर्य के उदय और अस्त, उपवन और जल क्रीड़ा, मधुपान और प्रेमोत्सव आदि के वर्णनों से अलंकृत होना चाहिए।

यह काव्य विरहजन्य प्रेम, विवाह, कुमारोत्पत्ति, विचार-विमर्श, राजदूतत्व अभियान, युद्ध तथा नायक के जय लाभ आदि के मनोहर प्रसंगों से युक्त होना चाहिए।

यह विभिन्न वृत्तान्तों से सुशोभित तथा सविस्तार वर्णन द्वारा हृदयंगम होना चाहिए। इससे रस तथा भावों की लड़ी जड़ी हों। इसके सर्ग बहुत लम्बे-लम्बे न हों। सर्गों के छन्द श्रवणीय तथा अच्छी संधियों से युक्त होने चाहिए।

सर्गों का अन्तिम श्लोक सर्वत्र भिन्न वृत्तों से युक्त होना चाहिये। यह काव्य लोक-रंजक तथा अलंकारों से अलंकृत होना चाहिये। ऐसा उत्तम काव्य महप्रलय के बाद भी कल्पों तक स्थिर रहता है।

महाकाव्य के उपरिवर्णित अंगों में से किसी न्यूनतम होने पर भी यदि उसमें प्रतिपाद्य विषयवस्तु रूप सम्पत्ति का गुण-सौंदर्य सहृदय काव्य रसिकों के चित्त को आकृष्ट कर लेता है तो काव्य दूषित नहीं होता है।

प्रथम नायक के गुणों का वर्णन करके फिर उसके द्वारा उसके शत्रुओं की पराजय का वर्णन करना चाहिये। इस प्रकार की वर्णन-रीति स्वभावतः मनोहर शैली है।

शत्रु के भी वंश, पराक्रम तथा पांडित्य आदि का वर्णन करने के पश्चात् नायक द्वारा उस पर विजय-प्राप्ति के माध्यम से नायक के उत्कर्ष का वर्णन करना संतोषप्रद है।"

दण्डी के पश्चात् रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में और हेमचन्द्र ने 'काव्यानुशासन' में महाकाव्य के स्वरूप की विवेचना करने की ओर ध्यान दिया है पर उनके विवेचन में कोई नवीनता नहीं तथा अधिकांश समीक्षक साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के महाकाव्य विषयक विचारों को ही विशेष महत्व देते हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि विश्वनाथ ने 'साहित्य दर्पण' में महाकाव्य का विशद और सांगोपांग विवेचन किया है; देखिए—

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्त गुणान्वितः।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा॥
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः सर्वे नाटकसंधयः॥
इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यद्वा सज्जनाश्रयम्।
चत्वारस्तस्य वर्गा स्युस्तेष्वेक च फलं भवेत्॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम्॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन् दृश्यते।
सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत्॥
सन्ध्या सूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः।
प्रातर्मध्याह्नमृगया शैलर्तुवन सागराः।
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः।
रणप्रयाणोपयमन्त्र पुत्रोदयादयः॥
वर्णनीया यथायोगं सांगोपांगा अमी इह।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा।
नामास्य, सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु॥६।३१५-३२५।

उपर्युक्त विवरण से महाकाव्य सम्बन्धी प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

(१) महाकाव्य की कथा सर्गों में विभाजित होती है।

(२) इसका नायक कोई देवता अथवा धीरोदात्त गुणों से युक्त कोई उच्च-कुलो-

त्पन्न क्षत्रिय होना चाहिये। एक ही वंश में उत्पन्न अनेक राजा भी इसके नायक हो सकते हैं।

(३) इसमें शृङ्गार, वीर और शान्त इन तीन रसों में से कोई एक रस प्रधान होना चाहिये और अन्य रस उसके सहायक होने चाहिये।

(४) इसमें नाटक की सारी संधियाँ (मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श उपसंहृति) को स्थान दिया जाता है।

(५) महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक होता है। और यदि ऐतिहासिक न हो तो किसी सज्जन व्यक्ति से सम्बन्ध रखने वाला होना चाहिये।

(६) इसमें चार वर्गों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) में से कोई एक, फल रूप मे होना चाहिये ।

(७) इसके आरम्भ में नमस्कार, आशीर्वचन तथा मुख्य कथा की ओर संकेत के रूप में मंगलाचरण वर्तमान रहता है।

(८) इसमें कहीं-कहीं दुष्टों की निन्दा और सज्जनों की प्रशंसा होती है।

(९) इसमें सर्गों की संख्या आठ से अधिक होनी चाहिये और इन सर्गों का आकार बहुत छोटा अथवा बहुत बड़ा भी न होना चाहिये। प्रायः प्रत्येक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग होता है और सर्ग के अन्त में छन्द परिवर्तन उचित है। कहीं-कहीं किसी सर्ग में विविध छन्दों का प्रयोग भी हो सकता है। प्रत्येक सर्ग के अन्त में आगे आने वाली कथा की सूचना होनी चाहिये।

(१०) इसमें संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात्रि प्रदोष, अंधकार, दिन, प्रातःकाल, मध्याह्न, मृगया (शिकार), ऋतु (छहों), वन, समुद्र, संभोग, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह, मन्त्र, पुत्र और अभ्युदय आदि का यथावसर सांगोपांग वर्णन होना चाहिये ।

(११) महाकाव्य का नामकरण कवि कथावस्तु, नायक अथवा किसी अन्य व्यक्ति के नामकरण पर होना चाहिये और सर्गों के नाम सर्गगत कथा के आधार पर होने चाहिए।

इस प्रकार प्रायः प्रत्येक शास्त्रकार ने अपने समय में उपलब्ध महाकाव्यों के आधार पर महाकाव्य के लक्षणों का विधान किया है लेकिन अधिकांश आधुनिक विचारक विश्वनाथ के विचारों को प्रमाणिक मानते हैं और परवर्ती महाकाव्यों में तो विश्वनाथ के मत को अधिकाधिक ग्राह्य समझा गया है।

प्रश्न (१७) रामायण के रचनाकाल और प्रक्षिप्त अंश की समीक्षा करते हुए उसके काव्य-कौशल पर प्रकाश डालिए।

उत्तर—'वाल्मीकि रामायण' को आदि काव्य और महर्षि बाल्मीकी को आदि कवि माना जाता है तथा श्रीकृष्ण चैतन्य ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास' में कहा भी है, "इस प्रकार जो प्रथम प्रतिभाशाली व्यक्ति महाकाव्य की सृष्टि के लिए अवतरित हुए थे, वे बाल्मीकि थे जिन्होंने संसार को उसके महानतम् अभिजात ग्रन्थों की शृङ्खला में रामायण की भेंट दी।" इसी प्रकार डॉ० रामजी उपाध्याय का कहना है, "संस्कृत साहित्य के प्रथम महाकवि बाल्मीकि हैं इसीलिए उन्हें आदिकवि

भी कहते हैं महर्षि च्यवन की परम्परा में वाल्मीकि ऋषि थे। उनका स्थान तत्कालीन महर्षियों में सर्वोच्च था। वाल्मीकि में लोक-कल्याण की भावना अपरिमित थी। इस भावना से प्रेरित होकर उन्होंने लोकपथ प्रशस्त बनाने के उद्देश्य से रामायण की रचना की थी। विचारों की जिस उदात्त पृष्ठभूमि पर रामकथा प्रतिष्ठित की गई है, उसका उद्भव आदि कवि के हृदय से हुआ।" इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि को आदि कवि और उनकी काव्यकृति 'वाल्मीकि रामायण' को आदि काव्य कहा जाता है पर 'वाल्मीकि रामायण' का रचनाकाल असंदिग्ध है तथा विचारक इस सम्बन्ध में अपने पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करते हैं।

वस्तुत: पाश्चात्य विचारकों ने तो रामायण के रचनाकाल के सम्बन्ध में अत्यन्त विलक्षण कल्पनाएँ की हैं और कुछ देशीय विद्वानों ने भी पाश्चात्य शिक्षा के भाववश आनुमानिक कल्पनाओं का भवन निर्माण किया है लेकिन विवेचना की कसौटी पर कसने पर अधिकांश कल्पनाएँ सर्वथा निराधार प्रमाणित हो जाती हैं। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि वाल्मीकि रामायण ही नहीं किसी भी अन्य महाकाव्य का रचना काल बाह्य और आभ्यंतरिक प्रमाणों के आधार पर निश्चित किया जाता है तथा श्री चन्द्रशेखर पांडेय के मतानुसार वाल्मीकि रामायण के रचनाकाल के सम्बन्ध में निम्नलिखित सात सिद्धांत हैं—

(१) रामायण के बालकांड और उत्तरकांड के निर्माण और अयोध्याकांड से सुन्दरकांड तक की रचना में समय का पर्याप्त अन्तर है बालकाण्ड और उत्तरकांड प्रक्षिप्त है, जिनमें वाल्मीकि एक पौराणिक व्यक्ति के रूप में माने जाने लगे थे। इससे यह विदित होता है कि वाल्मीकि कृत 'रामायण' में बालकांड और उत्तरकांड नहीं थे।

(२) महाभारत के कई आख्यान रामायण के आधार पर निर्मित हैं और महाभारत में वाल्मीकि का उल्लेख एक पौराणिक मुनि के रूप में पाया जाता है। अत: विदित होता है कि जिस समय महाभारत ने अपना वर्तमान रूप धारण किया उससे पूर्व 'रामायण' की गणना एक प्राचीन ग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध हो चुकी थी।

(३) महाभारत का अन्तिम संस्करण ४०० ई० में और रामायण का इससे पू० २०० ई० में पूरा हो चुका था।

(४) बौद्ध त्रिपिटकों में रामचरित्र सम्बन्धी वह प्राचीनतम रूप विद्यमान है जिसको कि चारणों ने पहले-पहल गाकर प्रचारित किया था।

(५) रामायण बौद्ध धर्म एवं ग्रीक प्रभाओं से सर्वथा अछूती है।

(६) रामायण की मूल कथा बौद्ध धर्म के आविर्भाव से पूर्व की है और उसकी रचना लगभग ५०० ई० पूर्व में हो चुकी थी।

इस प्रकार रामायण का रचना-काल ५०० ई० पूर्व माना जा सकता है और मेक्डोनल ने भी उसके—रामायण के—मूल भाग की रचना ५०० ई० पूर्व में होना स्वीकार किया है पर याकोबी ने मूल रामायण की रचना ई० सन् के पूर्व छठी शताब्दी तथा कीथ ने चतुर्थ शताब्दी मानी है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि प्रो० वेबर (Weber) ने तो महाभारत और यूनानी कवि होमर के पश्चात् रामायण का रचनाकाल माना है तथा हार्पकिंस, विंटरनिट्ज, विंसेन्ट स्मिथ, मेक्डोनल व मोनियर विलियम्स आदि की स्थापनाओं की आलोचना करते हुए श्री चिंतामणि विनायक वैद्य ने महाभारत की भाँति

रामायण के दो रूप माने हैं। उनका विचार है कि 'रामायण' के प्राचीनतम रूप की रचना १२०० ई० पू० और दूसरे रूप की रचना ५०० ई० पूर्व में हुई पर सेठ कन्हैया लाल पोद्दार ने वैद्य की कल्पनाओं को निस्सार व महत्वहीन कहा है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'रामायण' के काल-निर्णय-सम्बन्धी विश्लेषण पर विद्वानों का विवाद एक लम्बी अवधि तक बना रहा पर श्री चन्द्रशेखर पांडेय की भाँति श्री बलदेव उपाध्याय और श्री वाचस्पति गैरोला ने भी उसका रचनाकाल ५०० ई० पू० मानने पर जोर दिया है। गैरोलाजी का कहना है कि रामायण के रचनाकाल की समीक्षा उसके अन्तः साक्ष्यों को आधार पर बनाकर की जानी चाहिए और उन्होंने निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

(१) बौद्ध साहित्य में जिसको एक सामान्य ग्राम पाटिल नाम दिया गया है, उसको एक नगर के रूप में मगध नरेश अजातशत्रु ने ५०० ई० पूर्व के लगभग बसाया था। अजातशत्रु ने बज्जि लोगों के आक्रमणों की रक्षा के लिए इस नगर में गंगा-सोन के संगम पर एक परकोटा भी बनाया था। रामायण के सोण और गंगा के संगम के प्रसंग में पाटलिपुत्र का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता है, जिससे प्रतीत होता है कि पाटलिपुत्र नामकरण (५०० ई० पूर्व) से पहले 'रामायण' की रचना हो चुकी थी।

(२) कौशल जनपद की राजधानी 'रामायण' में अयोध्या बताई गई है। जैन, बौद्धों के साहित्य में उसको 'साकेत' नाम दिया गया है। लव ने अपनी राजधानी 'श्रावस्ती' में बसाई थी। इस दृष्टि से यह सिद्ध होता है कि 'रामायण' की रचना तभी हो चुकी थी, जब कोशल जनपद की राजधानी श्रावस्ती में न होकर अयोध्या में थी। बुद्ध के समकालीन कौशल नरेश की राजधानी भी श्रावस्ती ही थी। इससे विदित होता है कि 'रामायण' निश्चित रूप से श्रावस्ती राजधानी की स्थापना से पहले ही रची जा चुकी थी।

(३) बुद्ध के समय जिस वैशाली राजतंत्र का पर्याप्त उल्लेख मिलता है, रामायण में वह 'विशाला' और मिथिला' दो राजतंत्रों में विभाजित था। विशाला का तत्कालीन राजा सुमति था। उसका यह नामकरण राजा इक्ष्वाकु एवं रानी अलम्बुसा से उत्पन्न पुत्र विशाल द्वारा बसाए जाने के कारण हुआ। इसी प्रकार मिथिला से उस समय जनकवंशीय राजा सीरध्वज जनक राज्य करता था। इससे निश्चित है कि 'रामायण' की रचना तथागत बुद्ध के पहिले हो चुकी थी।

उक्त अंतःसाक्ष्यों के आधार पर श्री वाचस्पति गैरोला रामायण का रचनाकाल ५०० ई० पूर्व मानते हैं पर श्री बलदेव उपाध्याय ने तो आभ्यंतरिक प्रमाणों के साथ-साथ बाह्य प्रमाणों के आधार पर भी रामायण का रचना काल ईसा से पूर्व निर्धारित किया है। उनका कहना है कि, "राम वैदिक, बौद्ध तथा जैन धर्मों में समभाव से मर्यादा पुरुष माने जाते हैं। बौद्ध साहित्य में तथा जैन साहित्य में रामकथा का निर्देश स्पष्टतया किया गया है। बौद्ध कवि कुमारलात (१०० ई०) की 'कल्पना मैड-त्तिका' में रामायण के सर्वसाधारण में वाचन का उल्लेख है। जैन कवि विमलसूरि ने रामकथा को 'पउमचरिअ' नामक प्राकृत भाषा के महाकाव्य में निबद्ध किया है। विमलसूरि ने इस काव्य की रचना महावीर की मृत्यु से ५३० वर्ष के अन्तर (लगभग ६२ ई०) में की है। यह काव्य वाल्मीकीय रामायण को आदर्श मानकर जैन धर्माव-

लम्बियों को इस मर्यादापुरुष के चरित्र से परिचय प्राप्त कराने के लिए ही किया गया है। महाकवि अश्वघोष (७८ ई०) ने अपने बुद्धचरित में सुन्दरकांड की अनेक रमणीय उपमाओं और उत्प्रेक्षाओं को निबद्ध किया है। बौद्धों के अनेक जातकों में रामकथा का स्पष्ट निर्देश है। 'दशरथजातक' तो रामकथा का पूरा आख्यान ही है जिसमें राम पंडित बुद्ध के ही पूर्वकालीन प्रतिनिधि माने गये हैं। वाल्मीकि रामायण का एक श्लोक भी इस जातक में पाली रूप में उपलब्ध होता है। जातकों का समय निरूपण झमेले का विषय है। यद्यपि उनकी कथाएँ इससे भी पूर्व इस देश में प्रचलित थीं, तथापि उनका समय तृतीय शतक ई० पूर्व में साधारणतया माना जाता है। इन बाहरी प्रमाणों के आधार पर रामायण तृतीय शतक ई० पूर्व से भी पहले की रचना सिद्ध होती है। इस प्रकार हम उक्त सभी मतों के आधार पर 'वाल्मीकि रामायण' का रचना-काल ५०० ई० पूर्व मानने के पक्ष में हैं।

'वाल्मीकि रामायण' को चतुर्विंशति साहस्त्र संहिता' भी कहा जाता है अर्थात् इसमें २४ हजार श्लोक हैं और 'चरित्र रघुनाथस्य शतकोटि प्रविस्तरम्' तथा 'ततः स वर्णयाभास राघव ग्रन्थकोटिभः' नामक उक्तियों से यह भी प्रतीत होता है कि वाल्मीकि ने रामायण कथा को सौ करोड़ श्लोकों में निबद्ध किया था। यों तो 'वाल्मीकि रामायण' की जो प्रतियाँ अब उपलब्ध होती हैं उनमें प्रायः सात कांड और चौबीस हजार श्लोक मिलते हैं पर प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों से उनका मिलान करने पर वर्तमान प्रति का कलेवर विस्तार ठीक-ठीक नहीं मिलता। साथ ही वाल्मीकि रामायण के जो भी प्रामाणिक संस्करण कहे जाते हैं उनका पाठानुसंधान करने से पता चला कि उनमे पर्याप्त भिन्नता है तथा यह भी नहीं कहा जा सकता कि उनमें कौन संस्करण अधिक प्रामाणिक है। साथ ही रामायण की कथा का तुलनात्मक विश्लेषण करके और उसमें अंकित विभिन्न प्रसंगों का ऐतिहासिक समीक्षण करके विद्वानों ने यह मत भी प्रकट किया है कि उसक समय-समय पर प्रक्षिप्त अंश जुड़ते गये तथा श्री चन्द्रशेखर पांडेय के शब्दों में, "लोकप्रिय होने के कारण 'रामायण' मे निरन्तर कुछ-न-कुछ प्रक्षेप होते रहे हैं।" उनके प्रायः सभी आलोचकों का मत है कि बालकांड और उत्तरकांड मूल्य ग्रंथ में नहीं थे, वे बाद में जोड़ दिये गये हैं। प्रो० याकोबी के मतानुसार, "रामायण के मूल पाठ में अयोध्याकांड से युद्धकांड तक पाँच ही कांड थे। युद्धकांड के अन्त में दी गई फलश्रुति से रामायण की समाप्ति वहीं पर स्पष्ट जान पड़ती है, उत्तरकाण्ड की रचना-शैली अन्य प्रामाणिक कांडों की शैली से भिन्न है। उसकी अधिक से अधिक सामग्री रामचरित से सम्बन्ध नहीं रखती और जो सम्बन्ध रखती है उसमें भी एकता नहीं है। उत्तरकांड में अन्य कांडों को देखते हुए पुनरुक्ति दोष तथा विरोधी बातें भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ, युद्ध कांड के अन्तिम सर्ग में सुग्रीव, विभीषण आदि के चले जाने का स्पष्ट उल्लेख हुआ है, फिर भी उत्तरकांड में पुनः उनके प्रस्थान का वर्णन किया गया है (सर्ग ४०)। उत्तरकांड के १७वें सर्ग में वेदवती की कथा आती है, जिसके अनुसार सीता अपने पूर्व जन्म में वेदवती ही थी। यदि यह वृत्तान्त प्रक्षिप्त न होता तो उसका उल्लेख 'रामायण' के अन्य कांडों में जहाँ सीता-जन्म का प्रसंग आया है, अवश्य किया जाता। साथ ही, यह भी उल्लेखनीय है कि 'महाभारत' के 'रामोपाख्यान' में तथा संस्कृत के अनेक राम-काव्यों में उत्तरकांड की कथा वर्णित नहीं है।"

बालकांड की शैली भी बहुत कुछ उत्तरकांड की शैली जैसी है। उसका भी

प्रायः आधा भाग रामचरित से सम्बन्ध नहीं रखता। उसकी भी अनेक उक्तियाँ बाद के पाँच कांडों से मेल नहीं खातीं। उदाहरणार्थ, बालकांड में लक्ष्मण और उर्मिला का विवाह वर्णित है, किन्तु अरण्यकांड में सूर्पणखा के प्रसंग में लक्ष्मण को अविवाहित (अकृतदारः) बताया गया है। केवल बालकांड और उत्तरकांड में राम हमारे सामने विष्णु के अवतार के रूप में आते हैं। अन्य कांडों में कुछ प्रक्षिप्त स्थानों को छोड़कर, वे एक आदर्श माननीय महापुरुष की भाँति ही चित्रित किये गये हैं। इन प्रक्षिप्त दो कांडों में महाभारत की भाँति कथन का स्वाभाविक प्रयोग आनुषंगिक आख्यानों से बहुधा अवरुद्ध हो गया है। अन्य कांड में से ऐसे आख्यानों की संख्या बहुत थोड़ी है।

इनका तात्पर्य यह नहीं कि अयोध्याकांड से युद्ध कांड तक प्रक्षिप्त अंश है ही नहीं। इन पांच कांडों में भी कई प्रक्षेप हैं, पर वे भिन्न प्रकार के हैं। इन प्रक्षेपों की सृष्टि सूतों और कुशीलवों द्वारा हुई, जिन्होंने इन कांडों के हृदयग्राही अंशों का विस्तार कर दिया। जब सहृदय श्रोतागण दशरथ, कौशल्या या सीता के करुण विलापों का वर्णन सुन नेत्रों से अश्रु विमोचन करने लगते; या राम-रावण के प्रचंड पराक्रमपूर्ण युद्ध बर्णन से प्रभावित होने लगते, अथवा नीतियुक्त या शील-सौन्दर्य-परिचायक उक्तियों पर मंत्र मुग्ध होने लगते, तब इन कुशीलवों को वाग्विस्तार और अपनी कल्पना के प्रसार का अच्छा अवसर मिल जाता। इस प्रकार रामायण के प्रक्षेपों की सृष्टि हुई।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पाठ भेदों व उक्त तथाकथित प्रक्षेपों से 'वाल्मीकि रामायण' के रसास्वादन में किसी भी प्रकार की बाधा नहीं पड़ती और उसकी सहज स्वाभाविकता, भाव प्रवणता, एवं सौन्दर्य-चेतना से पाठक निस्संदेह मन्त्र मुग्ध हो उठता है। एक विचारक के कथनानुसार, "विषय की उत्कृष्टता, घटनाओं का वैचित्र्यपूर्ण विन्यास, भाषा का सौष्ठव, प्रकृति का अत्यन्त सजीव रूप में उपस्थापन, पात्रों का मार्यादित विकास, मानवीय मनोभावों का उदात्तीकरण आदि जिस दृष्टि से भी देखें 'रामायण' एक निपुण कवि-कलाकार की मनोहर रचना है। रस, गुण, अलंकार तथा ध्वनि के सभी भेद-प्रभेदों के उदाहरण 'रामायण' में प्रचुर मात्रा में मिल जाते हैं। महाकाव्य का सर्वप्रथम निदर्शन 'वाल्मीकीय रामायण' ही है। इसी का विश्लेषण करके अलंकारिकों ने महाकाव्य के लक्षण प्रस्तुत किये हैं। लौकिक संस्कृत में श्लोक रचना का सर्वप्रथम श्रेय बाल्मीकि को ही प्राप्त है। काव्य और नैतिकता का ऐसा मनमोहक समन्वय अन्यत्र नहीं पाया जाता।" यहाँ 'रामायण का एक सुप्रसिद्ध 'अनुष्टुप' उदाहरणार्थ प्रस्तुत है—

सागरं चाम्बर प्रख्यमम्बर सागरोपमम्।
रामरावणोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥ ६-१०७.५२

अर्थात् 'जिस प्रकार आकाश की उपमा आकाश से ही दी जा सकती है और समुद्र की तुलना समुद्र से ही की जा सकती है, उसी प्रकार राम-रावण युद्ध की समता राम-रावण युद्ध से ही की जा सकती है।' इसी प्रकार सीता द्वारा कवि ने रावण के प्रति तिरस्कार प्रदर्शित करते हुए कहलाया है—

त्वं पुनर्जम्बूकः सिंहीं मामिहेच्छसि दुर्लभाम्
नाहं शक्या त्वया स्प्रष्टुमादित्यस्य प्रभा यथा ॥ ३-४७-३७

अर्थात् 'अभागे, तू सियार है और मैं सिंहनी हूँ। मैं तेरे लिए सर्वथा दुर्लभ हूँ। क्या तू मुझे पाने का हौसला रखता है? जैसे सूर्य की प्रभा पर कोई हाथ नहीं लगा सकता, वैसे ही तू मुझे छू भी नहीं सकता।'

रामायण में अपूर्व रसात्मकता के साथ-साथ मनोरम उपमाओं व उत्प्रेक्षाओं का भी प्रयोग हुआ है और प्रकृति के भी अनेक सुन्दर व भव्य चित्र विद्यमान हैं तथा कवि ने चन्द्र के बहुविध स्वरूप अंकित करते हुए कहा भी है—

हंसो यथा राजतपंजरस्थ सिंहो यथा मकरकन्दरस्थः ।
वीरो यथा गर्वित कुंजरस्थश्चन्दोऽपि बभ्राज तथाम्बरस्थः ॥
शिलातलं प्राप्य यथा मृगेन्द्रो महारणं प्राप्य यथा गजेन्द्रः ।
राज्यं समासाद्य यथा नरेन्द्रस्तथा प्रकाश विरराज चन्द्रः ॥

अर्थात् 'आकाश में चन्द्र वैसे ही सुशोभित हो रहा था, जैसे चाँदी के पंजर में हंस, मन्दर पर्वत की कन्दरा में पड़ा हुआ सिंह या मत्त हाथी पर बैठा हुआ वीर सुशोभित होता है। मृगेन्द्र शिला-तट पर जाकर, गजेन्द्र रणभूमि में पहुँच कर अथवा नरेन्द्र राज्य पाकर चमक उठते हैं, वैसे ही आकाश में चन्द्र विराजमान हुआ।"

'रामायण' में शृङ्गारात्मक व युद्ध विषयक-प्रकरणों का भी विशद वर्णन मिलता है और बाल्मीकि ने यह भी बतलाया है कि समाज में जिस स्थिति में जो व्यक्ति है, वही उसका आदर्श व्यक्तित्व होना चाहिये इसलिए मूलतः एक काव्य ग्रन्थ होते हुए भी 'रामायण' इतिहास की दृष्टि से भी अपना कुछ कम महत्व नहीं रखता और डॉ० शांतिकुमार नानूराम व्यास के कथनानुसार, "उसमें रामराज्य की ऐतिहासिक घटनाओं का काव्यमय वर्णन उपस्थित किया गया है। साथ-ही-साथ नैतिक आदर्शों का प्रतिपादन करना भी कवि को इष्ट था और इस कारण राम जहाँ धर्म के प्रतीक बन गये वहाँ रावण का अधर्म का। किन्तु सारी कथा में रूपक अथवा प्रतीक-मात्र देखने का कोई समीचीन कारण नहीं। भारतीय परम्परा तथा समग्र संस्कृत साहित्य में राम को एक ऐतिहासिक पुरुष के रूप में ही स्वीकार किया गया है। वास्तव में 'रामायण' हमारा राष्ट्रीय आदि काव्य है, जिसकी रचना के प्रसंग में कवि ने समस्त भारत में आर्य आदर्श के प्रसार का मार्मिक एवं कवित्वपूर्ण इतिहास प्रस्तुत किया है। धार्मिक एवं नैतिक आदर्शों का भण्डार होते हुए भी 'रामायण' एक महत्वपूर्ण मानवीय समाजशास्त्र भी है, जो प्राचीन भारतीय आर्यों की संस्कृति का—उनके जीवनयापन का—सजीव वर्णन उपस्थित करता है। उसकी उपमा एक ऐसे पर्वत-शिखर से दी जा सकती है जिसकी चोटी से हम आर्यों की प्राचीन सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक व्यवस्था का दिग्दर्शन कर सकते हैं।

भारतीय साहित्य के आधे से अधिक भाग को 'वाल्मीकि-रामायण' ने प्रेरित किया है। संस्कृत साहित्य तो रामायण का चिरऋणी है। मुरारि के शब्दों में, "समस्त कविरूपी व्यापारियों के लिए वाल्मीकि ने एक सामूहिक पूंजी प्रस्तुत कर दी है"— 'अहो सकल कवि सार्थसाधारणी खल्विदं वाल्मीकीया सुभाषितनीवी।' "आधुनिक भारतीय भाषाओं के साहित्य में भी रामकथा की अद्वितीय व्यापकता दिखाई पड़ती है। साहित्य के अतिरिक्त सभ्यता एवं संस्कृति के सभी क्षेत्रों में 'रामायण' का अभूतपूर्व प्रभाव पड़ा है। पश्चिम की सभी प्रमुख भाषाओं में उसका रूपान्तर हो चुका है। वृहत्तर भाग के देशों की कला और संस्कृति तथा वहाँ के साहित्य पर भी वाल्मीकीय रामायण का प्रभाव आज तक स्पष्ट झलकता है।"

प्रश्न (१८) महाभारत के रचना-काल और वर्ण्य-विषय के सम्बन्ध में एक संक्षिप्त आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

उत्तर—यद्यपि कुछ समीक्षक 'महाभारत' को साधारणतः इतिहास-ग्रन्थ ही मानते हैं पर वह वास्तव में विश्व साहित्य का सर्वाधिक विशालकाय काव्य है और सिलवाँ लेवी नामक पाश्चात्य विचारक ने पी० सी० राय के नाम अपने एक पत्र में लिखा भी था—

"The Mahabharata is not only the largest, but also the grandest of all epics, as it contains throughout a lively teaching of morals under a glorious garment of poetry".

'महाभारत के रचयिता महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास कहे जाते हैं और प्रसिद्ध है कि इस ग्रन्थ में एक लाख अनुष्टय छन्द हैं तथा इसे 'शतसाहस्त्री संहिता' भी कहा जाता है। इसका यह स्वरूप कम से कम डेढ़ हजार वर्ष से अवश्य है क्योंकि गुप्त-कालीन शिलालेख में भी इसे 'शतसाहस्त्री संहिता' कहा गया है पर अनेक विद्वानों का कहना है कि महाभारत का यह रूप अनेक शताब्दियों में विकसित हुआ। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि हॉपकिन्स का कहना है कि इस महान् ग्रंथ का कोई लेखक न था और यह व्यास नाम जो प्रयुक्त हुआ है वह केवल अपनी सुविधा के लिए तथा व्यास वास्तव में उसका लेखक न होकर संपादक था। स्वयं 'महाभारत' में भी कहा गया है कि व्यास ने तीन वर्ष तक लगातार परिश्रम कर इस अद्भुत आख्यान महाभारत की रचना की। इस प्रकार व्यास ने महाभारत की कथा वैशम्पायन नामक अपने शिष्य को सुनाई और यही कथा वैशम्पायन ने अर्जुन के प्रपौत्र जनमेजय के सर्वसत्र में कही तथा बाद में लोमहर्षण के पुत्र सौति ने उस शौनकादि ऋषियों को तीसरी बार सुनाया। इस प्रकार 'महाभारत' तीन बार तीन वक्ताओं द्वारा तीन श्रोताओं को सुनाया गया और यहाँ यह भी सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि जो प्रश्नोत्तर वैशम्पायन व जनमेजय तथा सौति व शोक-कादि ऋषियों के मध्य हुए होंगे उनके फलस्वरूप मूल ग्रंथ निसंदेह परिवर्द्धित हो गया। अतः व्यास के ग्रंथ निस्संदेह परिवर्द्धित हो गया होगा। अतः व्यास के ग्रंथ को वैशम्पायन ने और वैशम्पायन के ग्रंथ को सौति से बढ़ाकर एक लाख श्लोकों का कर दिया।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'महाभारत' के तीन रूपान्तर हुए और विचा-रक उसके निम्नलिखित तीन क्रमिक स्वरूप मानते हैं—

(१) जय—विद्वानों की खोज के अनुसार महर्षि कृष्ण द्वैपायन व्यास ने जिस कथा को कहा उसका नाम 'जय' था और 'महाभारत' के आदि पर्व की इस उक्ति 'जय नामेतिहासोऽयं श्रोतव्यो विजीगीषुणा' के अनुसार यह नाम ऐतिहासिक है। संभवतः इस ग्रन्थ में केवल कौरव पांडव युद्ध का ही वर्णन रहा होगा और पाँडवों की विजय के कारण उसे 'जय' नाम दिया गया होगा। साथ ही यह भी उल्लेख मिलता है कि इस 'जय' नामक ग्रन्थ में ८,८००० श्लोक थे—

अष्टौ श्लोकसहस्त्राणि अष्टौ श्लोकशतानि च।
अहं वेद्मि शुको वेत्ति संजयो वेत्ति वान वा॥

(२) भारत—वैशम्पायन द्वारा जो कथा कही गयी उसका नाम भारत था और इसमें उपाख्यानों का समावेश न होकर युद्ध वर्णन को ही प्रधानता प्राप्त थी तथा इसमें केवल चौबीस हजार श्लोक थे—

चतुर्विंशतिसाहस्त्री चक्रे भारतसंहिताम।
उपाख्यानैर्विना तावद् भारतं प्रोच्यते बुधैः॥

(३) महाभारत—सौति ने विभिन्न आख्यान-उपाख्यानों और परिशिष्ट रूप में हरिवंश को भी संयुक्त कर उक्त दोनों को तीसरा रूप प्रदान किया तथा अठारह पर्वों में विभाजित, एक लाख श्लोक का यह ग्रन्थ 'महाभारत' कहलाया। पर 'महाभारत' के अनुसार उसकी वास्तविक श्लोक संख्या हरिवंश संहिता ६६,२२४ और कुछ प्रतियों में तो पूरे एक लाख तथा इससे अधिक श्लोक भी मिलते हैं।

इस प्रकार 'महाभारत' के कर्त्ता, वक्ता एवं प्रवक्ताओं का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि उसका निर्माण अनेक व्यक्तियों द्वारा विभिन्न समयों में हुआ और उसके कालनिर्णय के सम्बन्ध में देशी-विदेशी विद्वानों की जो पृथक्-पृथक् स्थापनाएँ हैं वे कुछ इतनी अधिक भिन्न हैं कि सहसा विश्वास नहीं होता कि महाभारत का निर्माण कब हुआ। यों तो विक्रम से लगभग पाँच सौ वर्ष पूर्व विरचित आश्वलायन गृह्यसूत्र में 'भारत' के साथ 'महाभारत' का नाम निर्दिष्ट है और ४४५ ई० (५०२ वि०) के एक शिलालेख में महाभारत का निर्देश इस प्रकार है—'शतसाही संहिताओं वेदव्यासेनोक्तम्।' अतः इससे प्रतीत होता है कि इससे कम से कम २०० वर्ष पूर्व इसका अस्तित्व अवश्य होगा। इसी प्रकार कनिष्क के सभापंडित अश्वघोष ने 'वज्र-सूची', उपनिषद् में हरिवंश के श्लोक और महाभारत से कुछ उद्धृत किए हैं तथा बौधायन के 'गृह्यसूत्र' में महाभारत से श्लोक उद्धृत हैं। चूँकि बौधायन और आश्वलायन का समय ई० से लगभग चार सौ वर्ष पूर्व माना जाता है अतः मूल महाभारत की रचना इससे (४०० ई० पू०) कम से कम दो सौ वर्ष पूर्व हो अवश्य गई होगी लेकिन महाभारत के कुछ अंश वैदिक युगीन भी हैं और इस सम्बन्ध में विंटरनिट्ज का कहना है—

"We have seen, however, that some elements of our present Mahabharata reach back into the vedic Period, and that much specially in the didactic sections, is drawn from a literary common property, from which also Buddhists and Jains (Probably in the 5th Century B. C.) have drawn."

इसी प्रकार श्री चिंतामणी विनायक वैद्य ने 'महाभारत मीमांसा' में महाभारत के दो रूप स्वीकार कर व्यासकृत 'भारत' की रचना ३१०० ई० पूर्व और सौति द्वारा महाभारत का निर्माण २००० ई० पूर्व माना है अतः उनके कथनानुसार वर्तमान महाभारत का रचना काल दो हजार ई० पू० है पर सेठ कन्हैयालाल पोद्दार उनके इस मत से सहमत नहीं हैं। उनका तो यही कहना है कि "इन कल्पनाओं के आधार पर महाभारत का न तो समय-समय पर बढ़ाया जाना ही सिद्ध हो सकता है और न उसके परिवर्द्धित होने का काल ई० सन् के दो-चार शताब्दियों के पूर्व प्रमाणित हो सकता है। अतएव महाभारत का निर्माण काल भारतीय युद्ध के अत्यन्त निकटवर्ती है, जैसा कि महाभारत के अन्तःप्रमाणों से सुस्पष्ट है, इसके बिना कोई भी विश्वसनीय प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।" इस प्रकार महाभारत के रचना-काल के सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य हो जाते हैं—

(१) महाभारत के कुछ अंश वैदिक युगीन भी हैं पर यहाँ यह स्मरणीय है कि वैदिक युग प्रागैतिहासिक है और चतुर्थ साहस्त्री तक प्रसारित है।

(२) महाभारत ६०० ई० पूर्व में अवश्य रहा होगा और इसके पूर्व संस्करण भारत व जय क्रमश: ८०० ई० पूर्व तथा १००० ई० पूर्व रचे गये होंगे।

(३) चौथी शती ई० तक महाभारत का प्राय: आधुनिक रूप सम्पन्न हो चुका था।

महाभारत में अठारह खंड हैं यह खंड पर्व कहे जाते हैं और उनके नाम इस प्रकार हैं : (१) आदि पर्व, (२) सभा पर्व, (३) वन पर्व, (४) विराट् पर्व, (५) उद्योग पर्व, (६) भीष्म पर्व, (७) द्रोण पर्व, (८) कर्ण पर्व, (९) शल्य पर्व, (१०) सौप्तिक पर्व, (११) स्त्री पर्व, (१२) शांति पर्व, (१३) अनुशासन पर्व, (१४) अश्वमेघ पर्व, (१५) आश्रमवासी पर्व, (१६) मौसल पर्व, (१७) महाप्रस्थानिक पर्व और (१८) स्वर्गारोहण पर्व। इस प्रकार "आदि पर्व में चन्द्रवंश का विस्तृत इतिहास तथा कौरव पांडवों की उत्पत्ति का वर्णन है। सभा पर्व में हैं द्यूत--क्रीड़ा; वन पर्व में पांडवों का वनवास, विराट पर्व में पांडवों का अज्ञातवास, उद्योग पर्व में श्रीकृष्ण का दूत बनकर कौरवों की सभा में जाना तथा शांति का उद्योग करना, भीष्म पर्व में अर्जुन को गीता का उपदेश, युद्ध का आरम्भ, भीष्म का युद्ध और शरशय्या पर पड़ना; द्रोण पर्व में अभिमन्यु वध, द्रोणाचार्य का युद्ध और वध, कर्ण पर्व में कर्ण का युद्ध और वध, शल्य पर्व में शल्य की अध्यक्षता में लड़ाई और अंत में वध, स्त्री पर्व में स्त्रियों का विलाप, शांति पर्व में भीष्म पितामह का युधिष्ठिर को मोक्ष धर्म का उपदेश, अनुशासन पर्व में धर्म तथा नीति की कथाएँ, अश्वमेघ में युधिष्ठिर का अश्वमेघ यज्ञ करना,आश्रमवासी पर्व में धृतराष्ट्र गांधारी आदि का वानप्रस्थ आश्रम में प्रवेश करना, मौसल पर्व में यादवों का मुसल के द्वारा नाश, महा प्रस्थानिक पर्व में पांडों की हिमालय यात्रा तथा स्वर्गारोहण पर्व में पांडवों का स्वर्ग में जाना वर्णित है।" साथ ही महाभारत में अनेक रोचक और शिक्षाप्रद उपाख्यान भी हैं जिनमें से शकुन्तलोपाख्यान, मत्स्योपाख्यान रामोपाखयान, शिवि उपाख्यान, सावित्री उपाख्यान और नलोपाख्यान विशेष प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त हरिवंश भी महाभारत का ही अंश समझा जाता है और इसमें यादवों की कथा विस्तारपूर्वक दी गयी है तथा इसके तीन पर्व हैं—(१) हरिवंश पर्व—जिसमें श्रीकृष्ण के पूर्वजों का वर्णन है; (२) विष्णु पर्व—जिसमें श्रीकृष्ण लीला का अत्यन्त विस्तृत वर्णन किया गया है; (३) भविष्यपर्व—जिसमें कलियुग के प्रभाव का वर्णन है।

उपर्युक्त कथन से महाभारत की विषय-वैविध्यता स्पष्ट हो जाती है और विचारकों ने उचित ही कहा है, "महाभारत का रचयिता अपने युग की समग्र साहित्यिक और सांस्कृतिक निधि को अपनी कला के माध्यम से एक सूत्र में उपनिबद्ध करने में सफल हुआ है।" हम यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि कुछ समीक्षक महाभारत को एक ग्रन्थ न मान कर प्रकांड संग्रह ग्रंथ मानते हैं और उनका विचार है कि यह इसके प्रत्येक पर्व की पुष्पिका से ही प्रभावित होता है, जिसमें इसके लिए संहिता अर्थात् संग्रह ग्रन्थ का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार, "यह कवि-रूपी माली का यत्नपूर्वक सँवारा हुआ उद्यान नहीं है, जिसके लता, पुष्प, वृक्ष अपने सौन्दर्य के लिए बाहरी सहायता की अपेक्षा रखते हैं, बल्कि यह अपने आपकी जीवनी शक्ति से परिपूर्ण वनस्पतियों और लताओं का अत्यन्त परिवर्द्धित विशाल बन है जो अपनी उपमा आप ही है। इसीलिए महाभारत को केवल महाकाव्य या पुराण मात्र न मान कर एक ऐसा विशाल

विश्व कोष माना जाता है जिसमें प्राचीन भारत की ऐतिहासिक, धार्मिक, नैतिक और दार्शनिक आदर्शों की अमूल्य निधि संचित है तथा स्वयं महाभारत में लिखा है कि वह सर्वप्रधान काव्य, सब दर्शनों का सार, स्मृति, इतिहास खान और पंचम वेद है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय में इस काव्य में जो कुछ कहा गया है, वही अन्यत्र है, जो इसमें नहीं वह अन्यत्र भी कहीं नहीं—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभः।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित् ॥

कहा जाता है कि "जैसे दही में मक्खन, मनुष्यों में ब्राह्मण, वेदों में आरण्यक, औषधों में अमृत, जलाशयों में समुद्र और चतुष्पादों में गौ श्रेष्ठ है, उसी प्रकार समस्त इतिहासों में यह 'भारत' श्रेष्ठ है। महाभारत के पात्र और उनका चरित्र भारतीय संस्कृति की अक्षयनिधि है। इनके गौरवगरिमा के मण्डित चरित का विश्लेषण करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है—

"महाभारत उज्ज्वल चरित्रों का विशाल वन है। इस ग्रन्थ में ऐसे मात्र बहुत कम हैं—नहीं हैं, कहता अधिक ठीक है–जो पहले पलकर चमके हों। सब के सब एक तूफान के भीतर से गुजरे हैं। उनका विकास कवि की सुनियन्त्रित योजना के इशारे पर नहीं हुआ है, वल्कि अपने आप की भीतरी शक्ति के द्वारा हुआ है; जैसे महावन का विशाल वनस्पति हो, जो तूफानों और शिला वृष्टियों की चोट सहकर और पार्श्ववर्ती वनराजि की भयंकर प्रतिद्वन्द्विता को पछाड़कर आकाश में सिर उठाता है। इन पात्रों ने अपना रास्ता स्वयं निकाला है, अपनी ही रची हुई विपत्ति की चिता में ये हँसते-हँसते कूद गये हैं। 'महाभारत' का अदना से अदना चरित्र भी डरना नहीं जानता; आत्म-विश्वास की ऐसी उच्छल-धारा सर्वत्र नहीं मिल सकती। सबके चेहरे पर अकुतोभव भाव है, अविश्वास की छाया कहीं नहीं पड़ी, भीति की शिकन से कोई विकृत नहीं हुआ—'निर्भीक, साहसी, तेजस्वी। 'महाभारत' पढ़ते समय पाठक एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ विपत्ति तो है पर भय नहीं है, असफलता तो है पर निराशा नहीं है, जीवन की गलतियाँ तो हैं पर उनके लिए अनुताप नहीं है। सरल तेज, अकृत्रिम दर्प, निर्भीक वीरत्व, विवेकयुक्त कर्त्तव्य और अकपट आचरण महा-भारतीय वीरों के चरित्र के मूल स्वर हैं।

इस प्रकार यहाँ निष्कर्ष स्वरूप यह कहा जा सकता है कि यह अमर भारत वृक्ष भावी कमियों के लिए उसी प्रकार आश्रय है, जैसे प्राणियों के लिए मेघ—

सर्वेषां कविमुख्यानमुपजीव्यो भविष्यति।
पर्जन्य इव भूतानामक्षयो भारतद्रुमः ॥

प्रश्न (१६) रामायण और महाभारत की तुलना कीजिए।

उत्तर—यदि हम सम्पूर्ण भारतीय साहित्य का विश्लेषण करें तो प्रमाणित होता है कि भारतीय साहित्य के ६० प्रतिशत साहित्य का सृजन रामायण व महाभारत के आधार पर हुआ है आज भी हो रहा है तथा विश्व कवि रवीन्द्रनाथ टैगोर ने उचित ही कहा है, "शताब्दियाँ बीतती चली जाती हैं, किन्तु रामायण और महाभारत का स्त्रोत भारत में नाम को भी शुष्क नहीं होता। प्रतिदिन गाँव-गाँव, घर-घर उनका पाठ होता रहता है। क्या बाजार की दूकानों पर और क्या राजद्वारों पर, सर्वत्र उनका समान

भाव से आदर होता है। ये दोनों महाकवि धन्य हैं, जिनके नाम तो काल के महा-प्रान्तर में लुप्त हो गये हैं, पर जिनकी वाणी आज भी करोड़ों नर-नारियों के द्वार-द्वार पर अपनी निरन्तर प्रवाहमान धाराओं से शक्ति और शांति पहुँचाती फिरती है और सैकड़ों प्राचीन शताब्दियों की उपजाऊ मिट्टी को प्रतिदिन बहाकर भारत की चित्तभूमि को उर्वरा बनाए हुए हैं।'' इस प्रकार रामायण और महाभारत दोनों ही संस्कृत साहित्य के अमर ग्रन्थ हैं और ''भारतवर्ष की जो साधना, जो आराधना और संकल्प है, उन्हीं का इतिहास इन दोनों विशालकाय काव्य प्रासादों के भीतर चिरकालिक सिंहासन पर विराजमान है।'' अतः यहाँ दोनों का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है पर हम उनकी तुलना मूलतः दो विषयों में ही कर सकते हैं–प्रथम तो उनके वर्ण्यविषय को लेकर और दूसरे उनके रचनाकाल को लेकर।

वर्ण्य-विषय की दृष्टि से रामायण और महाभारत की तुलना करते समय जब हम सर्वप्रथम दोनों ग्रंथों की पारस्परिक समानताओं पर विचार करते हैं तब हमारा ध्यान इस ओर जाता है कि, ''महाभारत का रामोपख्यान रामायण का ही संक्षिप्त रूप है। राम की कथा द्रौपदी के अपहरण के अवसर पर युधिष्ठिर को सांत्वना देने के लिए सुनाई जाती है। जयद्रथ द्वारा द्रौपदी का अपहरण 'रामायण' के सीता-हरण के आधार पर रचा गया मालूम होता है। किन्तु जहाँ रामायण के कथानक में सीता-हरण की घटना प्रमुख है, वहाँ भारत के अन्तर्गत द्रौपदी-हरण का वृत्तान्त आनुषंगिक और गौण है। इसके अतिरिक्त राम और अर्जुन की वीरता में, चौदह तथा तेरह वर्ष के वनवास में, सीता और द्रौपदी के स्वयंवरों में तथा देवताओं से दिव्यास्त्रों की प्राप्ति में–रामायण और महाभारत के कथांशों में समानता है। रामायण में पाण्डवों का कहीं उल्लेख नहीं है पर महाभारत में राम की कथा का ही नहीं; बल्कि वाल्मीकीय रामायण का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ तक कि महाभारत में रामायण का एक श्लोक भी उद्धृत किया गया है। अतः सम्भव यह है कि महाभारत ने ही रामायण से कुछ कथानक लिये हों, न कि रामायण ने महाभारत से।''

इसके पश्चात् 'रामायण और महाभारत' की असमानताओं का उल्लेख करते हुए प्रो० चन्द्रशेखर पांडेय ने कहा है, ''सूक्ष्म अध्ययन से दोनों में कई भेद दृष्टिगोचर होते हैं। 'रामायण' का कलेवर 'महाभारत' की अपेक्षा बहुत छोटा है। उसके कांड तथा कथावस्तु सुसम्बद्ध हैं। रामायण जहाँ एक व्यक्ति की कृति है वहाँ महाभारत में अनेक कर्त्ताओं की छाप है। इसी कारण जहाँ एक ओर 'रामायण' में भाव' भाषा और रचना-शैली की एकरूपता प्रायः समग्र ग्रन्थ में दीख पड़ती हैं, वहाँ दूसरी ओर 'महाभारत के भिन्न-भिन्न भागों में भाषा और रचना शैली का भेद स्पष्ट लक्षित होता है। 'रामायण' में एक मात्र लौकिक छन्दों का प्रयोग हुआ है। महाभारत में अनेक स्थलों पर वैदिक छन्द भी मिलेंगे। रामायण आदर्श की दृष्टि से लिखी गई है, महाभारत वास्तविक घटनात्मक दृष्टि से। रामायण के पात्र आदर्श हैं, उसमें नायक का पक्ष सर्वथा निर्दोष और प्रतिनायक का सर्वथा सदोष चित्रित किया गया है। किन्तु महाभारत की कथा ऐसी नहीं। कौरव और पांडव दोनों पक्षों में अच्छे और बुरे दोनों प्रकार के पात्र हैं। 'रामायण' मे आदर्श भ्रातृ प्रेम का चित्रण है तो 'महाभारत' की भित्ति ही भ्रातृद्रोह है। रामायण राम+अयन है, उसमें राम के चरित्र का ही प्राधान्य है तो महाभारत उज्ज्वल

चरित्रों का कानन या महाकान्तार है। वह एक व्यक्ति की गुण गाथा नहीं है। रामायण साधारणतया ब्राह्मणों द्वारा प्रतिपादित धर्म का दिग्दर्शन कराती है, महाभारत हिन्दू धर्म का बहुविध स्वरूप उपस्थित करता है। महाभारत में अनेक असम्बद्ध विषयों के रहते हुए भी हमें उस समय की सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक परिस्थितियों का जैसा स्वाभाविक और सजीव चित्रण उपलब्ध होता है वैसा 'रामायण' में नहीं।

'रामायण' और 'महाभारत' में सबसे बड़ा भेद संस्कृति का है। धर्म ही रामायण कालीन संस्कृति का प्राण है। 'महाभारत' का युग कर्मप्रधान था। रामायण में करुणा और भावुकता, सरलता और संयम का साम्राज्य है। महाभारत में दर्प और औद्धत्य, उग्रता और तेज का प्राधान्य है। 'रामायण' में पद-पद पर धर्म की दुहाई दी गई है, धर्म ही राम को वन जाने, अनेक कष्ट सहने, यहाँ तक कि सीता का परित्याग करने को बाध्य करता है। पर महाभारत में स्वाभिमान का दर्प उसके पात्रों की रग-रग में भरा है—गलती करने वाला अपनी गलती पर गर्व करता है, प्रेम करने वाला अपने प्रेम पर अभिमान करता है और घृणा करने वाला अपनी घृणा का खुलकर प्रदर्शन करता है। 'रामामण' पढ़ते समय पाठक एक जादू भरे वीरत्व के अरण्य में प्रवेश करता है, जहाँ पद-पद पर विपत्ति है, पर भय नहीं, जहाँ जीवन की चेष्टाएँ बार-बार असफलता की चट्टान पर चूर-चूर हो जाती हैं, पर चेष्टा करने वाला हतोत्साह नहीं होता। यदि महाभारत में राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम, भरत जैसे भाई; हनुमान जैसे भक्त और सीता जैसी पतिव्रता नारी नहीं है, तो 'रामायण' में भी भीष्म-जैसे तेजस्वी और ज्ञानी, बलराम जैसे फक्कड़, कुन्ती और द्रौपदी जैसे तेजोद्दृप्त नारियों और श्रीकृष्ण जैसे प्रत्युत्पन्नमति और गंभीर तत्वदर्शी पात्र दुर्लभ हैं।

रचनाकाल की दृष्टि से भी रामायण और महाभारत का तुलनात्मक विश्लेषण आवश्यक हो जाता है और भले ही भारतीय परम्परा में वाल्मीकि आदि कवि तथा महाभारत के रचयिता व्यास उनके पश्चाद्वर्ती द्वितीय कवि माने जाते हों; पर प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० वेबर ने सर्वप्रथम यह मत व्यक्त किया था कि रामायण की अपेक्षा महाभारत की रचना पहले हुई थी। इसी प्रकार संस्कृत साहित्य के एक भारतीय विद्वान् डॉ० राम जी उपाध्याय ने भी महाभारत का रचनाकाल रामायण की अपेक्षा अधिक प्राचीन माना है पर अधिकांश विद्वान् 'रामायण' को 'महाभारत' से अधिक प्राचीन मानते हैं और यों भी युग की दृष्टि से विचार करने पर वाल्मीकि व्यास से पूर्ववर्ती हैं क्योंकि वाल्मीकि त्रेतायुग में होने वाले रामचन्द्र के समकालीन हैं तथा व्यास द्वापर युग में उत्पन्न होने वाले पांडवों के समसामयिक हैं। साथ ही कालक्रम की पुष्टि भी 'वाल्मीकि रामायण' महाभारत से पहले की रचना है और इसकी पुष्टि में श्री बलदेव उपाध्याय ने निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

(१) महाभारत के पात्रों के चरित्र तथा घटनाओं में व्यावहारिकता का पुट है। जुआ खेलना, खेल में हार जाना, राज्य का न मिलना और उसके लिए युद्ध करना आदि घटनाएँ व्यवहार तथा विश्वास के क्षेत्र से बाहर नहीं हैं। पर रामायण में ऐसी घटनाएँ हैं जिन पर साधारण मनुष्य अपना विश्वास नहीं जमा पाता। सन्तान के लिए पुत्रेष्टि यज्ञ करना, रीछ और बानरों की सहायता से लड़ना, समुद्र के ऊपर पत्थर का विराट पुल बाँधना, रावण का दस सिर होना आदि घटनाएँ मानव संस्कृति

की उस प्राथमिक दशा की ओर संकेत करती हैं जब आश्चर्यजनक घटनाओं में विश्वास करना कोई अस्वाभाविक बात न थी ।

(२) रामायण में आर्य सभ्यता अपने विशुद्ध रूप में चित्रित की गई है, उनमें म्लेच्छों का, जो सम्भवत: भिन्न वर्ग तथा संस्कृति के अनुयायी थे, तनिक भी सम्पर्क नहीं दीख पड़ता । परन्तु महाभारत में म्लेच्छों का सम्पर्क पर्याप्त रूप से विद्यमान है । दुर्योधन की आज्ञा से जिस पुरोचन नामक मन्त्री ने लाख (लाक्षा) का घर बनाया था वह म्लेच्छ ही था । महाभारत के युद्ध में दोनों ओर से लड़ने वाले अनेक म्लेच्छ राजाओं के भी नाम मिलते हैं । इतना ही नहीं, विद्वान् लोग म्लेच्छों की भाषा से भी परिचित थे । विदुर ने इसी म्लेच्छ भाषा में युधिष्ठिर को लाख के घर की घटना की सूचना पहले ही सभा में दे रखी थी । उक्त भाषा का प्रयोग इसलिए किया गया कि अन्य सभासद् इसको समझ न सकें ।

(३) भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर भी महाभारत पीछे लिखा गया मालूम होता है । रामायण की रचना के समय में दक्षिण भारत में अनार्य जंगली जातियों का ही निवास था । आर्यों की सभ्यता, विन्ध्य पर्वत तक ही सीमित थी । परन्तु महाभारत के समय में दक्षिण भारत राजनीतिक दृष्टि व्यवस्थित; सुशासित तथा सभ्य दीख पड़ता है । भीष्म पर्व में दक्षिण भारत के राजाओं के प्रतिनिधि राजसूर्य यज्ञ में उपहार लेकर उपस्थित होते हैं । दक्षिण भारत का यह राजनीतिक परिवर्तन सूचित करता है कि महाभारत की रचना पीछे हुई ।

(४) महाभारत युद्ध में युद्ध-कला की विशेष उन्नति दिखाई पड़ती है । द्रौपदी के स्वयम्वर में सीता स्वयंवर के समान केवल एक धनुष को तोड़ देना ही वीरत्व का मापदंड नहीं है, प्रत्युत एक विशिष्ट प्रकार से लक्ष्य-भेद करना वीरता की कसौटी है । लंकायुद्ध में योद्धागण परस्पर केवल पत्थरों और वृक्षों से प्रहार करते हैं, परन्तु महाभारत युद्ध सैनिक में लोग विशिष्ट सेनापति की देख-रेख में लड़ते हैं । व्यूह की रचना इस युद्ध की महती विशेषता है जिसमें अल्पसंख्यक सैनिक बहुसंख्यक सेना के आक्रमण को रोकने में समर्थ होते हैं । युद्ध-कला का यह महाभारत कालीन विकास इस बात को प्रमाणित कर रहा है कि महाभारत बाद की रचना है ।

(५) दोनों की सामाजिक दशा में विशेष अन्तर है । रामायण का समाज आदर्शवाद पर प्रतिष्ठित है । पिता कुटुम्ब का नेता तथा पोषक है । राम आदर्श पुत्र हैं, भरत भ्रातृत्व के गुणो के आगार हैं, सुग्रीव मित्रता की कसौटी हैं । उधर महाभारत की सामाजिक दशा में आदर्शवाद के लिए स्थान नहीं है । भरत के समान भीम अपने पितृतुल्य ज्येष्ठ भाई के आदेश का पालन करना अपना कर्त्तव्य नहीं मानते । यदि धर्मराज संधि करने के इच्छुक हैं, यो वे उनका घोर विरोध करने पर तुले हैं, विजय की सिद्धि के लिए चोरी करना या असत्य भाषण किसी प्रकार का पार नहीं माना जाता था ।

(६) रामायण में नैतिक भावना अपने ऊँचे आदर्श पर प्रतिष्ठित है, परन्तु महाभारत में यह भावना ह्रास को पाकर नीचे खिसकने लगी । मैथिली तथा द्रौपदी के चरित्र की तुलना इसे स्पष्ट करती है । सुन्दरकांड में हनुमान सीता को अपनी पीठ पर बैठाकर राम के पास चलने का प्रस्ताव करते हैं, परन्तु सीता पर-पुरुष के शरीर का स्पर्श नहीं कर सकती हैं । अत: वह इसे तिरस्कार कर देती है । रावण वध के अनन्तर सीता

कठिन अग्नि परीक्षा में तप्त होकर अपने पावन चरित्र को सिद्ध करती हैं। महाभारत की द्रौपदी काम्यक वन में जयद्रथ के द्वारा हरण की जाती है परन्तु उनका पुनर्ग्रहण बिना किसी रोक-टोक के कर लिया जाता है।

(७) रामायण में महाभारत की घटनाओं तथा पात्रों का उल्लेख तक नहीं है, परन्तु महाभारत रामायण की कथा तथा पात्रों से पूरी तरह परिचित है। वन पर्व के तीर्थ यात्रा प्रसंग में श्रृङ्गवेरपुर (प्रयाग जिले का सिंगरामऊ) तथा ग्रोप्रतार (फैजाबाद में सरयू का गुप्तार घाट) तीर्थ में गिने गये हैं क्योंकि पहले स्थान पर राम ने गंगा पार किया और दूसरे पर वे अपनी प्रजाओं के साथ भूलोक से स्वर्ग चले गये। वन पर्व के अध्यायों में (अ० १७३-९३) रामोपाख्यान पर्व है जिसमें रामचन्द्र की कथा विस्तार से वर्णित है। इस उपाख्यान में वाल्मीकीय रामायण के श्लोक ज्यों के त्यों रखे गये हैं। उपमाएँ तथा कल्पनाएँ वाल्मीकि से ली गई हैं।

रामायण के श्लोकों की समता केवल रामोपाख्यान में ही उपलब्ध नहीं होती, प्रत्युत महाभारत के अन्य पर्वों में भी यह समता तथा निर्देश नितान्त सुस्पष्ट हैं। उदाहरणार्थ माया सीता के मारते समय इन्द्रजीत ने हनुमान से जो वचन कहे थे, वे ही वचन द्रोणपर्व में भी अक्षरशः प्राप्त होते हैं—

न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति तद्ब्रवीषि प्लवङ्गम।
पीडाकरममित्राणां यच्च कर्तव्यमेव तत्॥ युद्ध ८१। २८
अपि चायं पुरा गीतः श्लोको वाल्मीकिना भुवि।
न हन्तव्याः स्त्रियश्चेति तद्ब्रवीषि प्लवङ्गम॥
सर्वकालं मनुष्येण व्यवसायवता सदा।
पीडाकरममित्राणां यत् स्यात् कर्त्तव्यमेव तत्॥ द्रोणपर्व

इन प्रमाणों के अनुशीलन से किसी भी निष्पक्ष आलोचक को भारतीय परम्परा की सत्यता पर अविश्वास नहीं हो सकता कि रामायण कालक्रम से महाभारत से पूर्व की रचना है।

प्रश्न (२०) संस्कृत महाकाव्यों की परम्परा में कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ और श्रीहर्ष के महाकाव्यों की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।

उत्तर—वस्तुतः भारतीय महाकाव्यों की परम्परा पर विचार करते समय सर्वप्रथम संस्कृति के महाकाव्यों पर ही प्रकाश डाला जाता है और चूँकि वेद ही हमारे साहित्य के मूल स्रोत समझे जाते हैं अतः संस्कृत कविता का मूल उद्‌गम ऋग्वेद में ही दीख पड़ता है। इतना ही नहीं विचारक महाकाव्य के विकास का परिचय देते समय भी कहते हैं कि महाकाव्य का बीज स्पष्ट ही ऋग्वेद के प्रथम मंडल के ३२वें सूक्त में इन्द्र और वृत्र के युद्ध के रोचक आख्यान में विद्यमान है। डॉ० रामजी उपाध्याय ने तो महाकाव्य और उन आख्यानमूलक सूक्तों में तत्वतः कुछ भी भेद नहीं माना तथा उनका यही कहना है, "महाकाव्य में जहाँ इसी कथा के निरूपण में सहस्त्रों श्लोक होते, वहाँ सूक्तों में केवल १६ श्लोक हैं। सूक्त की शैली महाकाव्य की शैली के समान ही उदात्त है। वैदिक साहित्य के अनेक उल्लेखों से ज्ञात होता है कि सूक्त आख्यान का शनैः शनैः विकास हुआ। इनके विकास को एक दशा का परिचय गाथा नाराशंसी कोटि की रचनाओं में हुआ। इनके सम्बन्ध में विंटरनित्ज़ ने लिखा है कि—

पुरुषों से सम्बद्ध ये स्तुति गीत ऋग्वेद की दान स्तुतियों के तथा अथर्ववेद के कुछ ताप सूक्तों के समकक्ष पड़ते हैं। परवर्ती युग के आख्यान काव्य, रामायण और महाभारत का रूप विन्यास इन्हीं के आधार पर हुआ है क्योंकि इनकी कथावस्तु वीरों और राजाओं की पराक्रम गाथा है।''

इस प्रकार विचारक रामायण और महाभारत को परवर्ती युग के महाकाव्यों का पूर्व रूप मानते हैं तथा इसमें कोई संदेह नहीं कि वाल्मीकि कृति रामायण द्वारा ही काव्यधारा विभिन्न स्रोतों में प्रवाहित होती हुई भास, कालिदास, अश्वघोष, भारवि, माघ तथा भवभूति आदि की सहायता से कविता कानन को सींचती रही है। वाल्मीकि रामायण ने न केवल परवर्ती कवियों के सामने महाकाव्य का आदर्श उपस्थित किया है बल्कि उनकी कृतियों को प्रभावित भी किया है। भारतीय आचार्यों ने रामायण को आदिकाव्य और वाल्मीकि को आदि कवि माना है। आदि कवि की रामायण और महर्षि व्यास के 'महाभारत' द्वारा ही ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा का भी विकास हुआ है।'' यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'आदि कवि की प्रेरणामयी रचना के बाद जिन कवियों ने संस्कृत की काव्यशैली को निखारने का प्रयास किया, उनके नाम आज लुप्तप्राय हो गए हैं, और इस कारण कालिदास से पहले के किसी महत्वपूर्ण महाकाव्य की उपलब्धि हमें नहीं होती। फिर भी ऐसे अनेक संकेत अवश्य मिलते हैं जिनमें पाँचवीं शती ई० पू० से लेकर प्रथम शती ई० पू० तक काव्य साहित्य का पर्याप्त अनुशीलन प्रमाणित होता है। स्वयं पाणिनि 'जाम्वती विजय' और 'पाताल विजय' के कर्त्ता माने जाते हैं। पतंजलि ने किसी 'वाररुच महाकाव्य' के अतिरिक्त कई आख्यायिकाओं और नाटकों का भी उल्लेख किया है। कालिदास के महाकाव्यों में काव्य शैली का श्रेष्ठ परिपाक हुआ है, उससे यह स्पष्ट है कि वाल्मीकि से कालिदास तक अनेक कवियों ने इस क्षेत्र में कार्य किया होगा, पर समय के प्रवाह में अथवा कालिदास के सर्वातिशायी प्रभाव के कारण, उनकी कृतियाँ नष्ट या विस्मृत हो गईं।

कालिदास

स्थितकाल और कृतियाँ—कलिदास के स्थितिकाल का प्रश्न अत्यन्त जटिल और विवादग्रस्त है तथा उनके समय के सम्बन्ध में प्रधानतया तीन मत हैं—

पहला मत—कालिदास को षष्ठ शतक का बतलाता है।
दूसरा मत—गुप्तकाल में कालिदास की स्थिति मानता है।
तीसरा मत—विक्रम सं० के आरम्भ में उनका समय बतलाता है।

चूँकि भारतीय जनश्रुति के आधार पर कालिदास राजा विक्रमादित्य के नवरत्नों में सर्वोपरि थे और स्वयं कालिदास के ग्रन्थों में भी उनकी विक्रमादित्य के साथ रहने की बात पुष्ट हो जाती है अतः उन्हें राजा विक्रम की सभा का रत्न मानने के विपक्ष में किसी ने भी अपने मत नहीं व्यक्त किए पर भारतीय इतिहास में विक्रम उपाधि वाले चार राजाओं का उल्लेख प्राप्त होने से कालिदास का समय भी विभिन्न शताब्दियों में माना गया। साथ ही स्वयं कालिदास ने शुङ्गवंशीय राजा अग्निमित्र (विक्रमपूर्व द्वितीय शतक) को अपने मालविकाग्निमित्र नाटक का नायक बनाया है अतः उनका उस समय विद्यमान रहना स्वाभाविक ही सिद्ध हो जाता है पर सातवीं शताब्दी के हर्षवर्धन के सभाकवि बाणभट्ट द्वारा हर्ष चरित में कालिदास की कविता की प्रशस्त

प्रशंसा करने से कालिदास का समय विक्रमपूर्व द्वितीय शतक से लेकर विक्रम के सप्तम शतक के मध्य अनुमानित किया जाता है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि कुछ विचारकों ने विक्रमादित्य का सम्बन्ध चन्द्रगुप्त द्वितीय से स्थापित कर कालिदास का समय बौद्ध महाकवि अश्वघोष के पश्चात निर्धारित किया है और डॉ० हर्नली एवम् डॉ० फर्गुसन आदि कुछ विद्वान् कालिदास को नरपति यशोवर्धन का राजकवि सिद्ध कर; छठी शताब्दी में स्थान प्रदान करते हैं तथा यशोवर्धन को हूणविजेता के नाते 'विक्रमादित्य' विरुदधारी कहते हैं पर यह मत अब ग्राह्य नहीं है। साथ ही कई विद्वानों ने कालिदास को प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में स्थान प्रदान किया है और वह शक विजेता 'विक्रमादित्य' का विरुद धारण करने वाले एवं मालव संवत् को विक्रम सम्वत् में परिवर्तित करने वाले सम्राट चन्द्रगुप्त (३७५-४१० ई०) को कालिदास का आश्रयदाता सिद्ध करते हैं। इस मत का समर्थन व प्रतिपादन डॉ० स्मिथ, मेक्डानल, कीथ, भंडारकर, पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, पं० हरप्रसाद शास्त्री आदि विद्वानों ने भी किया है तथा सब अधिकांश आधुनिक आलोचक कालिदास को ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखने के लिए प्रस्तुत किए जाने वाले तर्क और प्रमाणों को अधिक विश्वसनीय समझते हैं अतः हम भी कालिदास का यही समय मानते हैं।

महाकवि कालिदास के स्थिति काल के सम्बन्ध में जिस प्रकार मतभेद पाया जाता है उस प्रकार उनकी कृतियों के सम्बन्ध में भी कुछ कम विवाद नहीं हैं क्योंकि काव्य जगत् में कालिदास की ख्याति होने पर अवान्तरकालीन अनेक कवियों ने 'कालिदास' का प्रसिद्ध अभिधान धारण कर अपने व्यक्तित्व को छिपा रखा और राजशेखर (१० शतक) ने तो कालिदास नामक तीन कवियों की सत्ता का पूर्ण संकेत किया है। इधर विद्वानों ने पर्याप्त खोज-बीन कर प्रसिद्ध कवि कालिदास की केवल ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसम्भव, रघुवंश, मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और अभिज्ञान-शाकुन्त नामक रचनाएँ मानी हैं जिनमें से प्रथम चार काव्य हैं अवशिष्ट तीन नाटक। कालिदास की नाट्यकला पर तो हम अन्यत्र विचार करेंगे पर यहाँ जब हम उनकी काव्यकला का परिचय देना चाहते हैं तो हमारा ध्यान इस ओर आकृष्ट होता है कि 'ऋतुसंसार' कवि की आरम्भिक रचना है, यही कारण है कि वह कलात्मक प्रौढ़ि से रहित है। मेघदूत या कुमारसम्भव की कलात्मक स्निग्धता का यहाँ अभाव है। इसीलिए कुछ विद्वान इसे कालिदास की रचना नहीं मानते, वे इस विषय में कुछ दलीलें भी देते हैं कि यदि यह कालिदास की रचना होती तो वल्लिनाथ इसकी टीका क्यों न लिखते तथा आलंकारिक अपने लक्षण ग्रन्थों में इसके पद्यों को क्यों न उद्धृत करते। पर ये दलीलें थोथी हैं, ऋतुसंहार की सरलता के कारण न तो मल्लिनाथ ने ही इस पर टीका करना आवश्यक समझा होगा, न वे अलंकारशास्त्री ही इसके प्रति आकृष्ट हुए होंगे, जो सदा प्रौढ़ कलात्मकता के प्रशंसक रहते हैं। ऋतुसंहार के कुछ ही बाद की रचना मालविकाग्निमित्र है। कवि के जीवन के मध्यकाल से सम्बद्ध जान पड़ते हैं। तारुण्य का जो अंकुर प्रथम काल की रचनाओं में मिलता है, वह यहाँ विकसित हो गया है। रघुवंश तथा शाकुंतल अंतिम काल की रचनाएँ जान पड़ती हैं, इनमें भी सम्भवतः रघुवंश सबसे अंतिम रचना है। रघुवंश ही वह रचना है, जिसमें कालिदास की युग-

चेतना पूर्णतः प्रतिबिम्बित मिलती है। आदर्श समाज के जो चित्र कालिदास ने रघुवंश में यत्र-तत्र संकेतिक किये हैं, वे कालिदास के वर्णाश्रमधर्म की मान्यता को पुष्ट करते हैं।" वस्तुतः कालिदास की काव्य कृतियों में केवल कुमारसम्भव और रघुवंश ही महाकाव्य है अतः यहाँ उन दोनों की कुछ विस्तृत चर्चा की जाएगी।

कुमारसम्भव—कुमारसम्भव में कालिदास ने शिव-पार्वती के विवाह और उनके पुत्र कार्तिकेय के द्वारा तारकासुर के वध की कथा लिखी है। वस्तुतः "पार्वती हिमालय पर्वत की कन्या थी। नारद ने हिमालय से कहा कि इसका विवाह शिव से होगा तभी से पार्वती शिव की सेवा करने लगी। इधर देवताओं को ब्रह्मा ने बताया के उनके शत्रु तारक को शिव और पार्वती का पुत्र ही युद्ध में मार सकता है। देवताओं के राजा इन्द्र ने काम को शिव की तपस्या भंग करके पार्वती के प्रेम उत्पन्न करने के लिए भेजा। इस प्रयास में काम को प्राण से हाथ धोने पड़े। शिव ने उसे जला दिया। पार्वती को छोड़कर शिव अन्यत्र चले गये। ऐसी परिस्थिति में पार्वती ने शिव के लिए तप करना आरम्भ किया। उनकी घोर तपस्या से शिव प्रसन्न हुए। उन्होंने पार्वती को तपोमयी निष्ठा देखकर उनको अपनी पत्नी बना लिया। कुछ समय बीतने पर कुमार कार्तिकेय का जन्म हुआ और उन्होंने घोर संग्राम में तारक का वध किया।

उक्त संक्षिप्त तथ्य ही 'कुमारसंभव' के सत्रह सर्गों में अंकित हुई है पर अधिकांश विचारकों का यही मत है कि कालिदास का मूल काव्य पहले सर्ग से आठवें सर्ग तक ही था और शेष नौ सर्ग किसी अन्य कवि द्वारा लिखे गये हैं। 'कुमारसंभव पर मल्लिनाथ की टीका भी हमें केवल अष्टम सर्ग तक ही मिलती है और यह किम्वदन्ती भी प्रचलित है कि अष्टम सर्ग के शिव-पार्वती संभोग वर्णन के कारण कालिदास को कुष्ट रोग हो जाने से उन्होंने यह काव्य अधूरा ही छोड़ दिया पर इन केवल आठ सर्गों के आधार पर भी इस काव्य कृति को कालिदास की कला की सुन्दर सृष्टि माना जाता है। प्रो० चन्द्रशेखर पांडेय के कथनानुसार, "अपनी सुन्दर भाव-व्यंजन, उदात्त एवं कोमल कल्पना तथा प्रांजल पदविन्यास के कारण यह आधुनिक रुचि के विशेष अनुकूल हैं। कालिदास की वर्णना-शक्ति 'कुमारसम्भव' में चारु रूप से प्रकट हुई है। कहीं वसन्त का स्निग्ध मनोहर वर्णन है, कहीं विवाहित सौख्यों का आनन्द प्रसार पा रहा है। कहीं प्रियतम की वियोगजन्य ज्वाला चित्त को दग्ध और संसार को शून्य कर रही है। बाह्य प्रकृति का मनोरम चित्रण इस काव्य की विशेषता है। आरम्भ में हिमालय का संश्लिष्ट बिम्बग्राही वर्णन, तीसरे सर्ग में आकस्मिक वसंत के आगमन पर वन-श्री का वर्णन, चौथे सर्ग में रति-विलाप, पाँचवें सर्ग में बटुवेषधारी शिव तथा तपस्विनी पार्वती का संवाद—वे विषय बहुत ही उत्कृष्ट प्रसादपूर्ण शैली में अंकित किये गये हैं। कवि की लक्षणा-शक्ति भी खूब प्रस्फुटित हुई है। शिव-पार्वती का विवाह केवल रति-सुख के लिए नहीं था। उनके समागम से तारकासुर का संहार करने वाले परम तेज-पुञ्ज कार्तिकेय का जन्म होता है। शिव पार्वती का दैवी विवाह और प्रेम, मानवीय विवाह और प्रेम का प्रतिरूप है, जो वंश की वृद्धि और गृह की सुरक्षा के लिए परमावश्यक है। कालिदास की सभी कृतियाँ प्रायः शृङ्गार-रस प्रधान हैं। इसका अभिप्राय यह नहीं कि वे वासनाज्य प्रेम के पक्षपाती थे। मदन का भस्म हो जाना, तथा पार्वती का शिव को अपने सौन्दर्य-पाश में बाँधने में असफल होना यह सिद्ध करता है कि कवि बाढ़ की

तरह आने वाली, बाह्य आकर्षणों तक ही सीमित रहने वाली वासना का घोर विरोध है। वासना-जनित क्षणभंगुर प्रेम का फल दुःख और क्लेश के अतिरिक्त और कुछ नहीं। काम-वासनाओं को बिना जलाये सच्चे स्नेह की उपलब्धि नहीं हो सकती, बिन तपस्या के स्नेह कभी परिनिष्ठित नहीं हो सकता—यही कुमारसम्भव का अमर संदेश है।"[1]

निःसन्देह कुमारसम्भव महाकाव्य का सृजन मानवीय प्रेम को उदात्त भूमि पर प्रतिष्ठित करने के लिए हुआ है। वास्तव में कुमारसम्भव महाकाव्य की कथा एक पौराणिक कथा-वर्णन-मात्र नहीं है, वरन् एक ऐसा कवि कर्म है, जिसने देवाधिदेव शंकर का मानवीकरण करके उनकी सत्ता को भावना, कला और कल्पना के सूत्रों में पिरो दिया है। कामदेव के प्रभाव से पार्वती का अपूर्व सौन्दर्य शिव के चित्त में क्षोभ उत्पन्न कर देता है, पर यह प्रेम शारीरिक आकर्षण से उत्पन्न था, अतएव क्षणभंगुर और अशुभ था। कवि ने पार्वती का आयोजन करके उसे स्थायी और शुभ बना दिया है। इस प्रकार लौकिक प्रेम का अलौकिक आदर्श स्थापित करके कवि ने जहाँ शिव के शिवत्व की रक्षा की है, वहाँ निःसर्ग कन्या पार्वती को जगन्माता का गौरव भी प्रदान किया है।···कवित्व की दृष्टि से, 'कुमारसम्भव' एक श्रेष्ठ कृति है और अपने सुन्दर भाव प्रकाशन तथा प्राञ्जल पद-विन्यास के कारण विख्यात है।[2]

निःसन्देह कुमारसम्भव में कवि ने एक महान् लक्ष्य प्राप्त करने का महत्वपूर्ण प्रयास किया है, उसमें उसे सफलता भी प्राप्त हुई है, "इस काव्य रचना का विषय कोई साधारण विषय नहीं है क्योंकि इनमें देवताओं के प्रेम तथा क्रीड़ा का वर्णन किया गया है। अत्यन्त संयम अथवा अत्यधिक काव्य-कौशल द्वारा ही इस कविता को हास्यास्पद अथवा अनाकर्षक बनने से बचाया जा सकता था और इसीलिए इस रचना में कवि के महान् गुण सबसे स्पष्ट रूप में देखने को मिलते हैं।"

रघुवंश—कालिदास की समस्त काव्यकृतियों में ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण संस्कृत साहित्य में 'रघुवंश' एक उत्कृष्ट महाकाव्य माना जाता है और डॉ० रामजी उपाध्याय के शब्दों में "रघुवंश में कालिदास ने रघुवंश के राजाओं का वर्णन किया है। आरम्भ में महाराज दिलीप की कथा कही गई है। दिलीप ने कामधेनु की पुत्री नंदिनी गाय की सेवा करके उनसे पुत्र पाने का वर पाया। पुत्र का नाम रघु पड़ा। रघु ने दिग्विजय करके विश्वजीत यज्ञ किया। रघु के पुत्र का नाम अज था। कालिदास ने अज के विवाह के अवसर पर इन्दुमती के स्वयंवर का विशद चित्रण किया है। अज के पुत्र महाराज दशरथ हुए। दशरथ को मृगया का बड़ा चाव था। उन्होंने रात्रि के समय घड़ा भरते हुए श्रवण को मार डाला था। इस घटना का पूरा विवरण नवें सर्ग में मिलता है। यहीं से राम की कथा का वर्णन प्रारम्भ होता है। इस कथा का आधार वाल्मीकि रामायण है। कथा बहुत संक्षेप में कही गई है। केवल चार सर्गों में राम जन्म से लेकर रावण की मृत्यु तक की घटनाओं का वर्णन किया गया है। उसके पश्चात् राम के लंका से लौटने और सीता के वनवास का वर्णन आता है। राम की आज्ञा के अनुसार सीता को वाल्मीकि के आश्रम में छोड़ आते हैं, वहाँ उसे लव और कुश, दो पुत्र उत्पन्न

१. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा पृ० ५१-५२
२. संस्कृत और उसका साहित्य पृ० ५५-५६

होते हैं। राम के अश्वमेघ यज्ञ में वाल्मीकि लव और कुश के साथ आते हैं और राम से सीता को पुनः ग्रहण करने के लिए कहते हैं। राजा प्रजा के सामने सतीत्व का प्रमाण देने के पश्चात् सीता को ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करते हैं। सीता आती हैं, किन्तु आत्मशुद्धि की परीक्षा देते समय पृथ्वी उसे सदा के लिए अपने गर्भ में ले लेती है। अंत में पुत्रों को राज्य देकर राम भी विमान से स्वर्ग चले जाते हैं। उस समय कुश कुशावती में राज्य करते थे। अयोध्यानगरी की दुर्दशा का समाचार जानकर वे पुनः आते हैं और एक बार पुनः नगरी का अभ्युदय होता है। कुश के पश्चात् कोई योग्य राजा रघुवंश में नहीं हुआ। अंतिम राजा अग्निवर्ण क्षय रोग से मर गया और उसकी रानी ने, जो गर्भवती थी, शासन-भार अपने हाथ में ले लिया।''[1]

कहा जाता है कि 'रघुवंश' में पच्चीस सर्ग थे, पर अब केवल उन्नीस सर्ग ही उपलब्ध हैं और बल्लभदेव तथा मल्लिनाथ ने इन्हीं उन्नीस सर्गों पर टीका लिखी है। इन उन्नीस सर्गों में से प्रथम ९ सर्गों में तो राम के चार पूर्वजों—दिलीप, अज, रघु और दशरथ—का वर्णन है; १० से १५ सर्ग तक रामचरित का तथा अंतिम ४ सर्गों में राम के वंशजों का वर्णन है। साथ ही काव्य-कला की दृष्टि से भी 'रघुवंश' निर्विवाद रूप से अभिनन्दनीय कृति है और आदि से अंत तक उसमें एक निपुण कवि का विलक्षण कौशल झलकता है। दिलीप और सुदक्षिण के तपोमय जीवन से इस काव्य का आरम्भ होता है। फिर धीरे-धीरे महान् रघुवंशी राजाओं की वीरता, वदान्यता, त्याग और तपस्या की कहानी उद्घाटित होती है और अंत में कामुक अग्निवर्ण की विलासिता और उसके दयनीय अवसान से काव्य की समाप्ति होती है। इन्दुमति स्वयंवर, अज विलाप, राम सीता की विमान यात्रा, निर्वासित सीता की तेजस्विता, अयोध्या नगरी की शून्यता आदि चित्र एक के बाद एक सामने आते जाते हैं और पाठक को विमुग्ध बनाये रखते हैं। अनेक कथाकारों को एकत्र करके भी कालिदास ने उनको एक दूसरे से इस प्रकार समन्वित कर दिया है कि उनमें एक स्वाभाविक प्रवाह का संचार हो गया है। 'रघुवंश' के अनेकानेक नृपतियों की चमकती नक्षत्र माला में कवि ने राम के चरित्र पर ही अपनी प्रतिभा की विशेष वृष्टि की है; वाल्मीकि के महिमाशाली राम को कालिदास ने नई तेजस्विता और गरिमा प्रदान की है; वर्णनों की सजीवता, प्रसंगों की स्वाभाविकता, शैली की मधुरता तथा भावभाषा की अनुरूपता में 'रघुवंश'—संस्कृत के महाकाव्यों में अनुपम है।'' निःसन्देह रघुवंश कालिदास की अन्तिम और महान् रचना है। यह रचना सर्वश्रेष्ठ तो है ही, इसमें कवि एक भव्य विषय को भव्य-शैली में प्रस्तुत करने में सफल हुआ है। रघुवंश में भारत के महान् कवि ने राम के उदात्त चरित्र का भव्य चित्रण तो किया ही है साथ ही उसने भारत के स्वर्णयुग के वैभव का चित्र भी गरिमा के साथ व्यक्त किया है।

यह निस्सन्देह सत्य है कि कालिदास की रचनाओं में काव्यशैली अपने उच्चतम शिखर पर पहुँच गयी है; क्योंकि कालिदास की कविता में भावना का प्राधान्य है अलंकरण का नहीं। कालिदास की कविता में ज्ञान तथा भाव, काव्यकला तथा वस्तुनिष्ठा का, निष्कलंक भाषा उदात्त रस का अपूर्व समन्वय हुआ है।

अश्वघोष

परिचय और कृतियाँ—यद्यपि कुछ विचारक अश्वघोष को कालिदास से पूर्ववर्ती

---

१. संस्कृत और उसका साहित्य पृ० ५५

कवि मानकर उन्हें प्रथम महाकवि मानते हैं पर श्री क्षेमेशचन्द्र चट्टोपाध्याय ने अत्यन्त कुशलतापूर्वक अश्वघोष को कालिदास का परवर्ती सिद्ध किया है और अब अधिकांश समीक्षक उन्हें कालिदास का परवर्ती कवि मानते हैं तथा उनका स्थिति काल ईसा की प्रथम शताब्दी बतलाते हैं। अश्वघोष अयोध्या के निवासी थे और उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। वह कनिष्क (७८ ई०) के समकालीन थे और चीनी एवं तिब्बती परम्पराओं के अनुसार उन्हें कनिष्क का सभा पंडित, गुरु व आत्मीय माना गया है तथा सम्राट कनिष्क द्वारा आयोजित चौथी बौद्ध संगीति (१०० ई०) के वह आचार्य भी कहे जाते हैं। संभवतः वह ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे क्योंकि उनकी कृतियों में वैदिक धर्म, ब्राह्मण धर्म व बौद्ध धर्म की अनेक सामंजस्यपूर्ण बातों का पता चलता है पर प्रधानतया बौद्ध धर्म और दर्शन के क्षेत्र में उनकी प्रतिभा बेजोड़ मानी जाती है।

अश्वघोष बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न कलाकार थे और वह दार्शनिक, संगीतज्ञ व विचारक के साथ-साथ उत्कृष्ट नाटककार एवम् महाकवि भी थे तथा उनकी निम्नलिखित सात कृतियाँ प्रामाणिक कही जाती हैं—(१) गंडिस्त्रोत गाथा, (2) सूत्रालंकार, (३) बुद्ध चरित्र, (४) सौन्दरनन्द, (५) शारिपुत्रप्रकरण (६) वज्रसूचि और (७) महायान श्रद्धोत्पाद। इनमें से बुद्ध चरित्र, सौन्दरनन्द और शारिपुत्र प्रकरण ही अधिक प्रसिद्ध हैं पर शारिपुत्र प्रकरण नाटक है तथा बुद्ध चरित्र और सौन्दरनन्द महाकाव्य। अतः यहाँ इन दोनों महाकाव्यों का संक्षिप्त विवेचनात्मक परिचय दिया जायगा।

बुद्धचरित्र और सौन्दरनन्द—बुद्धचरित अश्वघोष का कीर्तिस्तम्भ है और उसके चीनी व तिब्बती अनुवाद में पूर्ण २८ सर्ग मिलते हैं पर संस्कृत में केवल १७ सर्ग ही उपलब्ध होते हैं। इस काव्य में गौतम बुद्ध के जन्म-काल से लेकर निर्वाण प्राप्त करके धर्मोपदेश देने तक की चरित गाथा सांगोपांग विधि से की गई है, "पर वह केवल धर्म-कथा नहीं है और केवल श्रद्धेय भक्ति का गुणगान। वह निपुण कवि द्वारा परिकल्पित काव्य है—सरल, प्रवाहमय और उदात्त गुणों से युक्त। मनुष्य के सूक्ष्म और जटिल मनोरागों को उन्होंने निर्वेदग्रस्त वैरागी की दृष्टि से नहीं, बल्कि संवेदनशील कवि की आँखों से देखा है।" भले ही बुद्धचरित में कहीं-कहीं गूढ़ दार्शनिक तत्वों को काव्य रूप में प्रस्तुत करने के फलस्वरूप शैली में कुछ शिथिलता या दुरूहता आ गई हो लेकिन ऐसे प्रसंग संख्या में न्यून ही हैं और कथा की उत्कृष्टता व उसके निर्वाह में कवि को पर्याप्त सफलता प्राप्त हुई है। बुद्ध-चरित में सरस वर्णन के निम्नलिखित प्रसंग उल्लेखनीय हैं—अंतःपुर विहार, उपवन विहार, वृद्ध दर्शन, रोगी का दर्शन, मृतक का दर्शन, कामिनियों के द्वारा मनोरंजन, वनभूमि का दर्शन, श्रमणोपदेश, सुन्दरियों का विकृत रूप दर्शन, महाभिनिष्क्रमण, वनयात्रा, छन्दककन्थकः विसर्जन तपस्वियों से वार्तालाप अन्तःपुर विलाप और मारविजय। इन सभी विषयों का काव्योचित शैली में वर्णन कर काव्यसौष्ठव की संवर्द्धना की गई है। उदाहरणार्थ सीता की भाँति बुद्ध-चरित की यशोधरा भी पति के लिए चिन्ता करती है—

शुचौ शयित्वा शयने हिरण्मये प्रबोध्यमानो निशि तूर्यनिस्वनैः।
कथं बत स्वप्स्यति सोऽद्यमे व्रती पटैकदेशान्तरिते महीतले॥

'बुद्धचरित' की भाषा-शैली अत्यन्त सरल व मधुर है और स्थान-स्थान पर

प्राकृतिक वर्णन के सभी अत्यन्त सजीव चित्र दृष्टिगोचर होते हैं तथा कवि की चित्रांकन शैली भी सराहनीय है।

अश्वघोष के दूसरे महाकाव्य सौन्दरनन्द का कथानक अंशतः बुद्धचरित से मिलता-जुलता है और पं० बलदेव उपाध्याय के शब्दों में, "१८ सर्गों में निबद्ध सौन्दरनन्द यौवन सुलभ उद्दाम काम तथा धर्म के प्रति जागरित प्रेम के विषम संघर्ष का भव्य भाषा में चित्रित करने वाला एक अद्भुत काव्य है जो काव्य सुलभ गुणों की दृष्टि में बुद्ध चरित की रूक्षता से कहीं अधिक स्निग्ध, सरस तथा सुन्दर है। इस काव्य की कथा बुद्ध के सौतेले भाई, सौन्दर्य की पूर्ण प्रतिमा सुन्दर के गृह-त्याग, अपनी प्रियतमा सुन्दरी के मोह भंग तथा प्रव्रज्याग्रहण से सम्बन्ध रखती है। नन्द भोग विलास में आकण्ठमग्न एक सुन्दर राजकुमार है तथा उनकी पत्नी सुन्दर नितान्त पतिव्रता सुन्दरी है। दोनों का सुखमय यौवन बीत रहा था। तब शुद्धोधन के भव्य-प्रसाद में तथागत की दृष्टि उन पर पड़ी। उन्होंने अपने भाई नन्द के जीवन को मंगलमय तथा कल्याणपूर्ण बनाने के लिए उन्हें प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए बाध्य किया। भोग की माधुरी में आसक्त नन्द जीवन के सुखों को कथमपि छोड़ना नहीं चाहता, परन्तु बड़े ही कौशल से तथा प्रलोभन से वह प्रव्रज्या मार्ग पर अन्ततोगत्वा बाध्य किया जाता है। उसी की हार्दिक भावना की, भोग-वासना के विपुल संघर्ष की नितान्त सरस अभिव्यक्ति सौन्दरनन्द में हमें मिलती है। नन्द तथा सुन्दरी की मूक वेदना के चित्रण में अश्वघोष को जितनी सफलता मिली है उतनी ही उसे बुद्ध धर्म के उपदेशों के सुन्दर भाषा में अंकित करने में भी। इस काव्य की तुलना में भारी भरकम होने पर भी बुद्धचरित हृदय के भावों के वर्णन में, काम तथा धर्म के परस्पर वैषमम्यमंडित भीषण संघर्ष के चित्रण में, बौद्ध धर्म के आचार प्रधान उपदेशों के हृदयावर्जक विवरण में निःसन्देह न्यून है। इसीलिए बुद्धचरित कवि की प्राथमिक रचना प्रतीत होती है। सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने रच रच कर अपना काव्य कौशल दिखलाया है। विषय की विशिष्टता के कारण भी उसे कोमल भावनाओं की अभिव्यक्ति का तथा धार्मिक उपदेशों के पूर्ण विवरण देने का अच्छा अवसर यहाँ प्राप्त होता है। मेरी दृष्टि में सौन्दरनन्द विषय गम्भीरता तथा कोमल काव्य भावना के अंकन में बुद्धचरित की अपेक्षा कहीं अधिक सरस तथा सफल काव्य है।" भाषा की सरलता, भावों की कोमलता और वर्णन की सजीवता का यह उदाहरण दर्शनीय है—

> तां सुन्दरी चेन्न लभेत नन्दः सा वा निषेवेत न तं नतभ्रूः ।
> द्वन्द्वं ध्रुवं तद्विकलं न शोभेतान्योन्य हीनाविबरात्रिचन्द्रौ ॥

भारवि और किरातार्जुनीय

कवि कालिदास अपने युग में श्रेष्ठतम साहित्य को जन्म दे चुके थे। कवि और नाटककार के रूप में उन्होंने साहित्यिक रचनाओं के उच्चतम मानदण्ड स्थापित कर दिए थे, उनके बाद के कवि लाख प्रतिभासम्पन्न होते हुए भी उन मानदण्डों का स्पर्श न कर सके; परिणामस्वरूप अपने अस्तित्व के प्रदर्शन के लिए कवियों ने चमत्कार और विद्वत्ता का सहारा लेकर अलङ्करण की प्रवृत्ति को जन्म दिया। समय की गति के साथ परिष्कृत संस्कृत शैली, अत्यन्त गूढ़ उपमाओं तथा जटिल वाक्य रचनाओं के कारण कविता भाराक्रान्त हो उठी, तथा कविता की आत्मा इस भार के नीचे कुचल

कर रह गई। परवर्ती युग के कवियों ने पाण्डित्य प्रदर्शन, वाक्-चातुर्य और अनुकरण का पथ अपना लिया। इन कवियों में भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि कवियों का नाम लिया जा सकता है।

अन्य अधिकांश कवियों की भाँति भारवि के समय और जीवनवृत्ति के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता पर उनके कालिदास से प्रभावित होने के कारण और माघ पर उनका प्रभाव पड़ने के कारण उनका समय कालिदास और माघ के मध्य माना जा सकता है। साथ ही ऐहोल के ६३४ ई० के शिलालेख में चालुक्यवंशी राजा पुलकेशिन द्वितीय की प्रशस्ति में भारवि नाम का स्पष्ट उल्लेख मिलता है और 'अवंति सुन्दरी कथा' के आधार पार भारवि दक्षिण भारत के निवासी थे तथा पुलकेशिन द्वितीय के अनुज विष्णुवर्धन के सभा-पंडित थे। अतः भारवि का समय ६०० ई० के आस-पास माना जा सकता है लेकिन इसके अतिरिक्त उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता।

भारवि का केवल एकमात्र 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य ही उपलब्ध है और कुछ विचारकों का तो यह कहना है कि "संस्कृत के महाकाव्यों में किरातार्जुनीय सर्वप्रथम है, जो तत्कालीन महाकाव्य की शस्त्रीय परिभाषा की कसोटी पर अधिक से अधिक खरा उतरता है। इसी कारण महाकाव्यों की श्रेणी में यह महाकाव्य सर्वोपरि प्रतिष्ठित है।" हम 'किरातार्जुनीय' को एकदम यह स्थान प्रदान करें या न करें पर इतना तो अवश्य है कि इस महाकाव्य ने अपने प्रशंसित गुणों के कारण संस्कृत साहित्य में विशिष्ट स्थान प्राप्त किया है और संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी (किरातार्जुनीय, शिशुपाल वध एवम् नैषध) में इसका प्रमुख स्थान है तथा "समस्त संस्कृत साहित्य में किरातार्जुनीय के समान दूसरा कोई ऐसा ओजपूर्ण तथा उग्रकाव्य नहीं मिलता।"

'किरातार्जुनीय' महाभारत के वन पर्व के एक छोटे व सरल उपाख्यान पर आश्रित है और श्रीकृष्ण जैतन्य ने उसकी कथा इस प्रकार दी है, "वन में निर्वासित हो जाने पर पांडवगण अब अगले कदम के सम्बन्ध में विचार कर रहे हैं। एक गुप्तचर, जिसे यह पता लगाने के लिए भेजा गया था कि दुर्योधन किस प्रकार शासन कर रहा है, इस विवरण के साथ लौटता है कि दुर्योधन का शासन सफल है। ऐसी स्थिति में युद्ध की घोषणा करने में विलम्ब शत्रु को शक्तिशाली बना देगा। भारवि ने काव्य में द्रौपदी का उदारधी क्षत्रिय रानी का चित्र खींचा है जो अपने ऊपर किये गये अत्याचारों से व्यथित है। वह युद्ध का समर्थन करती है और भीम भी यही कहते हैं। व्यास वहाँ आकर अर्जुन को इन्द्र को प्रसन्न करके दिव्यास्त्र प्राप्त करने का परामर्श देते हैं। हिमालय यात्रा के प्रसंग ने पर्वत, शरद्ऋतु और गोपालों आदि के सुन्दर वर्णन का अवसर प्रदान किया है। अर्जुन की तपस्या आरम्भ होती है जिसके बाद अप्सरायें उन्हें मोहित करने का प्रयास करती हैं। एक सर्ग में चाँदनी रात और अप्सराओं की क्रीड़ा का वर्णन है। अन्त में इन्द्र प्रकट होते हैं और अर्जुन को शिव को प्रसन्न करने का परामर्श देते हैं। अर्जुन के साहस की परीक्षा करने के लिए शिव एक किरात के वेश में आते हैं और इन दोनों में उस जंगली सुअर को लेकर युद्ध हो जाता है जिसे दोनों ने ही बाण मारा था। अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर शिव उन्हें महान् पाशुपत अस्त्र प्रदान करते हैं।"

उक्त संक्षिप्त कथा ही 'किरातार्जुनीय' के १८ सर्गों में विकसित हुई है और

महाभारत पर आश्रित होते हुए कथा में नवीन स्थापनाएँ भी हैं तथा कई सर्गों में ऋतु, पर्वत, सूर्यास्त, जलक्रीड़ा आदि का वर्णन कर काव्य को बहुत विस्तार दिया गया है पर इन प्रकरणों से कवि की अद्‌भुत वर्णन-शक्ति ही सिद्ध होती है। इस महाकाव्य का प्रधान रस वीर है जिसकी अभिव्यक्ति में भारवि को अद्वितीय सफलता प्राप्त हुई है और शृङ्गार व अन्य रस गौण रूप से वर्णित हैं। इसके अतिरिक्त किरातार्जुनीय की शैलीगत विशेषताएँ श्री हंसराज अग्रवाल ने निम्नलिखित मानी हैं—

(१) पुरानी परम्परा के अनुसार भारवि में अर्थगौरव का विशेष गुण पाया जाता है इसकी वर्णन योग्यता भारी और वचनोपन्यास-शक्ति श्लाघनीय है।

(२) इसकी शैली में शांतिपूर्ण गर्व है जो एकदम पाठक के मन में गड़ जाता है। इसका यह प्रभावशाली गुण प्रथम सर्ग में ही देखने को मिल जाता है।

(३) प्रकृति और युवती के सौन्दर्य को सूक्ष्मता से देखने वाली इसकी दृष्टि बड़ी विलक्षण है। शिशिर ऋतु का वर्णन सुनिए—

> कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः।
> सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः॥

(४) भारवि की कुछ पंक्तियाँ इतनी हृदयस्पर्शिनी हैं कि वे लोकोक्तियाँ बन गई हैं।

उदाहरणार्थ—

> (१) हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
> (२) न हि प्रियं, प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिण॥

(५) इसकी उत्प्रेक्षा बड़ी सुस्थिर और व्यापक है।

(६) संस्कृत के महाकाव्य-साहित्य में यह विशेषता देखी जाती है, कि ज्यों-ज्यों इसकी आयु बढ़ती गई, त्यों-त्यों यह अधिक बनाव सिंगार से पूर्ण होता गया। भारवि भी शैली-सम्बन्धिनी कृत्रिमता से मुक्त नहीं रह सका। इस कृत्रिमता की संस्कृत के अलंकारशास्त्री चाहे जितनी प्रशंसा करें परन्तु यह कविता के आधुनिक प्रमाणों (Standards) के अनुरूप नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि इस पर कृत्रिमता की खातिर खींच-तान करनी पड़ती है और इस तरह स्वाभाविक प्रवाह का विधान हो गया है। पन्द्रहवें सर्ग में भारवि ने शब्दालंकारों के निर्माण में कमाल किया है। एक पद्य के चारों चरण एक ही चरण की आवृत्ति से बनाए गए हैं। एक ऐसा पद्य है जिसके तीन अर्थ निकलते हैं। एक पद्य ऐसा है जिसे बाईं ओर से दाहिने ओर को पढ़ो, चाहे दाहिनी ओर से बाईं ओर को पढ़ो, एक जैसा पढ़ा जायगा। उदाहरणार्थ, निम्नलिखित पद्य का निर्माण केवल 'न' से किया गया है, 'त्' एक बार केवल अन्त में आया है—

> न नोननुन्नो नुन्नोनो नाना नानानना ननु।
> नुन्नोऽनुन्नो ननुन्नेनो नानेना नुन्ननुन्ननुत्॥

(७) भारवि की शैली में लम्बे-लम्बे समास नहीं हैं। सारे को मिला-जुला कर देखा जाय तो उसकी शैली में क्लिष्टता का दोष नहीं है।

(८) भारवि निपुण वैयाकरणीय था। पाणिनि के अप्रसिद्ध नियमों के उदाहरण देने में यह अपने पूर्णगामी कालिदास और पश्चिमगामी माघ दोनों से बढ़कर है। उदाहरणार्थ इसके भूतकालवाची नियमित प्रयोगों को लीजिए। इसने लुङ का प्रयोग

निकट भूतकालीन घटनाओं के लिए और लङ् का वक्ता के अपने अनुभव से सम्बन्ध रखने वाली चिर भूतकालीन घटनाओं के लिए किया है। इस प्रकार परोक्ष भूतकाल कथा वर्णन करने का भूतकाल रहा गया है। इसने इस तरह सब मिलाकर लङ् का प्रयोग केवल दस स्थलों पर किया है। माघ ने इसका प्रयोग दो सौ बहत्तर स्थलों पर किया है।

(६) छन्द का प्रयोग करने में तो यह पूर्ण सिद्ध है। कभी-कभी इसने कठिन और अप्रयुक्त छन्दों का भी प्रयोग किया है। उदाहरणार्थ १२ वें सर्ग में अकेला उद्-गाता छन्द है। इस बात को छोड़कर देखें तो यह छन्दों के प्रयोग में बहुत ही विशुद्ध है और इसने छन्दों के विविध प्रकारों का प्रयोग पर्याप्त संख्या में किया है। अकेले पाँचवें सर्ग में सोलह प्रकार के छन्द आए हैं। यह बात ध्यान में देने योग्य है कि जो प्रसिद्ध नाटककार भवभूति का प्रिय छन्द है भारवि ने उस शिखरिणी छन्द का प्रयोग बहुत ही कम किया है।

माघ और शिशुपाल वध

संस्कृत के महाकाव्यों में शिशुपाल वध का—जिसे माघ काव्य भी कहते हैं—अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है और उसके रचयिता माघ भी संस्कृत साहित्य के इतिहास में अपना उल्लेखनीय स्थान रखते हैं। स्वयं माघ ने अपना परिचय देते हुए केवल यही कहा है कि उसके पिता दत्तक सर्वाश्रय थे और पितामह सुप्रभदेव वर्मलात नाम राजा थे जो कि गुजरात के किसी प्रदेश के अधिपति के मंत्री थे पर उनके समय निरूपण के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। यों "भोजप्रबन्ध' की किवदंतियों में माघ 'धारानरेश' भोज के राजकवि और परम मित्र कहे गए हैं पर अनेक विद्वान् 'भोज प्रबन्ध' की कथा पर विश्वास नहीं करते। यों वामन और आनन्दवर्धन ने, जिनका कि समय नवीं शताब्दि का मध्य माना गया है, माघ के कुछ पद्यों को अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है तथा इनसे भी पूर्व राष्ट्रकूटों के राजा नृपतुंग (८१४ ई०) ने अपनी कन्नड़ी भाषा के ग्रन्थ 'कविराज मार्ग में माघ को कालिदास के समकक्ष स्वीकार किया है। अतः इसमें यह स्पष्ट है कि नृपतुंग के समय में, अर्थात् नवीं शताब्दि के पूर्वार्द्ध में, माघ को साहित्य जगत् में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो चुका था। इस प्रकार माघ का आविर्भाव काल ८०० ई० के बाद का नहीं हो सकता और वर्तमान राजा के ६२५ ई० के एक शिला लेख के आधार पर उनका समय १०० वर्ष और पूर्व का सिद्ध होता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि माघ ने 'शिशुपाल वध' के द्वितीय सर्ग के एक श्लोक में 'काशिका वृत्ति' और 'न्यास' नामक दो व्याकरण ग्रन्थों का भी उल्लेख किया है तथा काशिका वृत्ति का रचना-काल ६५० ई० का कहा जाता है और जिनेन्द्र बुद्धि की न्यास टीका का रचना-काल ७०० ई० माना गया है, अतः कुछ विद्वान उनका समय ७०० ई० के बाद का मानते हैं पर उक्त श्लोक में यह कहीं भी नहीं स्पष्ट होता कि माघ जिनेन्द्र बुद्धि के ही न्यास नामक ग्रन्थ की ओर संकेत कर रहे थे और काणे महोदय ने तो यह भी संकेत किया कि बाण (६२० ई०) ने भी अपने हर्ष चरित में 'न्यास' का उल्लेख किया है अतः हो सकता है कि माघ भी इसी न्यास की ओर संकेत कर रहे हों। इस प्रकार हम माघ का समय सातवीं शती का उत्तरार्द्ध ही मानते हैं।

भारवि की भाँति माघ को भी केवल एक ही काव्यकृति 'शिशुपाल वध' प्राप्त होती है और सूक्तिसंग्रहों में अवश्य कुछ ऐसे स्फुट पद्य माघ नाम के दिये गये हैं जो

'शिशुपालवध' में नहीं मिलते' लेकिन केवल शिशुपालवध ही माघ को श्रेष्ठतम महाकवियों में स्थान प्रदान करने में पर्याप्त है। शिशुपालवध में २० सर्ग व १६५० श्लोक हैं और उसमें कृष्ण द्वारा शिशुपाल वध की घटना का वर्णन किया गया है तथा उसकी कथा का सार इस प्रकार है, 'नारद द्वारका में कृष्ण की राजसभा में आकर शिशुपाल के अत्याचारों का वर्णन करते हैं और उसे मारने के लिए कृष्ण को उत्साहित करते हैं। उसी समय कृष्ण को युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के लिए निमंत्रण मिलता है। उद्धव, बलराम और कृष्ण मन्त्रणा करते हैं कि ऐसी परिस्थिति में क्या किया जाय। अन्त में राजसूय यज्ञ में जाने का निश्चय करके कृष्ण इन्द्रप्रस्थ के लिए सेना सहित प्रस्थान करते हैं। मार्ग में रैवतक पर्वत पर सभी लोग पुष्पावचय, जलक्रीड़ा और पान गोष्ठी इत्यादि का आनन्द लेते हैं। अन्त में कृष्ण यज्ञभूमि में पहुँचते हैं। वहाँ उन्हें अर्घ्य दिया जाता है। शिशुपाल कृष्ण को इस प्रतिष्ठा का पात्र नहीं समझता है। कृष्ण और शिशुपाल का युद्ध होता है, जिसमें शिशुपाल मारा जाता है।" इस प्रकार यह संक्षिप्त कथा ही बीस सर्गों में विकसित हुई है और कथा का आधार महाभारत के सभापर्व से लिया गया है तथा कृष्ण व नारद का सम्मिलन महाभारत के सभापर्व के युधिष्ठिर व नारद के सम्मिलन से मिलता-जुलता है। शेष भाग भी उक्त सभापर्व के राजसूय यज्ञ के वर्णन के अनुसार ही है पर प्रसंग विधान में हमें माघ की अपूर्व मौलिक कल्पना शक्ति के दर्शन होते हैं तथा हम देखते हैं कि उन्हें 'शिशुपाल वध' में नारद के स्वागत, उद्धव, बलदेव और कृष्ण की मन्त्रणा, द्वारका नगरी, सेना के प्रयाण, रैवतक पर्वत, सेना के सन्निवेश, छह ऋतुएँ, पुष्पावचन, जलक्रीड़ा, सायंकाल, चन्द्रोदव, पानगोष्ठी, रात्रि क्रीड़ा, प्रभात, यमुना, मार्ग को ग्रामीण प्रकृति और युद्ध आदि का वर्णन करने में अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो माघ का आदर्श भारवि कृत 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य ही था और 'शिशुपालवध' व 'किरातार्जुनीय' की पारस्परिक तुलना करते हुए श्री चन्द्रशेखर पांडेय ने लिखा भी है—

(१) दोनों महाकाव्यों की मुख्य कथा महाभारत से ली गई है।

(२) दोनों ग्रन्थों का आरम्भ 'श्री' शब्द से होता है. 'किरात' के आरम्भ में 'श्रियः कुरूणामधिपस्य पालिनी' है तो माघ के प्रारम्भ 'श्रियः पति श्रीमिति शासितु जयत्' है।

(३) दोनों के प्रथम सर्ग में संदेश कथन है, किरात में वनेचर के द्वारा युधिष्ठिर के प्रति, माघ में नारद के द्वारा श्रीकृण के प्रति।

(४) किरात के द्वितीय सर्ग में युधिष्ठिर, भीम और द्रौपदी के बीच राजनीतिविषयक संवाद होता है तो 'शिशुपाल वध' के द्वितीय सर्ग में बलराम; श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच इसी विषय पर परामर्श होता है।

(५) किरात में महर्षि वेदव्यास पांडवों को मार्ग सुझाते हैं तो माघ में देवर्षि नारद ऐसा ही उपदेश करते हैं।

(६) किरात में अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने जाते हैं तो माघ में श्रीकृष्ण रैवतक पर्वत के समीप ठहरते हैं।

(७) किरात में यदि हिमालय का यमकालंकारों के द्वारा वर्णन हुआ है तो माघ में इसी प्रकार रैवतक का वर्णन है।

(८) दोनों में अप्सराओं के विहार का चारुचित्रण है।

(९) किरात में किरातवेशधारी शिव अर्जुन का अपमान करने के लिए दूत भेजते हैं तो माघ में शिशुपाल, श्रीकृष्ण का अनादर करने के लिए भेजता है।

(१०) किरात के १३वें तथा १४वें सर्ग में अर्जुन तथा किरातरूपधारी शिव में वाद-विवाद हुआ है तो माघ में ६१वें सर्ग में ऐसा ही विवाद शिशुपाल के दूत और सात्यकि में हुआ है।

(११) किरात के १५वें और माघ के ११वें सर्ग में चित्रबन्धों द्वारा युद्ध वर्णन है।

(१२) दोनों में संध्याकाल, रात्रि, चन्द्रोदय, ऋतुओं एवं यात्रा का यथास्थान वर्णन हुआ।

(१३) भारवि ने 'किरात' प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'लक्ष्मी' शब्द का प्रयोग किया है तो माघ ने इसी प्रकार अपने काव्य के सर्गान्त पद्यों में 'श्री' का प्रयोग किया है।

(१४) दोनों के वर्णन-क्रम में भी समानता है।

(१५) दोनों काव्यों में द्वन्द्व युद्ध के पूर्व विपक्षियों की सेनाओं में संघर्ष होता है।

उक्त समानताओं के कारण माघ के 'शिशुपाल वध' के काव्य सौष्ठव को कोई क्षति नहीं पहुँची और उसे एक उत्कृष्ट महाकाव्य ही माना जाता है। डॉ० शांतिकुमार नानूराम व्यास ने लिखा है, "यह काव्य प्रौढ़ एवं उदात्त शैली का–पांडित्य और प्रतिभा का—एक असाधारण उदाहरण है। सर्वाङ्गीण शास्त्र ज्ञान का उसमें अद्भुत परिचय मिलता है। माघ का शब्द भंडार विलक्षण है। नवीन ललित और परिष्कृत शब्दावली के वह धनी हैं। उनके वाक्यों में गति, सहजता और संतुलन है। उनके पद्यों में गीति और नाद का अर्थ और ध्वनि का मनोहर पुट दीख पड़ता है। शैली भी समग्र काव्य में असाधारण लक्षित होती है। उनके संवाद बड़े सरल और ओजस्वी तथा उनके वर्णन परम्परायुक्त होने पर भी सजीव, अतिशय अलंकृत और ऊँची कल्पना के परिचायक हैं। रैवतक पर्वत के विषय में हाथी की कैसी विलक्षण उत्प्रेक्षा की गई है—

उदयति वितोर्ध्वरश्मिरज्जावहिमरुचौ हिमधाम्नि याति चास्तम्
वहति गिरिरयं विलम्बिघण्टाद्वयपरिवारितवारणेन्द्र लीलाम्।

एक ओर सूर्य ऊपर फैली हुई किरण-रूपी रश्मियों के सहारे उदय हो रहा है तो दूसरी ओर चन्द्रमा अस्ताचल की ओर जा रहा है। इस प्रकार यह पर्वत उस गजराज की शोभा धारण कर रहा है, जिसके दोनों ओर दो उज्ज्वल घंटे लटक रहे हों। इस प्रकार के शब्द-चित्र-निर्माण में माघ ने अद्वितीय प्रतिभा का परिचय दिया है। भारतीय पंडितों ने कालिदास की उपमा, भारवि के अर्थगौरव तथा दंडी के पद लालित्य की सराहना करते हुए माघ में इन तीनों गुणों का एकत्र संनिवेश बताया है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थगौरवम्।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयोगुणाः॥

आधुनिक आलोचक इस प्रशस्ति में अत्युक्ति पाते हैं और माघ में अलंकार-प्रदर्शक की मात्रातीता रुचि, लम्बे और बोझिल वर्णन तथा शृङ्गार रस का अतिरेक जैसे दोष सहज ही ढूंढ़ लेते हैं। कहते हैं कि भारवि के यशः सूर्य को अस्त करने के लिए माघ को अपने काव्य की श्रमपूर्वक रचना करनी पड़ी। उनके शब्दालंकार जहाँ उनकी विदग्धता के सूचक हैं वहाँ क्लिष्टता और रसहानि के भी जनक हुए हैं। १९वें सर्ग में उन्होने अनेक प्रकार के चित्रबन्ध पद्य लिखे हैं। उनकी शब्द-क्रीड़ा का एक विचित्र उदाहरण देखिए, जिसमें 'भ' और 'र' के अतिरिक्त और कोई तीसरा अक्षर ही नहीं है।

भूरिभिर्भारिभिर्भीरैर्भुभारैरभिरेभिरे।
भेरीरेभिभिरभ्राभैरभीरुभिरिभैरिभाः ॥१९।६६

अर्थात् 'हाथियों का द्वन्द्व युद्ध आरम्भ हो गया था। हाथी हाथी से गुँथ रहा था। उनकी संख्या बहुत थी। उनकी पीठ पर पताका एवं अन्यान्य युद्ध सामग्री लदी हुई थी। वे देखने में भयानक मेघ-जैसे काले और महाकाय होने के कारण भू-भार की तरह जान पड़ते थे।'

यह नहीं भूलना चाहिए कि ये दोष व्यक्तिगत न होकर उस युग की साहित्यिक रूढ़ियाँ हैं और माघ अपने युग के श्रेष्ठ प्रतिनिधि थे।

श्रीहर्ष और नैषधीय चरित

बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में श्रीहर्ष ने 'नैषधीय चरित' नामक महाकाव्य की रचना और माघोत्तर काल के महाकाव्यों में इस महाकाव्य को पर्याप्त प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई। श्रीहर्ष कान्यकुब्जेश्वर के सभापंडित थे और नैषधीय चरित की इस पंक्ति से कि **ताम्बूलद्वयमासनं च लभते यः 'कान्यकुब्जेश्वरात्'** राजा उन्हें ताम्बूलद्वय तथा आसन देकर नित्व समादृत करता था यह स्पष्ट हो जाता है। श्रीहर्ष के समय कान्यकुब्ज (कन्नौज) के राजा विजयचन्द्र या जयचन्द्र थे और उनका समय ११६९-११९५ ई० माना जाता है अतः श्रीहर्ष का समय सरलतापूर्वक बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध कहा जा सकता है। साथ ही श्रीहर्ष ने अपने महाकाव्य के प्रत्येक सर्ग के अंत में अपने पिता का नाम श्रीहीर और माता का नाम मामल्लदेवी बतलाया है—

श्रीहर्ष कविराजिमुकुटालङ्कारहीरस्सुतं ।
श्रीहीरस्सुषुवे जितेन्द्रियचयं मामल्लदेवी चयम् ॥

किम्वदंतियों के अनुसार श्रीहर्ष के पिता श्रीहीर का प्रसिद्ध नैयायिक उदयनाचार्य से शास्त्रार्थ हुआ था जिसमें श्रीहीर पराजित हो गये और मृत्यु-पर्यन्त उनके हृदय में उदयनाचार्य से प्रतिशोध की भावना रही पर वह कुछ भी न कर सके। अतः पुत्र को यह बतलाकर वह मर मये। श्रीहीर ने गंगातीर पर 'चिन्तामणि' मन्त्र का वर्ष भर जप कर भगवती त्रिपुरा से अपराजेय पांडित्य पाया और वह जब विजयचन्द्र की सभा में पहुँचे तब उन्होंने राजा की स्तुति में यह सुन्दर पद्य सुनाया—

गोविन्दन दतनया च वपुःश्रिया च
मास्मिन् नृपे कुरुत कार्याधियं तारुण्यः।
अस्त्रीकरोति जगतां विजये स्मरः स्त्री—
रस्त्री जनः पुनरनेन विधीयते स्त्री ॥

कहा जाता है कि श्रीहर्ष ने कई ग्रन्थों की रचना की और नैषधीय चरित के अतिरिक्त उनकी अन्य रचनाओं के नाम ये हैं—खण्डनखण्डखाद्य, स्थैर्य-विचारण प्रकरण, विजय शस्ति, छन्दः प्रशस्ति, गौडोर्वीसकुलप्रशस्ति, नव-साहसाङ्कचरित, ईश्वराभिसन्धि, अर्णव वर्णन और शिवशक्ति (भक्ति) सिद्धि। श्रीहर्ष अपने समय के महान् पंडित थे और उनकी कीर्ति का प्रचार उस समय के संस्कृत शिक्षा के केन्द्र कश्मीर में भी था—काश्मीरैर्महिते चतुर्दशतयीं विद्यां विदद्भिर्महाकाव्ये।

वस्तुतः नैषध में नल दमयन्ती के प्रेम और विवाह की कथा ही अत्यन्त सरल शैली में वर्णित है तथा डॉ० भोलाशंकर व्यास के शब्दों में, "नैषधीय चरित २२ सर्ग का बहुत बड़ा काव्य है, जिसके प्रत्येक सर्ग में सौ से ऊपर पद्य हैं। १३वें और १९वें सर्ग को छोड़कर, जिनमें केवल ५५ तथा ६६ पद्य हैं, बाकी सभी सर्ग बड़े हैं, कई में तो १५० पद्यों के लगभग हैं। महाकाव्य के इस विशाल आलवाल को देखते हुए श्रीहर्ष ने नलचरित से सम्बद्ध जितनी सी कथा ली है, वह छोटी है। दमयंती तथा नल के प्रेम को लेकर उनके विवाह और विवाहोपरान्त क्रीड़ाओं आदि का वर्णन कर काव्य को समाप्त कर दिया गया है। प्रथम सर्ग में नल का वनविहार वर्णित है। दूसरे सर्ग में हंस के द्वारा दमयंती के सौन्दर्य का वर्णन तथा नल के कहने पर कुंडनपुरी जाने का उल्लेख है। तीसरे सर्ग में हंस दमयंती के पास जाकर उसे नल के प्रति अनुरक्त बना देता है। चतुर्थ सर्ग में दमयंती के नलगुण श्रवण जनित पूर्वरागसूचक वियोग की दशा का ऊहोक्तिमय वर्णन है। पाँचवें सर्ग में इन्द्र, वग्नि, वरुण और यम नल को दमयंती के पास दूत बनाकर भेजते हैं। छठें सातवें, आठवें तथा नवें सर्ग में नल का वहाँ जाने का वर्णन और दमयंती का नख शिख चित्रण है, वह देवताओं के संदेश का दमयंती से कहता है। दमयंती का नल को छोड़कर उनका वरण नहीं करना चाहती। दुःखी दमयंती रोने लग जाती। तब नल प्रकट होकर अपना असली परिचय देता है। दसवें सर्ग में स्वयंवर के पहले दमयंती के शृङ्गार का वर्णन है, ग्यारहवें और बारहवें सर्ग में स्वयंवर में आए राजाओं का वर्णन है। तेरहवें सर्ग में नल का रूप धारण कर आए हुए चारों देवताओं और नल का श्लिष्ट वर्णन है। चौदहवें सर्ग में दमयंती वास्तविक नल का वरण करती है। पन्द्रहवें सर्ग में विवाह से पूर्व वरवधू के आहार्य प्रसाधन का वर्णन है। सोलहवें सर्ग में दोनों के पाणिग्रहण और ज्योनार का विस्तार से वर्णन है। सत्रहवें सर्ग में देवता लोग स्वर्ग को जाते समय रास्ते में कलियुग को देखते हैं। कलि नास्तिकवाद का प्रतिष्ठापन करता है। देवता उसका खंडन करते हैं। अठारहवें सर्ग में नल और दमयंती के प्रथम समागम का वर्णन है। बाकी ४ सर्गों में राजा-रानी की दैनंदिनचर्या का वर्णन है, जिसमें देवस्तुति, सूर्योदय और विलासमय चाटुक्तियों के सरस चित्र हैं। काव्य यहीं समाप्त हो जाता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार नैषध में सौ सर्ग थे, किन्तु यह किम्वदन्ती ही प्रतीत होती है।"

यद्यपि 'नैषधीयचरित' की कथा का आधार 'महाभारत' ही है पर श्रीहर्ष ने नल के समस्त इतिवृत्त को न ग्रहण कर केवल उसकी कथा के 'प्रेम-गाथा' वाले अंश को ही अपनाया है और उसे तत्कालीन लोकसाहित्य की प्रणय गाथाओं से मिश्रित भी कर दिया है। डॉ० भोलाशंकर व्यास का तो स्पष्टतया यही मत है कि, 'नल दमयन्ती की कथा पौराणिक होते हुए भी लोक-कथा के रूप में भी प्रचलित थी। श्रीहर्ष को इन

दोनों स्रोतों से प्रेरणा मिली ही होगी। यद्यपि श्रीहर्ष जैसे प्रकाण्ड पंडित में, जिनका समाज अत्यधिक संकुचित था, लोक-साहित्य का प्रभाव ढूंढ़ना कुछ लोगों को जबर्दस्ती लगे, तथापि हमने श्रीहर्ष में सर्वप्रथम कुछ ऐसे भागों को देखा है, जो लोक-साहित्य से लिए जान पड़ते हैं।" उसी प्रकार श्रीहर्ष अपने पूर्ववर्ती कवियों से भी प्रभावित जान पड़ते हैं और कालिदास व माघ से तो वह बहुत अधिक प्रभावित हैं। नैषध के स्वयंवर वर्णन पर रघुवंश के स्वयंवर वर्णन का और १५वें सर्ग के दमयन्ती शृङ्गार वर्णन में कुमारसम्भव के सप्तमसर्ग का स्पष्टतया प्रभाव है तथा नैषध का अठारहवाँ सर्ग भी स्पष्टतः कुमारसम्भव के आठवें सर्ग से प्रभावित है। इसी प्रकार नैषध के प्रथम सर्ग का घोड़े का वर्णन, १९वें सर्ग का सूर्योदय और २२वें सर्ग का सूर्यास्त भी माघ के शिशुपाल वध से प्रभावित है।

उक्त प्रभावों के होते हुए भी "नैषधीय चरित अनेक दृष्टियों से संस्कृत साहित्य का अनुपम महाकाव्य है: यह महाकाव्य रसों के परिपाक से पूर्णरूपेण समुन्नत हैं, काव्य के बहुविध उपादान—अलंकार, व्यंजना, गुण, रीति आदि इसमें सौष्ठव से विराजमान है और काव्योचित कल्पनाओं का इसमें विशेष उत्कर्ष विद्यमान है। यही कारण है कि इस महाकाव्य को अमर प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकी। फिर भी नैषधीय चरित को भारत के सर्वोच्च काव्य ग्रन्थों में स्थान नहीं दिया गया। इसका कारण श्रीहर्ष में प्रतिभा की कमी नहीं है; अपितु प्रतिभा का दुरुपयोग है। युग की प्रवृत्तियाँ कम से कम राजधानी के रसिकों के सम्बन्ध में तो यह नितान्त सत्य है—कामुकता-पूर्ण थीं। श्रीहर्ष ने कन्नौज के राजा का आश्रय पाया था। बस, राजधानी का प्रभाव था कि रसराज को उनकी रचना में सतत प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कवि ने इस काव्य को शृङ्गार रूपी अमृत का चन्द्रमा कहा है।

नैषधीय चरित अपनी रचना के युग में ही रसिक समाज में प्रायः समस्त उत्तर भारत में समादृत हुआ। सर्वविदित किंवदन्ती है कि काव्य मर्मज्ञ मम्मट ने इस ग्रन्थ को देखकर व्याज स्तुति की कि 'इसमें काव्य से सभी दोष विद्यमान हैं, जिनके उदाहरण मुझे असंख्य ग्रन्थों को ढूंढ़ने पड़े हैं। इस युक्ति से इतना तो सिद्ध ही होता है कि मम्मट ने इसे इस योग्य समझा था कि भविष्य के सैकड़ों वर्षों तक यह ग्रंथ रसिकों के बीच अपने गुणों को समादृत होकर मम्मट के बताये हुए दोषों का उदाहरण प्रस्तुत करता रहेगा। वास्तव में दोषों की स्थिति गुणों के बीच ही तो होती है।"

प्रश्न (२१) निम्नलिखित कवियों की काव्य-कला पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिए—

(क) भट्टि (ख) कुमारदास (ग) रत्नाकर और (घ) कविराज।

भट्टि

भट्टि का पूरा नाम भट्टि स्वामी है और उनके महाकाव्य का नाम 'रावण वध' है पर वह 'भट्टि काव्य' नाम से भी प्रसिद्ध है। स्वयं भट्टि के कथनानुसार इस महाकाव्य की रचना श्रीधर सेन के राज्यकाल में सौराष्ट्र की वलभी नगरी में हुई पर शिलालेखों में श्रीधर सेन नाम के चार राजाओं का उल्लेख पाया जाता है। हाँ एक श्रीधर नामक राजा के सन् ६१० ई० के शिलालेख में किसी भट्टि नामक विद्वान् को कुछ भूमि देने का उल्लेख है अतः भट्टि का समय ईसा की छठी शताब्दी उत्तरार्द्ध या सातवीं शताब्दी

का प्रारम्भ माना जा सकता है। भट्टि उच्च कोटि के वैयाकरण और काव्यशास्त्र के मर्मज्ञ थे तथा यह बात उनके महाकाव्य रावण वध का सम्यक् अनुशीलन करने पर स्पष्ट भी हो जाती है।

वस्तुतः रावण वध एक उल्लेखनीय महाकाव्य है और उसमें "रामकथा" के वर्णन के साथ-साथ व्याकरण के जटिल नियमों के उदाहरण भी प्रस्तुत किये गये हैं। इस प्रकार यह शास्त्र काव्य है जिसमें विषय-वस्तु के चित्रण के साथ-साथ व्याकरण शास्त्र का भी परिज्ञान करा दिया गया है। भट्टि काव्य या रावण वध में बाईस सर्ग हैं और इस प्रकार यह भी एक विशालकाय महाकाव्य माना जाता है। प्रबन्ध पटुता का अभाव होते हुए भी इसमें भाषा की सरसता और प्रांजलता तो है ही। कहीं-कहीं जो कृत्रिमता और आडम्बर दीख पड़ता है, उसका कारण विषय की गम्भीरता ही है।" इस प्रकार यह महाकाव्य व्याकरण का ज्ञान रखने वालों के लिये तो दीपक की भाँति है पर व्याकरण न जानने वालों के लिए उसी प्रकार है जैसे अन्धे के हाथ में दर्पण—

दीपतुल्य प्रबन्धोऽयं शब्दलक्षणचक्षुषाम।
हस्ताऽमर्ष इवाऽन्धानां भवेद्व्याकरणादृते॥

इतना होते हुए भी 'भट्टि काव्य' में अनेक ऐसे सुन्दर अंश हैं जिनकी भाषा में प्रांजलता व प्रसाद है और रसाभिव्यक्ति के साथ-साथ प्रकृति का मनोहारी चित्रांकन भी हुआ है उदाहरणार्थ—

प्रभातवाताहतिकम्पिताकृतिः कुमद्वतीरेणुपिशङ्गविग्रहम्।
निरास भृङ्गं कुपितेव पद्मिनी न मानिनी संसहतेऽन्यसङ्गमम्॥

कुमारदास

सिंहल की जनश्रुतियों के अनुसार कुमारदास ५१७-५२६ ई० तक वहाँ के राजा थे और कुछ बाह्य प्रमाणों के आधार पर उनका स्थितिकाल ६५० से ७५० ई० के मध्य माना जाता है। सिंहल निवासी होते हुए भी कुमारदास संस्कृत विद्वानों के लिये अज्ञात न थे और उनकी कीर्ति भारत में पर्याप्त रूप से व्याप्त थी तथा इसका परिचय सूक्ति संग्रहों व अन्य ग्रन्थों में उनके श्लोकों के उद्धरण में मिलता भी है। कुमारदास-रचित 'जानकीहरण' संस्कृत साहित्य का उल्लेखनीय महाकाव्य है और इसमें बीस सर्ग हैं तथा रामायण की चिरपरिचित कथा ही अंकित की गयी है अतः कथानक की दृष्टि से इसमें नाम मात्र की ही नवीनता है पर "मौलिकता अधिक न रहते हुए भी उनकी वर्णन-शैली सुन्दर है। कालिदास की भाँति वे वैदर्भी रीति का अनुसरण करते हैं। अनुप्रास कवि का प्रिय अलंकार है। प्रसाद और सुकुमारता कुमारदास की कृति के विशेष गुण हैं। शब्द सौष्ठव तथा छन्दों के सौन्दर्य के कारण इनकी कविता में अपूर्व माधुर्य का संचार हुआ है।" वन हास्य की मनोरम कल्पना का यह उदाहरण दर्शनीय है—

वासन्तिकस्याशुचयेन भानोऽहमतमालोक्य हृतंप्रभावम्।
सरोरुहामुद्धृतकण्टकेन प्रीत्येव रम्यं जहसे वनेन॥

रत्नाकर

रत्नाकर कश्मीर के राजा चिप्पट जयापीड (८०० ई०) के सभा-पण्डित थे और कल्हण की 'राजतरंगणी' से उनका राजा अवन्ति वर्मा (८५५-८८४ ई०) के

राज्यकाल में प्रसिद्धि प्राप्त करने का विवरण भी प्राप्त होता है। रत्नाकर के पिता का नाम 'अमृतभानु' था पर इससे अधिक उनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं होता। रत्नाकर की तीन कृतियाँ कहीं जाती हैं पर 'हरिविजय' ही अधिक प्रसिद्ध है।

सम्भवतः 'हरिविजय संस्कृत साहित्य का सर्वाधिक विशालकाय महाकाव्य है क्योंकि उसमें पचास सर्ग और ४३२१ श्लोक हैं। इसमें हर (शिव) द्वारा अन्धकासुर वध की कथा अंकित है, और कवि का कहना है कि पार्वती ने शिव के नेत्रों को लीलावश अपने नेत्रों से ढँक लिया अतः शिव से उत्पन्न अन्धक दृष्टिहीन हुआ 'पर तपस्या करके उसने शिव से दृष्टि प्राप्त की तथा तीनों लोकों का स्वामी बन बैठा लेकिन अंत में शिव को उसका वध करना पड़ा। इस प्रकार इस वृहत् महाकाव्य की कथा अत्यंत लघु होते हुए भी कवि ने वर्णन का अत्यधिक विस्तार किया है और १३ सर्गों में तो अंधकासुर का नाश करने के लिए शिव के सचिव ही परामर्श करते हैं तथा १३ सर्गों में शिवगणों के विहार का वर्णन है। साथ ही ७ सर्गों में शिव के दूत और अंधकासुर में संवाद होता है तथा शिव सेना की युद्ध के लिए तैयारी का वर्णन ही ४ सर्गों में हुआ है। इस 'हरिविजय' का विपुल परिणाम ही उसकी अद्वितीयता का परिचायक है पर काव्यगुणों के चमत्कार के कारण वह निस्संदेह अद्वितीय है। उसमें वस्तु वर्णन की कुशलता तो सर्वत्र दीख पड़ती है और शैवदर्शन, नीतिशास्त्र, कामसूत्र व इतिहास पुराण का सम्यक् ज्ञान भी सर्वत्र लक्षित होता है तथा नाटक, संगीत, अलंकार व चित्रकला जैसे विषयों पर वैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रकाश डाला गया है। इतना ही नहीं रत्नाकर ने अपनी काव्य शैली के सम्बन्ध में यह गर्वोक्ति की है कि उनकी ललित, मधुर, अलंकार, प्रसाद, मनोहर, विकट यमक व श्लेष से मंडित, चित्रमार्ग में अद्वितीय वाणी को सुनकर वृहस्पति के चित्त में भी शंका उत्पन्न हो जाती है—

ललितमधुराः सालङ्काराः प्रसादमनोरमा
विकटयमकश्लेषोद्गारप्रबन्धनिरर्गलाः ।
असदृशगतीश्चित्रे मार्गे ममोग्दिरतो गिरो
न खलु नृपते चेतो वाचस्पतेरति शंकते ।

कविराज

कविराज जयन्तपुरी के कदम्ब राजा कामदेव (११८२-९७) के सभा पंडित थे और उनका वास्तविक नाम माधव भट्ट था तथा कविराज, सूर, पंडित आदि उनकी उपाधियाँ थीं। इस प्रकार कविराज का स्थिति काल बारहवीं शताब्दी था और उनकी कृति 'राघव पाण्डवीय' एक अद्भुत महाकाव्य है क्योंकि उसके प्रत्येक श्लोक द्वारा रामायण व महाभारत की कथा का साथ-साथ वर्णन किया गया है। उदाहरणार्थ—

नृपेण कन्यां जनकेन दित्सितामयोनिजां लम्भयितुं स्वयंवरे।
द्विजप्रवर्येण से धर्मनन्दनः सहानुजस्तात्पुरानमभ्यनी नयत्॥

उक्त श्लोक का अर्थ रामकथा के अनुसार इस प्रकार होगा—'(राम) जिन्होंने धर्म को आनन्दित किया था अपने भाइयों के साथ ऋषिश्रेष्ठ (विश्वमित्र) द्वारा स्वयंवर-स्थान (मिथिला) को ले जाये गये, जिससे वे राजा जनक की विवाह योग्य अयोनिजा कन्या (सीता) को प्राप्त कर सकें। इसी प्रकार 'महाभारत' के अनुसार इस श्लोक का यह अर्थ किया जाता है—'धर्म के पुत्र (युधिष्ठिर) अपने भाइयों

के साथ मुनिश्रेष्ठ (वेदव्यास) की आज्ञा से स्वयंवर स्थान (पांचाल) को गये जिससे वे राजा पिता (द्रुपद) की विवाह योग्य अयोनिजा कन्या (द्रौपदी) को प्राप्त कर सकें।'

विचारक 'राघव पाण्डवीय' को एक नवीन परम्परा का सूत्रपात करने वाली कृति मानते हैं क्योंकि अनुसरण कई परवर्ती कवियों ने किया है। इस प्रकार हरदत्त सूरि के 'राघव नैषधीय' में नल व राम और चिदम्बर की 'राघवयद पांडवीय' में रामायण' महाभारत व भागवत की कथा एक साथ अंकित की गई है। इसी प्रकार विद्यामाधव की 'पार्वतीय रुक्मिणीय' शिव पार्वती और कृष्ण-रुक्मिणी के विवाह का एक साथ वर्णन है तथा सर्वाधिक कुतूहलोत्पादक तो वेंकटाध्वरि का ३० श्लोकों का यादव राघवीय है जिनमें सीधी पढ़ने से राम की और उलटे पढ़ने से कृष्ण की कथा का वर्णन जान पड़ता है।

प्रश्न (२२) निम्नलिखित पर आलोचनात्मक टिप्पणियाँ लिखिए—

(१) उपमा कालिदासस्य, (२) भारवेरर्थगौरवम् (३) माघेसन्ति त्रयोगुणा:

(१) उपमा कालिदासस्य

कवि कालिदास लोकप्रिय हैं, इसलिए उन्हें 'कविकुल गुरु' भी कहा जाता है। उनकी लोकप्रियता के अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु यह निश्चित है कि वे लोकप्रिय हैं। लोकप्रियता से मेरा अभिप्राय दोनों पक्षों से है—लोक कालिदास को चाहता है और कालिदास भी लोक को पसन्द करता है। कवि को लोक की परख है, मनोवैज्ञानिकों की तरह मानव मन की परख जितनी कवि कालिदास को है उतनी अन्य किसी को नहीं।

कवि की लोकप्रियता का एक अन्य कारण उनका अलंकार ज्ञान है। यह उक्ति सर्वविदित है कि "उपमा कालिदासस्य"। कालिदास के काव्य में एक से एक सुन्दर उपमाओं की भरमार है। ये उपमाएँ सरल, स्वाभाविक और आकर्षक हैं। अनुरूपता और अपूर्वता इनकी विशेषता है। कवि ने इन उपमाओं का चुनाव लोक, शास्त्र तथा कल्पना के क्षेत्र से किया है।

कालिदास सर्वतोमुखी प्रतिभा वाले व्यक्ति हैं, अतः उनकी उपमायें वर्ण्य वस्तु का यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर देती हैं। राजा दिलीप और सुदक्षिणा के बीच में नन्दिनी धेनु ऐसी शोभायमान हो रही है जैसे दिन और रात्रि के मध्य संध्या—"दिनक्षपामध्यगतेवसंध्या।" कालिदास की उपमाओं में यथार्थता है। वे प्रसंगानुकूल होती हैं। इन्दुमती स्वयंवर सभा में राजाओं के समक्ष चली जा रही है, कवि उसकी समता 'दीपशिखा' से देता है—जिस राजा को इन्दुमती छोड़ती जाती है, उसके मुख पर निराशा की कालिमा इस प्रकार छा जाती है, जैसे राजमार्ग की अटारियों पर जिन्हें रात्रि में दीपशिखा पीछे छोड़ती चली जाती है—

संचारिणी दीपशिखेव रात्रौ यं यं व्यतीयाय पतिंवरा सा।
नरेन्द्र मार्गाट्ट इव प्रपेदे विवर्णभावं स स भूमिपालः॥

(रघुवंश ६/६७)

रघुवंश के तेरहवें सर्ग में प्रयाग का वर्णन करते हुए कवि ने उपमाओं का जो गंगा-यमुना का संगम बनाया है वह अपूर्व है। राम सीता से कहते हैं कि "हे सुन्दरी, देखो यमुना की तरंगों से अठखेलियाँ करती गंगा की लहरियाँ कैसी सुहावनी लग रही

हैं ? ये कहीं मोतियों के उस हार सी चमक रही हैं जिनके बीच में तरल कान्ति वाले नीलम पिरो दिए गए हैं, तो कहीं श्वेत कमलों की उस माला सी मालूम पड़ती है जिनमें जगह-जगह नील कमल गुंथे हैं। कहीं श्याम हंसों में मिले-जुले राजहंसों की पंक्ति के समान दीखती हैं तो अन्यत्र ऐसा प्रतीत होता है मानो किसी ने वसुन्धरा रूपी कामिनी की छाती पर चन्दन की ऐसी चित्रकारी कर दी हो जिसके बीच में कहीं-कहीं कालागुरु के रस से फूल-पत्तियां बनाई गई हैं। कहीं पर ये उजली रात में फैल रही उस चांदनी-सी दीखती हैं जिसके भीतर जहाँ-तहाँ वृक्षों की छाया छितरा रही है और अन्यत्र शरद काल के उन झीने शुभ्र मेघखण्डों सी जिनके बीच में नीला आकाश झलक रहा है। यह संगम कहीं श्वेत भस्म से पुते महादेव जी के उस शरीर-सा प्रतीत होता है जिसमें कहीं-कहीं काले सांप लिपटे हैं।"

(रघुवंश १३/५४-५७)

स्वयंवर सभा में श्यामवर्ण के पाण्ड्यराज के वर्णन प्रसंग में सुनन्दा इन्दुमती से कहती है ये महाराज नीलकमल के समान श्याम हैं और तुम गोरोचना-सी गोरी। यदि तुमने इनसे विवाह कर लिया तो तुम दोनों की शोभा मेघ और उसमें चमकती बिजली की शोभा की तरह बढ़ जायगी—

इन्दीवरश्यामवपुर्नृपोऽसौ त्वं रोचनागौरशरीरयष्टिः।
अन्योन्यशोभापरिवृद्धये वां योगस्तडित्तोयदयोरिवास्तु ॥

(रघुवंश ६/६५)

गाय की सेवा में संलग्न राजा का वर्णन करते हुए कवि लिखता है कि 'गाय रुक जाती है तो वह भी खड़ा हो जाता है, वह चल देती है तो वह चल पड़ता है, वह बैठ जाती है—वह बैठ जाता है और यदि वह जल पीती है तो वह भी जल पीने लगता है। वह राजा इस प्रकार छाया की तरह उसका अनुसरण करने लगा—

छायेव तां भूपतिरन्वगच्छत्

(रघुवंश २/६)

निस्सन्देह किसी प्रकार की चेष्टाओं के अनुसरण की छाया से बढ़कर अन्य उपमा नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार आगे दिलीप है मध्य में नन्दिनी और पीछे रानी सुदक्षिणा कवि रानी एवं नन्दिनी की उपमा स्मृति और श्रुति से देता है—श्रुतेरिवार्थं स्मृति-रन्वगच्छत् अर्थात् जिस प्रकार स्मृतियाँ श्रुति के अर्थ का अनुसरण करती हैं उसी प्रकार सुदक्षिणा नन्दिनी का अनुगमन कर रही है। उपमा आध्यात्मिक होते हुए भी सुन्दर है।

नन्दिनी संध्या के समय जंगल में चर कर उसी प्रकार आश्रम में प्रविष्ट होती है जैसे सायंकाल सूर्य की प्रभा—

सञ्चारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः।

निस्सन्देह कालिदास उपमा के सम्राट हैं। उसकी उपमा की सर्वत्र प्रशंसा हुई है। उसकी उपमाओं का क्षेत्र व्यापक है। जैसा कि श्री रमाशंकर त्रिपाठी ने लिखा है कि—

"कालिदास ने व्याकरण, दर्शन, राजनीति, वैद्यक प्रभृति विविध शास्त्रों से

उपमाएँ संकलित की हैं। उनकी उपमाओं में प्रसङ्ग एवं पात्र की अनुरूपता का सदैव ध्यान रखा गया लक्षित होता है। कालिक की उपमाएँ कहीं भी श्लेषमूलक नहीं हैं; वे सहज साम्य पर निर्मित हुई हैं और उनकी तुलना में सुबन्धु, बाण, श्रीहर्ष इत्यादि पश्चात् भावी कवियों की उपमाएँ श्लेषाधिष्ठित होने के कारण कृत्रिम प्रतीत होती हैं।" अतः हम कह सकते हैं कि उपमा पर कालिदास का असामान्य अधिकार है अतः "उपमा कालिदास्य" यह कथन सर्वथा उचित एवं सार्थक है।

(२) भारवेरर्थ गौरवम्

भारविकालिदास परवर्ती कवियों में एक महत्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित है। भारवि कालवादी चमत्कार प्रधान माघ, श्रीहर्ष की शैली के जन्मदाता हैं, किन्तु उस रूप में चमत्कारवादिता भारवि में नहीं है। भारवि कालिदास और माघ के बीच की कड़ी हैं। भारवि का परवर्ती युग पाण्डित्य प्रदर्शन का युग था, इसका श्रीगणेश भी भारवि ने किया था। भारवि ने अपने काव्य में अनेक स्थानों पर अपने प्रकाण्ड पांडित्य का प्रदर्शन किया है। सम्भवतः यह उस युग की आवश्यकता थी; उसी आवश्यकता की पूर्ति भारवि ने की थी। भारवि के पाण्डित्य प्रदर्शन के आधार थे—उनका व्याकरण ज्ञान, अनेक बन्धों की रचना और अर्थ-वैचित्र्य। अर्थ के कारण एक-एक श्लोक के दो-तीन अर्थ तक किये जा सकते हैं। कभीःकभी अपनी विद्वत्ता का श्लोक एक व्यंजन 'न' के द्वारा ही श्लोक का सृजन कर सकते हैं।

भारवि संस्कृत-साहित्य संसार में अपने अर्थ-गौरव—**'भारवेरर्थगौरवम्'** के लिए प्रसिद्ध हैं। थोड़े शब्दों में भाव का अनन्त सागर भर देते हैं—अर्थात् गागर में सागर भरना उन्हें आता है। भारवि के इसी गुण की प्रशंसा करते हुए कृष्णकवि ने लिखा है कि—

प्रदेशवृत्त्यापि महान्तमर्थं प्रदर्शयन्ती रसमादधाना।
साः भारवेः सत्पथदीपिकेव रम्याः कृतिः कैरिवनोपजीव्य॥

अर्थात् रस भाव से भरपूर सत्पथ को प्रकाशित करने वाली दीपिका के समान भारवि की वाणि किसके लिए उपजीव्य नहीं है अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति उससे मार्ग दर्शन कर सकता है।

निस्सन्देह भारवि ने अपनी भावों की गरिमा से, अर्थ के गौरव से भरी हुई कविता से न जाने किनने व्यक्तियों का जीवन-दर्शन किया है, मार्ग प्रशस्त किया है।

भारवि ने अपने व्यावहारिक और शास्त्रीय अनुभव के द्वारा न जाने कितने नैतिक-सिद्धान्तों की स्थापना की है। उनके कथन विद्वानों की जिह्वा पर नाचा करते हैं। उनके भाव भरे वाक्य लोकोक्ति और मुहावरों का कार्य करते हैं। भारवि ने जीवन के अनुभव से अच्छी तरह जान लिया है कि हितकारक वाणी कभी मनोहर और मीठी नहीं हो सकती है उसमें कटु सत्य होगा, जो कि सुनने वाले को तीखी छुरी की तरह लगेगा—

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः

प्रत्येक व्यक्ति को हमारी वाणी प्रिय लगे, यह आवश्यक नहीं है, सब व्यक्तियों की सुन्दर लगने वाली वाणी दुर्लभ है—

सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः

मानव अपने गुणों से श्रद्धा, मान-सम्मान पाता है, विशालाकृति से नहीं। विशालाकृति भय उत्पन्न कर सकती है सम्मान नहीं। सम्मान गुणों से ही प्राप्य है—

गुरुतां नयन्ति हि गुणा: न संहतिः

मानव अपने परिचय से प्रिय नहीं बनता है, अपितु उसके गुण ही उसे आदर, सम्मान और स्नेह दिलाते हैं—

गुणा: प्रियत्वेऽधिकृता न संस्तवः।

भारवि ने एक और भी महत्वपूर्ण तथ्य स्पष्ट किया है, वह यह है कि सज्जन व्यक्ति से यदि विरोध भी होता है, तो वह भी अच्छा ही है, उसके अपने दोष तो पता ही चलते हैं, अहित की सम्भावना कम रहती है—

वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।

सेवक का कार्य अपने स्वामी की सेवा करना है, उसकी भलाई करना है न कि उसे ठगना है—

न वञ्चनीया: प्रभवोऽनुजीविभिः।

वे यह भी जानते हैं कि प्रेम में ही गुण रहते हैं वस्तु में नहीं—

वसंति हि प्रेम्णि गुण न वस्तुनि।

भारवि सज्जनता से विशिष्ट गुणों का मर्म जानते हैं, वे यह स्पष्ट जानते हैं कि सज्जनों की वाणी निन्दा करना जानती ही नहीं केवल गुणों का ही प्रकाश करती है—**अयातपूर्वा परिवादगोचरं सतां हि वाणी गुणमेव भाषते।**" भारवि ऊँच-नीच को इतना महत्व नहीं देते हैं, वे तो यही कहते हैं कि गुण से भरी बातें सदैव अपना लेनी चाहिये, उनका वक्ता कोई भी हो—

"ननु वक्तृ विशेषनिः स्पृहा गुणगृह्या वचने विपश्चितः।,'

महान् व्यक्ति सम्पूर्ण विश्व को अपने तेज से तुच्छ बनाते हुए दूसरे की वृद्धि की कामना नहीं करते हैं—

"लंघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूति मन्यतः।"

यह कथन राजाओं के लिए कितना सत्य है। महापुरुषों का यह स्वभाव होता है कि वे दूसरों की उन्नति सहन नहीं करते हैं—

"प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।।

विषयों के प्रति आसक्ति मोह उत्पन्न करती है—

"मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः"

युद्ध में विजय-श्री शक्ति-साधन सम्पन्न और पराक्रमी व्यक्तियों को ही मिलती है—

"प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः"

अविनयी लोगों की सम्पत्ति का विनाश विपत्ति से ही होता है—

विपन्दता ह्यविनीतसम्पदः।"

सज्जनों का संसर्ग विश्वास की भूमि है। सज्जनों के साथ शीघ्र ही विश्वास उत्पन्न हो जाता है—

विश्वासयत्याशु सतां हि योगः"

सज्जनों की वाणी सदैव प्रियभाषण ही करती हैं—

"सतां हि वाणी गुणमेव भाषते ।"

कामवासनाएँ आपात रमणीय होते हुए भी अन्ततः परिणाम में दुःखदायी होती हैं—

"आपातरम्या विषया पर्यन्त परितापिनः"

भारवि यह भी जानते हैं कि शत्रु का विनाश उसे भोग-विलास में आकृष्ट कर सहज ही किया जा सकता है—

"कामाकृष्टा हि साध्याः शत्रवः ।"

भारवि मित्रों का पहचानने का आग्रह करते हुए कहते हैं कि मित्रता समान व्यक्तियों में होती है, तभी वह शोभित और फलवती होती है—

"भवन्ति गोमायु सखान दन्तिनः"

अर्थात् सियार के मित्र कहीं हाथी भी होते हैं।

भारवि सम्पूर्ण समस्याओं का हल सहिष्णुता और क्षमा में देखते हैं। क्षमा के समान अन्य कोई साधन नहीं हैं—

"न तितिक्षा सममस्ति साधनम् ।"

भारवि के उपर्युक्त छोटे-छोटे वाक्य अर्थ से गम्भीर हैं, इसमें जीवन का शाश्वत सत्य एवं अनुभव छिपा है। निसन्देह "भारवि ने अर्थ-गौरव की उत्कृष्टता के लिए उन शाश्वत सत्यों को अपनी सूक्तियों के माध्यम से संग्रथित किया है, जो मानव जीवन-संग्राम में सदैव प्रतिष्ठा प्राप्त कराने के लिए है।"

भारवि अपने अर्थ-गौरव की अभिव्यक्ति प्रायः अपने आदर्श पात्रों के माध्यम से कराते हैं। उनके आदर्श पात्र—युधिष्ठिर, व्यास, शिव और अर्जुन हैं। एक स्थान पर युधिष्ठिर कहते हैं कि—शरीर का आभूषण शासन-ज्ञान है। शास्त्र-ज्ञान का अलंकार शान्ति है; शान्ति भी पराक्रम से अलंकृत होती है। पराक्रम को सुनीति से प्राप्त सफलता विभूषित करती है—

शुचि भूषयति श्रुतं वपुः प्रशमस्तस्य भवत्यलंक्रिया ।
प्रशमाभरणं पराक्रमः नयापादितसिद्धि भूषणः ॥२॥२३

अन्यत्र एक स्थान पर कवि लिखता है—जितेन्द्रियत्व विनय का कारण है, विनय से गुण-गौरव की प्राप्ति होती है, गुण के प्रकर्ष से जनता अनुरक्त होती है, जनानुराग सम्पत्ति-वैभव का कारण है—

जितेन्द्रियत्वं विनयस्य कारणं गुणप्रकर्षोविनयादवाप्यते ।
गुणप्रकर्षेण जनानुरज्यते जनानुरागप्रभवा हि सम्पदः ॥

शिव की वृत्ति के विषय में कवि ने कहा है कि—अर्जुन की तपस्या से शिव उतने प्रश्न नहीं हुए जितने कि उनकी सात्विक भावना से। क्योंकि गुण की राशि की अपेक्षा उपकार करने वाला मनुष्य का सत्व होता है—

तपसा तथा न मुदमस्य ययौ भगवान्यथा विपुलसत्वतया ।
गुणसंहते समतिरिक्तमहो निजमेव सत्वमुपकारि सताम् ॥१८॥१४

अर्जुन के धैर्य का वर्णन करते हुए भारवि कहते हैं कि—किरात की उद्धत

वाणी ने अर्जुन पर वैसे ही प्रहार किया, जैसे सागर की लहरें पर्वत पर आघात करती हैं, फिर भी कुपित होने पर अर्जुन के चित्त में कोई विकार उत्पन्न नहीं हुआ, क्योंकि महापुरुष का अन्तःकरण अयायास विकृत नहीं होता—

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहता शैल इवार्णवाम्बुभिः ।
जहौ न धैर्य कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहाम्तः कारणा हि साधवः ।।

भारवि 'शठे शाठ्यं समाचरेत' की नीति के अनुयायी हैं, इसीलिए वे कहते हैं कि मूर्खबुद्धि से वे मनुष्य पराजित होते हैं, जो दुष्टों के साथ दुष्टता का व्यवहार नहीं करते, क्योंकि कवच सहित शरीर में बाण जिस प्रकार प्रविष्ट होकर मानव की मृत्यु का कारण बनता है, उसी प्रकार दुष्ट दूसरे के विनाश का कारण होता है, अतः शठ के साथ शठता का आचरण करना चाहिये—

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः ।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधान संवृताङ्गान्निशिता इवेषवः ।।

भारवि ने अपनी कविता की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि अल्पाक्षर में अर्थ-बाहुल्य की अभिव्यक्ति काव्य की कुशलता है तथा भारवि की कविता परिणाम में सुखकारी है। जिस प्रकार अल्प दवा कठिन रोगों का निवारण कर देती है जैसे ही भारवि की कविता भी परिणाम में गरीयसी है—

परिणामसुखे गरीयसि व्यथकेऽस्मिन्वचसि क्षतौजसाम् ।
अतिवीर्यवतीव भेषजे बहुरल्पीयसि दृश्यते गुणः ।।

भारवि का यह श्लोक विशेष लोकप्रिय है, यह श्लोक कवि के अर्थगौरव का उज्ज्वलतम प्रमाण है—

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि दिमृश्य कारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ।।

कवि का कहना है कि घबड़ा कर, बिना सोचे-विचारे कोई कार्य नहीं करना चाहिये क्योंकि अविवेक विपत्ति का कारण है। विचारवान व्यक्तियों को सम्पत्तियाँ वरण करती हैं। इस श्लोक का भाव सार्वभौम सत्य है।

उपर्युक्त श्लोकों एवं सूक्तियों के उदाहरणों से स्पष्ट है कि भारवि के काव्य के विषय में यह कथन पूर्णतः सत्य है कि 'भारवेरर्थगौरवम्' भारवि का काव्य अर्थ गौरव से पूर्ण है। उसमें मानव जीवन के मार्ग को प्रशस्त करने के लिए ज्ञान का अपार सागर भरा हुआ है।

(३) माघेसन्ति त्रयोगुणाः

संस्कृत साहित्य के महाकवियों में माघ का स्थान महत्वपूर्ण है। भारतीय आलोचकों ने माघ की पर्याप्त प्रशंसा की है। आलोचक माघ में कालिदास की उपमा, भारवि का अर्थगौरव और दण्डी का पदलालित्य, इन तीनों विशिष्ट गुणों का समावेश एक स्थान पर बतलाते हैं और यह सिद्ध करते हैं कि माघ का व्यक्तित्व महान् था। उपर्युक्त तीनों गुणों के सन्निवेश के कारण निसन्देह उनका व्यक्तित्व महान् सिद्ध होता है—

उपमा कालिदासस्य भारवेरर्थ गौरवम् ।
दण्डिनः पदलालित्यं माघे सन्ति त्रयो गुणाः ।

माघ की गणना संस्कृत के प्रमुख महाकाव्यों में की जाती है। उनका व्यक्तित्व महान् है, उसमें कवित्व एवं पांडित्य का अपूर्व समन्वय है। जहाँ कालिदास में कवित्व, भारवि में व्यावहारिक राजनीतिपटुत्व, भट्टी में वैयाकरणत्व और श्रीहर्ष में दार्शनिक पांडित्य पराकाष्ठा पर पहुँचा दिखाई देता है, यहाँ माघ एक सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वत्ता-पूर्ण व्यक्तित्व से अलंकृत हैं, व्याकरण, राजनीति, सांख्य, योग, बौद्ध-दर्शन, पुराण, अलंकार-शास्त्र, संगीत, अश्वविद्या तथा हस्तिविद्या जैसे ज्ञान विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर उनका असामान्य अधिकार है।

माघ वस्तुतः कलावादी कवि हैं। उनका कवि शब्द एवं अर्थ का समान-भाव से प्रशंसक हैं—

'शब्दार्थौ सत्कविरिव द्वयं विद्वानपेक्षते'

उनका व्यक्तित्व अक्षय काव्य प्रतिभा के आलोक से आलोकित है। निस्सन्देह उनका सम्पूर्ण काव्य प्रौढ़ एवं उदात्त शैली का उत्कृष्ट निदर्शन है। माघ परिष्कृत पद-विन्यास के आचार्य हैं। माघ के प्रत्येक सर्ग में हमें ओजो गुण विशिष्ट कविता का विकास दृष्टिगत होता है। उनके पदविन्यास की घोर और गम्भीर गति वर्ण्यचित्र को समधिक सौन्दर्य और लालित्य प्रदान करती है। ज्ञान का अथाह सागर उनकी कविता में अर्थ की गरिमा को जन्म देता है। इन्हीं सम्पूर्ण विशेषताओं के कारण विद्वान 'माघे सन्ति त्रयोगुणाः' जैसी उद्घोषणा करते हैं।

उपमा कालिदास की अपनी विशेषता है, उपमा का जो सरस और उचित प्रयोग कालिदास में मिलता है, निस्सन्देह अन्य कवियों में उसका अभाव है। उनकी उपमा सहज, सरल और उपमेय के यथार्थ को व्यक्त करने वाली होती है। उपमा के प्रयोग में माघ को सर्वदा कालिदास के समान सफलता नहीं मिली है, कभी-कभी उपमा के प्रयोग में वे पूर्णतः असफल भी हैं। फिर भी उनके यहाँ सुन्दर उपमाओं का अभाव नहीं है—महाकवि जलधर नील मुक्तालता से अलंकृत कृष्ण के वक्ष की उपमा आकाशगंगा से देते हैं—

उभौ यदि व्योम्नि पृथक्प्रवाहावाकाशगङ्गापयसः पतेताम्।
तेनोपमीयेत तमालनीलमामुक्तालतमस्य वक्षः॥

हिमधवल नारद की उपमा सुमेरु पर्वत से द्रष्टव्य है। जहाँ वे विद्युत समूह सम्पन्न शरद् ऋतु के मेघ के तुल्य प्रतीत होते हैं—'घन घान्ते तडितां गणैरिव,' श्वेत बादल एवं नारद, विद्युत तथा पीत लता की उपमा सुन्दर है।

श्रीकृष्ण की आभा पूर्णचन्द्र के कलङ्क की तरह नीली थी, और स्वर्णिम जरी से निर्मित उत्तम पीताम्बर को उन्होंने धारण कर रखा था, अतः वे बड़वाग्नि युक्त समुद्र की तरह प्रतीत हो रहे थे—

स तप्तकार्तस्वरभास्वराम्बरः कठोरताराधिपलाञ्छनच्छविः।
विदिद्युते वाडवजातवेदसः शिखाभिराश्लिष्ट इवाम्भसां निधिः॥

इनके अतिरिक्त अनेकों उपमाएँ माघ के काव्य में भरी हुई है, कहीं चहचहाती चिड़ियों का कलरव जल में डूबते हुए घड़े के समान कलकल शब्दानुकारी है, तो कहीं प्रातःकालीन गृह-दीपों की मन्द कान्ति शिखा ऊँघते हुए गृह-नेत्रों के समान है।

महाकवि माघ की उपमाओं में कुछ दोष भी हैं, वे स्वाभाविक नहीं हैं। आशय

यह है कि जहाँ कालिदास की उपमायें सहज-स्वाभाविक रूप में रस का परिपोष करती हुई स्वाभाविकता एवं सरता का विधान करती हैं वहाँ माघ की उपमाएँ उनके पाण्डित्य ज्ञान से भाराक्रान्त हैं किन्तु उनमें व्यापकता है, और अच्छी-अच्छी उपमाओं का अभाव नहीं है।

अर्थ-गौरव की दृष्टि से भारवि की विशेष प्रसिद्धि है किन्तु माघ के साहित्य में अर्थ-गौरव से भरपूर श्लोकों का अभाव नहीं है। माघ के राजनीति और व्यवहार नीति के श्लोकों की तुलना भारवि के श्लोकों से सहज ही की जाती है। माघ के आदर्श भारवि रहे हैं, इसलिए माघ ने प्रत्येक क्षेत्र में भारवि को चुनौती देने का प्रयास किया है, इसमें माघ खरे उतरे हैं, उनका शिशुपालवध महाकाव्य इस बात का प्रमाण है। इसलिए अर्थगौरव की दृष्टि में भी दोनों की तुलना सहज की जा सकती है। किन्तु यह भी सत्य है कि भारवि के भावों में सरलता और स्वाभाविकता है, तो माघ में पांडित्य और प्रदर्शन का बोलबाला और भारवि को नीचा दिखाने की भावना।

बलभद्र श्रीकृष्ण से कह रहे हैं कि अनियन्त्रित बल कुछ और है तथा शास्त्रानुसारी बल कुछ और है। प्रकाश और अन्धकार की भाँति ये दोनों एक स्थान पर कैसे रह सकते हैं—"समानाधिकरण्यं हितेजस्तिमिरयो : कुतः।"

सूर्य भगवान् संसार को अपने रश्मिजाल से पवित्र करते हैं, अता वह पवित्र है किन्तु अर्चनीय भगवान् कृष्ण को जो अतिशय पवित्रतम हैं, उन्हें अपनी किरणों से स्पर्श करने में असमर्थ होकर पूर्णेन्दु प्रभा तुल्य आतपत्र मात्र ऊपर छा जाता है—

जगत्पवित्रैरपि तं न पादैः स्पष्टु जगत्पूज्यमयुज्यतार्कः।
एतो बृहत्पार्वणचन्द्रचारुः तस्यातपत्रं बिभरांबभूवे॥

माघ ने कन्या की विदाई का बहुत ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। पर्वत-पुत्रियाँ (नदियाँ) अपने पिता की गोद में निर्द्वन्द्व भाव से लोट-पोट करने के बाद पति (सागर) समागम के लिए विदा हो रही है। इस विदा की बेला पर पिता के हृदय वियोग-विह्वल होकर पक्षियों के कलरव के रूप में करुण क्रन्दन कर रहा है—

अपशङ्कमङ्कपरिवर्तनोचिताश्चलिताः पुरः पतिमुपैतुमात्पजाः।
अनुरोदितीव करुणेन पत्रिणां विरुतेन वत्सलतयैष निम्नगाः॥

माघ के काव्य में अर्थ भरे पदों की कमी नहीं है, इसलिए मल्लिनाथ ने माघ के अर्थगर्भित काव्य को पढ़कर लिखा था कि भाव से तरङ्गित रस सुधा-सागर के प्रवाह में जो निमज्जित होना चाहते हैं, उनके लिए माघ का काव्य है—

"क्षुभ्यभ्दावतरङ्गिते रससुधापूरे निमङ्क्षन्ति ये।'

मल्लिनाथ ने भारवि के काव्य में भी अर्थगौरव पाया है किन्तु उनके अर्थ-गौरव तक पहुँचने के लिए कठोर श्रम करने की आवश्यकता है, भारवि का काव्य नारियल के फल के समान है, उसे फोड़कर ही उसका रसास्वादन सम्भव है—

नारिकेलफलसंनिभं वचो भारवेः सपदि यद्विभज्यते।
स्वादयन्तु रसगर्भनिर्भरं सारमस्य रसिका यथेप्सितम्॥

पदलालित्य की दृष्टि से संस्कृत के कवियों में दण्डी और श्रीहर्ष विशेष लोकप्रिय हैं, किन्तु माघ कवि भी इस दिशा में इनसे कम नहीं हैं। माघ के काव्य का शब्दविधान भारवि और कालिदास के शब्द विस्तार से कहीं अधिक है। माघ का

भाषा पर और शब्दावली पर असामान्य अधिकार है। माघ के किसी प्रशंसक ने लिखा है कि माघ के प्रारम्भिक नौ सर्ग पढ़ने के बाद कोई नवीन शब्द शेष नहीं—"नवसर्गगते माघे नव शब्दो न विद्यते।" इसी प्रकार "मेघे माघे गतं वय:" की उक्ति भी प्रसिद्ध है, जो इस बात की साक्षी है कि माघ के काव्य को पढ़ते-पढ़ते ही सम्पूर्ण अवस्था बीत गई, किन्तु उसके पारङ्गत न हो सके।

माघ के पदलालित्य के कुछ उदाहरण—

मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे॥

माघ के कामशास्त्री मन की रसस्निग्धता उसके शब्दों में भी व्यक्त हो उठी है—

यां यां प्रिय: प्रैक्षत कातराक्षीं सा सा ह्रिया नम्रमुखी बभूव।
नि:शंकमन्या: सममाहितेर्ष्यास्तत्रान्तरे जघ्नुरमुं कटाक्षै:॥

रैवतक पर्वत बिहारी बादलों को देखिए—

"स्थगयन्त्यमू: शमितचातकार्तस्वरा
जलदास्तडित्तुलितकान्त कार्तस्वरा:।
जगतीरिह स्फुरितचारुचामीकरा:
सवितु: क्वचित् कपिशयन्ति चामीकरा:।"

एक अन्य उदाहरण—

निदाघधामानमिवाधिदीधितिं।
मुदा विकासं मुनिमभ्युपेयुषी॥

निश्चय ही इन उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि माघ के काव्य में पद-लालित्य की सत्ता विद्यमान है। संस्कृत साहित्य की रूपरेखा के लेखक माघ के विषय में लिखते हैं कि,"यद्यपि उनमें भारवि की परिमितता एवं गम्भीर्य नहीं हैं, तथापि उनकी व्यंजना प्रणाली अनुपम और कल्पना अपरिमित है। माघ में कालिदास की उपमाएँ भले ही न मिलें, फिर भी उनमें न सुन्दर उपमाओं का अभाव है, न अर्थगौरव की कमी। पदों का ललित विन्यास तो निस्सन्देह प्रशंसनीय है। माघ की पदशय्या इतनी अच्छी है कि कोई भी शब्द अपने स्थान से हटाया नहीं जा सकता। माघ का संस्कृत भाषा पर पूरा अधिकार है। नवीन शब्दावली का तो उनका काव्य आगार ही है।"

संस्कृत महाकाव्य की परम्परा में कालिदास के बाद दूसरा सशक्त व्यक्तित्व माघ का है। माघ अलंकृत पद शैली के कवि हैं। माघ में उपमा, अर्थगम्भीर्य और पदलालित्य के एक साथ दर्शन होते हैं। अत: उनके काव्य का विशेष महत्व प्राप्त है—'काव्येषु माघ:।" और तीनों गुणों में सम्पन्न होने के कारण "माघे सन्ति त्रयोगुणा:" कहना भी अनुचित नहीं है।

प्रश्न (२३) ह्विटने कृत संस्कृत ग्रामर की भूमिका में दिए गए इस कथन की कि भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी तिथियाँ कागज में लगाई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं, विवेचना करते हुए यह स्पष्ट कीजिए कि इस प्रकार के कथन क्यों प्रचलित हुए ?

उत्तर—इसमें कोई संदेह नहीं की संस्कृत साहित्य ने विविध मुखी उन्नति की

है पर ऐतिहासिक जगत् में उसने कोई विशेष प्रगति नहीं की और न केवल संस्कृत में इतिहास सम्बन्धी ग्रंथ संख्या में बहुत कम हैं अपितु उनमें कल्पना के अनुमान का ही अतिरेक विशेष रूप से दीख पड़ता है। अनेक कवियों या नाटककारों का पूर्ण जीवन तो तिमिराच्छन्न ही है और संस्कृत के बहुत से प्राचीन साहित्यकारों का स्थितिकाल भी अभी तक निर्धारित न हो सका। यह तथ्य साधारण लेखकों पर ही लागू नहीं होता, अपितु भास और कालिदास जैसे सुप्रसिद्ध लेखकों के सम्बन्ध में भी है तथा कालनिर्धारण करते समय संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में पाँच-पाँच, छह-छह शताब्दियों तक का मतभेद पाया जाता है। कदाचित् यही कारण है कि डब्लू० टी० ह्विटने ने आज के लगभग अस्सी वर्ष पूर्व 'संस्कृत ग्रामर' की भूमिका में यह मत व्यक्त किया था, "भारतीय साहित्य के इतिहास में दी हुई सारी तिथियाँ कागज में लगाई हुई उन पिनों के समान हैं जो फिर से निकाल ली जाती हैं।'

संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक तत्वों के अभाव का कारण स्पष्ट करते समय पूर्ण सन्तोषजनक उत्तर देना भी सरल नहीं। पर प्रो० हंसराज अग्रवाल ने अवश्य इस दिशा में निम्नलिखित महत्वपूर्ण तथ्य व्यक्त किये हैं—

(१) पश्चिम में इतिहास का अर्थ जो लिया जाता है, भारतीय लोग इतिहास का यह अर्थ नहीं लेते थे। आर्य लोगों का ध्यान भारतीय संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की ओर लगा हुआ था। संस्कृति और सभ्यता की उन्नति में सहायता करने वालों को छोड़कर किसी अन्य राजा का, महापुरुष का या अपना इतिहास लिखने में आर्य लोगों की अभिरुचि नहीं थी। भारतीयों के बौद्धिक और आध्यात्मिक जीवन के विकास की एक-एक मंजिल का जैसा सावधानतयापूर्ण उल्लेख संस्कृत साहित्य में मिलता है, वैसा जगत् के किसी अन्य साहित्य में नहीं।

(२) भारतीय मनोविज्ञान की और परिस्थितियों की विशेषताएँ—कर्म का और भाग्य का सिद्धान्त, दैनिक हस्तक्षेपों में मंत्र-तंत्र में यथा जादू में विश्वास, वैज्ञानिक मनोवृत्ति का अभाव—ऐसी बातें हैं, जो एक बड़ी सीमा तक इतिहास के अभाव का कारण हैं। यहाँ तक कि जैन और बौद्ध भी ऐसे ही विश्वास रखते थे।

(३) १२०० ई० तक भारत में राजनीतिक घटनाओं की गति से भी शायद कोई सर्वप्रिय बनने वाली बात पैदा नहीं हुई।

(४) भारतीय में राष्ट्रीयता (Nationality) के भावों का न होना भी इसका एक बड़ा कारण है। सिकन्दर की विजयों का प्रभाव चिरस्थायी नहीं हुआ और विदेशी आक्रमणों ने भी भारतीयों में राष्ट्रीयता के भावों को जन्म नहीं दिया। मुसलमानों को अपने आक्रमणों में कदाचित् इसीलिए सफलता नहीं मिली की भारतीय राजा, महाराजा विदेशी आक्रमणकारियों को उतनी घृणा की दृष्टि से नहीं देखते थे, जितनी घृणा की दृष्टि से वे एक दूसरे को देखते थे।

(५) भारत के साधारण लोग समय की यह देश की दृष्टि से दूर एक राजाओं के इतिहास और प्रशस्ति काव्यों में अभिरुचि नहीं रखे थे। यही कारण है कि अक्षय यश की कामना रखने वाले कवियों ने अपनी कृतियों के विषय समकालीन वीरों के जीवनों में से कम और रामायण तथा महाभारत में से अधिक चुने।

(६) एक और कारण यह है कि भारतीय लोग विशेष की अपेक्षा साधारण को

अधिक पसंद करते हैं। यहाँ तक कि जब दो विरोधी पक्षों पर ऊहापोह किया जाता है, तब भी व्याख्याकारों के जीवन के सम्बन्ध में कोई बात न कहकर केवल विवाद सम्बन्धिनी युक्तियाँ ही प्रस्तुत की जाती हैं। जब दर्शनों के भिन्न-भिन्न सम्बन्धिनी सम्प्रदायों की व्याख्या की जाती है तब भी ऐतिहासिक काल को गौण रक्खा जाता है।

(७) पुराने साहित्य के अधिक ग्रन्थ हमें कुटुम्ब ग्रन्थों के या सम्प्रदाय ग्रन्थों के या मठ-गुरु-ग्रन्थों के रूप में मिले हैं; जिनकी रचयिताओं तक के नामों का भी उल्लेख नहीं मिलता है।

(८) बाद के साहित्य में जब रचयिताओं के नाम मिलते हैं, तब वे नाम भी कुटुम्ब (या गोत्र) के रूप में मिलते हैं। फिर, यह पता कि कोई कवि विक्रमादित्य के या भोज के राज्य-काल में हुआ, ऐतिहासिक दृष्टियों से हमारे लिए केवल इतना ही सहायक हो सकता है, जितना यह पता कि यह घटना एक जार्ज एडवर्ड के राज्य-काल में हुई।

(९) यदि किसी रचयिता का नाम दिया भी गया है तो उसके माता-पिता का नाम नहीं दिया गया। एक ही नाम के अनेक रचयिता हो सकते हैं।

(१०) कभी-कभी एक ही नाम भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है। भारतीयों में नामों के पर्याप्त तथा संक्षिप्त रूप व्यवहार में लाने की बड़ी प्रवृत्ति पाई जाती है।

उक्त तथ्यों से हम बहुत कुछ अंशों में यह समझ सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक तत्वों का अभाव क्यों है पर यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भारतीयों में ऐतिहासिक बुद्धि के अभाव की कल्पना करना युक्तिसंगत न होगा, क्योंकि इतिहास के क्षेत्र में पुराणों व अनेक ग्रन्थों के अतिरिक्त निश्चित तिथियों से युक्त कई शिलालेख भी मिलते हैं। इतना ही नहीं ज्योतिष के ग्रंथकारों ने तो ग्रंथ समाप्ति की निश्चित तिथियाँ तक दी हैं।

प्रश्न (24) संस्कृत साहित्य के प्रमुख ऐतिहासिक काव्यों का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त विवेचन कीजिए।

प्रश्न (25) निम्नलिखित पर संक्षिप्त सारगर्भित टिप्पणियाँ लिखिए (क) बाणभट्टकृत हर्षचरित (ख) परिमल या पद्मगुप्त कृत नवसाहसांक चरित (ग) बिल्हण कृत विक्रमांकदेव चरित (घ) कल्हण की राजतरंगिणी।

उत्तर—यह हम स्वीकार करते हैं कि योरोपीय पद्धति में इतिहास लिखने की पद्धति प्राचीन भारत में नहीं थी और न ऐतिहासक घटनाओं का तिथि-क्रम से विन्यास करने की वैज्ञानिक परम्परा ही प्रारम्भ हुई थी पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्राचीन भारत में इतिहास की ओर सर्वथा उदासी प्रकट की गयी। श्री वाचस्पति गैरोला के शब्दों में, "इतना तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय साहित्य में इतिहास विषय की महत्ता को प्राचीन काल से ही स्वीकार किया जाने लगा था। यास्क (७०० ई० पूर्व) के निरुक्त में ऋचाओं के स्पष्टीकरण के लिए ब्राह्मण ग्रंथों तथा प्राचीन अनार्यों की कथाओं को 'इतिहासमाचक्षते' कहकर उल्लेख किया गया है। निरुक्त से यह भी विदित होता है कि वेदार्थ के निरूपण करने वाले प्राचीनतम वेदव्याख्याकारों में एक सम्प्रदाय इतिहासकारों का भी था, जिसको कि

'इतिहासिकाः' कहकर बार-बार स्मरण किया गया है। निरुक्त में भी पुराण और इतिहास को वेदों के समकक्ष माना गया है।

देवर्षि नारद जब सनत्कुमार के पास ब्रह्मविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिए गए तो सनत्कुमार के पूछे जाने पर नारद ने अपनी अधीन विधाओं में इतिहास पुराण को पंचम वेद के रूप में बताया है। इतिहास को आवश्यकता और उसके सर्वतोभावी प्रकार का उल्लेख करते हुए आचार्य कौटिल्य (४०० ई० पू०) ने कहा है कि अथर्ववेद और इतिहास दोनों वेद हैं। इतिहास के अंतर्गत पुराण, इतिवृत्त, उदाहरण, धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र सभी का समावेश हो जाता है। आचार्य कौटिल्य के इस मंतव्य से पुराण-व्यतिरिक्त इतिहास के स्वतन्त्र अस्तित्व का भी पता चलता है।

संस्कृत साहित्य में इतिहास विषयक सामग्री प्रायः चार रूपों में उपलब्ध होती है। कुछ ग्रन्थकारों ने अपने पूर्ववर्ती ऐतिहासिक ग्रन्थों का उल्लेख किया है; किन्तु जो ग्रन्थ संप्रति उपलब्ध नहीं हैं। दूसरी प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री हमें दानपत्रों अन्तलेखों, प्रशस्तियों आदि में मिलती है, तीसरी प्रकार की सामग्री 'रामायण', महा-भारत एवं पुराण आदि महाग्रन्थों में उपलब्ध होती है, और चौथी प्रकार की यथेष्ट सामग्री काव्यपरक इतिहास ग्रन्थों में संकलित है।" इन काव्यपरक इतिहास ग्रन्थों को ही ऐतिहासिक काव्य या ऐतिहासिक महाकाव्य कहा जाता है और विचारकों का तो स्पष्टतया यही कहना है कि "आठवीं-नवीं शताब्दी के बाद संस्कृत कवियों में अपने आश्रयदाता राजाओं को लक्ष्य करके काव्य रचने की परिपाटी चल पड़ी, जिन्हें ऐति-हासिक काव्य कहा जाता है। वस्तुतः इनमें उतनी ऐतिहासिकता नहीं होती, जितनी काव्य में रूढ़ बने विषयों का वर्णन करने की प्रवृत्ति और अपने आश्रयदाता को एक आदर्श नृपति के रूप में अंकित करने की भावना। फिर भी सूक्ष्य आलोडन करने से उनमें महत्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य ढूंढ़े जा सकते हैं।"

हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि ऐतिहासिक महाकाव्यों की परम्परा का सूत्रपात पालि के वंश ग्रन्थों से माना जाता है और कुछ विचारक बाल्मीकि रामायण व महाभारत को भी ऐतिहासिक महाकाव्य मानते हैं तथा कुछ ने अश्वघोषकृत 'बुद्धचरित' को संस्कृत का पहला 'ऐतिहासिक' काव्य माना है। इसी प्रकार कुछ विद्वान बाणभट्ट के हर्षचरित को और कुछ विद्वान परिमल या पद्मगुप्तकृत नवसाहसांक चरित को पहला ऐतिहासिक महाकाव्य मानते हैं अतः इससे स्पष्ट है कि सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य के सम्बन्ध में विचारक एक मत नहीं हैं। यों तो बाणभट्ट कृत 'हर्षचरित' गद्य काव्य ही है अतः ऐतिहासिक काव्य 'नवसाहसांक चरित्र' को ही मानना उचित जान पड़ता है। पर अधिकांश विद्वानों ने सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य-रचना का श्रेय बाणभट्ट को प्रदान किया है अतः हम भी यहाँ बाणभट्ट के 'हर्षचरित' को सर्वप्रथम ऐतिहासिक काव्य मानते हैं और उसका परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत करते हुए अन्य प्रमुख ऐतिहासिक काव्यों का संक्षिप्त समीक्षात्मक मूल्यांकन प्रस्तुत करेंगे।

बाणभट्ट कृत हर्षचरित

प्रो० चन्द्रशेखर पांडेय के कथनानुसार, "सर्वप्रथम ऐतिहासिक गद्यकाव्य की रचना करने का श्रेय बाणभट्ट को है।" और इस प्रकार, "बाण का हर्षचरित सातवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में लिखा गया था। इसमें आठ अध्याय हैं जिन्हें उच्छ्वास कहते हैं।

कविकृत कादम्बरी के समान यह भी अपूर्ण है। कदाचित् मृत्यु ने कवि को बीच में ही उठा लिया हो। इस ग्रन्थ से हमें हर्ष के अपने जीवन तथा उसके कतिपय निकटतम पूर्वजों के सम्बन्ध में थोड़ी-सी बातें मालूम होती हैं किन्तु इसमें कई महत्त्वपूर्ण घटनाओं को (जैसे, हर्ष के भाई की तथा हर्ष के बहनोई गृहवर्मा की मृत्यु के बारे में बताने योग्य आवश्यक बातों को अंधकार में ही छोड़ दिया गया है।) ऐतिहासिक अंश छोड़कर सारा ग्रन्थ एक कल्पनामय कहानी है और इसका प्रारम्भ कवि के वंश को पौराणिक शैली की उत्पत्ति से होता है। उपोद्घात में प्रसंगवश भूतकालीन कुछ प्रसिद्ध कवियों के नामों का उल्लेख किया गया है—जैसे, वासवदत्ताकार भट्टारहरिश्चन्द्र, सातवाहन प्रवरसेन, भास, कालिदास, बृहत्कथाकार, अतः साहित्यिक इतिहास की दृष्टि से यह ग्रन्थ विशेष महत्व रखता है।"

यद्यपि 'हर्षचरित' में हर्ष का पूर्ण जीवनवृत्त नहीं दिया गया और कहीं-कहीं महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक पात्रों के नाम तक का भी उल्लेख नहीं हुआ, पर उसमें जिन ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन हुआ है वह प्रसिद्ध चीनी यात्री ह्वेनसांग के वर्णन के अनुरूप है तथा बाणभट्ट ने घटनाओं का कुछ ऐसा सूक्ष्म व ब्यौरेवार वर्णन किया है कि ह्वेनसांग ने अपने संस्मरणों में जहाँ कहीं धार्मिक पक्षपात से प्रभावित हो अयथार्थ वर्णन किया है उसका स्पष्ट पता चल जाता है। अतः 'हर्षचरित' का ऐतिहासिक वृत्तान्त तत्कालीन इतिहास के शोध में विशेष रूप से सहायक है। इसी प्रकार उसकी रचना यद्यपि गद्य में हुई है पर भाषा पूर्णतया कवित्वमय है और इतिवृत्तों का उल्लेख सीधी-सादी भाषा में नहीं हुआ बल्कि सर्वत्र अलंकारिक व कल्पना विचार शैली प्रयुक्त हुई है जो कि काव्य का-सा आनन्द प्रदान करती है। एक विद्वान् ने 'हर्षचरित' की प्रशंसा में उचित ही कहा है—

> बाण कवीनामिव चक्रवर्ती चकास्ति यस्योज्ज्वलवर्ण शोभम्।
> एकातपत्रं भुवि पुष्पभूतिवंशाश्रयं हर्षचरित्रमेव॥

परिमल या पद्मगुप्त कृत नवसाहसांक चरित

परिमल अथवा पद्मगुप्त धार-नरेश मुंज और उनके पुत्र सिन्धुराज (नवसाहसांक) के राजकवि थे तथा उन्होंने १००५ ई० के लगभग 'नवसाहसांक चरित' की रचना की। इसमें सिन्धुराज नवसासांक का राजकुमारी शशिप्रभा से विवाह का वर्णन हीं मुख्य रूप से है, पर बारहवें सर्ग 'नवसाहसांक' के पूर्ववर्ती धारा के राजाओं का भी ऐतिहासिक क्रम से उल्लेख किया गया है। इस प्रकार अठारह सर्गों का यह महाकाव्य मूलतः एक प्रशस्ति मात्र है और उसमें लम्बी-लम्बी वक्तृताओं व विस्तृत वर्णनों की अधिकता के कारण न केवल कथा प्रवाह अवरुद्ध हो गया है अपितु ऐतिहासिक महत्त्व भी न्यून हो गया है पर यदि इसकी पौराणिक वर्णन प्रणाली व अलंकृत काव्य-शैली के मध्य ऐतिहासिक तत्त्वों की खोज की जाय तो तत्कालीन इतिहास के अनेक ऐसे विश्वसनीय तथ्य ज्ञात होते हैं जिनकी पुष्टि शिलालेखों आदि बाह्य प्रमाणों द्वारा भी हो जाती है।

निस्संदेह 'नवसाहसांक चरित' उच्चकोटि की सरस काव्य शैली एवं सुबोध भाषा में लिखा गया है तथा १८ सर्गों में १९ प्रकार के भिन्न-भिन्न छन्दों में कुल मिला कर १५०० पद्य हैं। साथ ही परिमल या पद्मगुप्त की भाषा-शैली पर कालिदास की

शैली का स्पष्ट प्रभाव दीख पड़ता है और स्वयं कवि ने कालिदास की प्रशंसा में अपने उद्‌गार व्यक्त किए हैं तथा अनुपम काव्य-माधुर्य से युक्त यह अवतरण दर्शनीय है—

तरलोर्मिलङ्घितनितम्बफलकलुलिताच्छवाससः ।
फेनपटलमसिताब्जदृशः क्षणमेकमंशुकावलासमाददे ॥
सलिलाहतित्रुटितहारपरिगलितमौक्तिकव्रजात् ।
मुग्धयुवतिरपरा निदधे दृशमब्जिनीदलपुटोदबिन्दुषु ॥

विल्हणकृत विक्रांमदेव चरित

विल्हण का जन्म कश्मीर में प्रवरपुर के समीप श्वोनसुख ग्राम में एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और उनके पिता का नाम ज्येष्ठकलश तथा माता का नामादेवी था। विल्हण विद्याभ्यास की समाप्ति पर मथुरा, कन्नौज, प्रयाग, काशी, अह्लवाड़ा आदि स्थानों का पर्यटन करते हुए अन्त में दक्षिण में कल्याण के चालुक्यवंशी राजा छठें विक्रमादित्य (१०७६-११२६ ई०) की राज-सभा में पहुँचे और उसने उन्हें अपना सभापंडित बनाकर 'विद्यापति' की उपाधि से विभूषित किया। इस प्रकार 'विक्रमांकदेव चरित' में १८ सर्गों में चालुक्यवंशी राजा विक्रमादित्य का चरित वर्णित है और "प्रथम सात सर्गों में अधिकांश ऐतिहासिक सामग्री है किन्तु आठवें सर्ग से राजकुमारी चन्दलदेवी का नायक के साथ परिणय-प्रबन्ध आरम्भ होता है। वसन्त ऋतु का शृंगारिक वर्णन, नायिका का सौन्दर्य वर्णन, विवाह और काम-क्रीड़ाओं का वर्णन ग्यारहवें सर्ग तक चलता है। इनके पश्चात् भी जलक्रीड़ा, मृगया आदि का वर्णन बारहवें, तेरहवें और सोलहवें सर्ग में है। चौदहवें और पन्द्रहवें सर्ग में कौटुम्बिक कलह एवं सत्रहवें सर्ग में चोलों की पराजय का वृत्तान्त है। अठारहवें सर्ग में विल्हण ने अपने कुटुम्ब के वर्णन के साथ अपनी भारत यात्रा का वृत्तान्त लिखा है।"

'विक्रमांकदेवचरित' में ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन करने की ओर पूर्ण ध्यान दिया गया है और कवि ने अपने देशाटन का जो रोचक वर्णन किया है वह तत्कालीन भारत की सामाजिक अवस्था पर पर्याप्त प्रकाश भी डालता है पर पौराणिक व अलौकिक प्रसंगों के उल्लेख से काव्य का ऐतिहासिक महत्व कम हो गया है। साथ ही उसमें घटनाओं की तिथियाँ भी नहीं दी गयीं और कहीं-कहीं चरितनायक का अतिरंजित वर्णन भी हुआ है पर कवित्व की दृष्टि से वह निस्संदेह रमणीय कृति है। सम्पूर्ण महाकाव्य में माधुर्य व प्रसाद का पर्याप्त पुट है और वीररस की प्रधानता होते हुए भी शृङ्गार व करुण का पुट भी कम नहीं है तथा उनके काव्य में कुछ ऐसी विलक्षण प्रौढ़ि है जिससे विदग्ध हृदय सर्वदा उनकी कविता पर रीझता रहता है। उदाहरणार्थ—

कर्णामृतं सूक्तिरसं विमुच्य दोषे प्रयत्नः सुमहान् खलानाम् ।
निरीक्षते केलिवनं प्रविष्टः क्रमेलकः कण्टकजालमेव ॥

कल्हण की राजतरंगिणी

महाकवि कल्हण कृत 'राजतरंगिणी' ऐतिहासिक काव्यों में सर्वाधिक उल्लेखनीय है और कल्हण का जन्म कश्मीर में लगभग ११०० ई० में हुआ था। वे कश्मीर के तत्कालीन महाराजा विजयसिंह के मंत्री चम्पक के पुत्र थे और उन्होंने 'राजतरंगिणी' में आदिकाल से लेकर सन् ११५१ ई० के आरम्भ तक के कश्मीर के प्रत्येक राजा के शासन-काल की घटनाओं का वर्णन किया है। अतः संस्कृत साहित्य में ऐतिहासिक

घटनाओं के क्रमबद्ध इतिहास का यह प्रथम प्रयास माना जा सकता है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कल्हण ने ऐतिहासिक घटनाओं का निष्पक्ष वर्णन किया है और यदि कोई शासक अच्छा हुआ तो उन्होंने उसकी प्रशंसा की अन्यथा उसके पतन का वर्णन भी किया है तथा तत्कालीन कश्मीरी समाज की दुष्प्रवृत्तियों का भी निष्पक्ष वर्णन किया है। साथ ही उन्होंने राजकथाओं के ११ संग्रहों, नीलमतपुराण, अधिकार-पत्रों, शिला-लेखों, दानपत्रों, प्रशस्तियों और हस्तलिखित ग्रन्थों की भी सहायता ली है तथा सभी प्रकार की स्थानीय जनश्रुतियों व परम्पराओं का भी लाभ उठाया है। अत: 'राजतरंगिणी' में कश्मीर के डेढ़ हजार वर्षों का राजनीतिक व सांस्कृतिक इतिहास अत्यन्त सूक्ष्मतापूर्वक प्रस्तुत हुआ है। इसीलिए विचारक 'राजतरंगिणी' को कश्मीर का तत्कालीन विश्वकोश (इनसाइक्लोपीडिया) मानते हैं।

'राजतरंगिणी' आठ खण्डों में विभाजित है और उसमें कुल ७८२६ श्लोक हैं तथा ऐतिहासिक रचना होते हुए भी उसमें काव्यात्मक गुणों का अभाव नहीं है। यद्यपि सैकड़ों वर्षों के दीर्घकाल का इतिहास लिपिबद्ध होने के कारण उसमें काव्योचित वैचित्र्य के लिए अधिक अवकाश न था पर जहाँ-तहाँ कवि-कल्पना, रस, अलंकार और भावों का सुन्दर समावेश हुआ है तथा संवाद सुन्दर व ओजपूर्ण है। साथ ही "राजतरंगिणी की भाषा प्रभावशाली, सरल और सुबोध है। शैली प्रायः महाभारतीय है। राजतरंगिणी की शिक्षाओं को सर्वजन सुलभ बनाने के लिए कल्हण साधारण शब्द और अर्थ के विन्यास को अपेक्षित मानते थे। फिर भी कहीं-कहीं माघ और भारवि का अनुकरण करते हुए मनोरम वर्णनों का समावेश करने के लिए कल्हण ने उनकी काव्य शैली को अपनाया है। हृदय को भावावेश में लाने वाले स्थल पर कल्हण की शैली भावुकतापूर्ण हो जाती है और वे ऐतिहासिक वृत्तों की परिधि से निकल कर रसिकता की सृष्टि करने लगते हैं। शब्द और अर्थ सम्बन्धी अलंकारों, छंदों और व्यंजनाओं के सौष्ठवपूर्ण विनियोजन सम्बन्धी कल्हण की योग्यता का परिचय राजतरंगिणी से मिलता है।" कल्हण की एक मार्मिक उक्ति दर्शनीय है—

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृत्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशाहम्वारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यौ पितरावदूरमरणौ स्वामी द्विषन्निर्जितो
दृष्टो येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्॥

"जिसने भूख से बिलबिलाते प्यारे पुत्र को, दूसरे के घर सेवा करने वाली अपनी स्त्री को, विपत्ति में पड़े हुए मित्र को, दुही हुई किन्तु चारा न मिलने के कारण रम्भाती हुई गाय को, पथ्य के अभाव में रोग-शय्या पर मरणासन्न माता-पिता को तथा शत्रु से पराजित अपने स्वामी को देख लिया, उसे मारने के बाद नरक में भी इससे अधिक अप्रिय दृश्य देखने को क्या मिलेगा?"

कल्हण परवर्ती ऐतिहासिक काव्य

कल्हण के उपरान्त भी संस्कृत साहित्य में अनेक ऐतिहासिक काव्य लिखे गए और इनमें सर्वप्रथम कल्हण रचित 'सोमपाल विलास' उल्लेखनीय है जिसमें राजपुरी के नरेश सोमपाल का जीवनवृत्त अंकित है। इसके पश्चात् जैन मुनि हेमचंद्र (१०८८-११७२ ई०) ने अहिलवाड़ा के चालुक्यवंशी राजा कुमारपाल के सम्मानार्थ 'कुमार-

पाल-चरित' या द्वयाश्रय काव्य की रचना की और दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के आश्रित कवि जयानक ने अपने पृथ्वीराज विजय' (१२०० ई०) में पृथ्वीराज के जीवन-चरित्र का वर्णन किया। इसी प्रकार गुजरात के सोमेश्वरदत्त (११७९-१२६२ ई०) ने 'कीर्ति कौमुदी' और 'सुरथोत्सव' नामक दो प्रशस्तियों की रचना की, जिनमें से 'सुरथोत्सव' में स्वयं कवि ने अपना वंश परिचय भी दिया है। इसके उपरान्त अरिसिंह ने 'सुकृत संकीर्तन' नामक ११ सर्गों का एक चरित प्रधान महाकाव्य लिखा जिसमें गुजरात के प्रख्यात राजा वस्तुपाल के धार्मिक कृत्यों और उनके नाना मंदिर निर्माण करने का विस्तृत वर्णन किया है तथा संध्या करनंदिन् ने 'रामपाल:चरित' में बंगाल के राजा रामपाल (१०८४-११६० ई०) के पराक्रमों का वर्णन करते हुए बंगाल के ही नहीं अपितु आसाम, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा के इतिहास महत्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत की। इनके अतिरिक्त शम्भू रचित 'राजेन्द्रकर्णपूर', गंगादेवी रचित 'वीरकंपराय चरित' या 'मधुरा विजय' नामक ऐतिहासिक काव्य भी प्राप्त हुए हैं जिसमें लगभग ७०० ई० पूर्व से ७७० ई० तक का इतिहास वर्णित है तथा जयचन्द्र सूरि का 'हमीर महाकाव्य' और गौड़देशीय कवि चन्द्रशेखर का 'सुरजन चरित' महाकाव्य भी उल्लेखनीय ऐतिहासिक काव्य है। इस प्रकार कल्हण के पश्चात् ऐतिहासिक काव्यों का सृजन होता रहा पर यहाँ यह भी पूर्ण सत्य है कि जो प्रसिद्धि उनकी 'राजतरंगिणी' को प्राप्त हुई वह उनके परवर्ती किसी भी अन्य ऐतिहासिक काव्य को न हो सकी।

प्रश्न (२६) निम्नलिखित की समीक्षा कीजिए—

गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति तथा बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्

उत्तर—संस्कृत साहित्य के गद्य काव्य प्रणेताओं में बाणभट्ट निर्विवाद रूप से सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका कृतित्व उनके महान् व्यक्तित्व के कारण साहित्य में मूर्धन्य स्थान पर प्रतिष्ठित है। कविता में किसी पद्य-विशेष में अपनी कल्पना अथवा शब्द विशेष के प्रयोग द्वारा कवि प्रशंसा का अधिकारी बन जाता है, किन्तु गद्य-रचना में कवि अथवा गद्यकार तभी प्रशंसा का भोजन बन सकता है जबकि उसकी समग्र रचना अनुपम हो, आकर्षक हो, भावपूर्ण और कल्पना-सौन्दर्य से पूर्ण हो। गद्यकाव्य का लेखन सहज होते हुए भी उसमें उत्कृष्टता एवं लोकप्रियता प्राप्त करना सरल नहीं है क्योंकि गद्यकाव्य जनता के अधिक निकट है। "यह तो मनोवैज्ञानिक सत्य है कि नित्यप्रति के संघर्षपूर्ण व्यावहारिक जीवन में अभिव्यक्ति की जो शैली है वह गद्य ही है, न कि पद्य; क्योंकि यह सरल, सुबोध एवं स्पष्ट होते हुए भी संक्षिप्त तथा तथ्ययुक्त है। अतएव मानव-जीवन के व्यावहारिक पक्ष में गद्य का प्रयोग अत्यन्त व्यापक रहा है। वस्तुतः गद्य एक अपढ़ व्यक्ति के लिए भी अभिव्यक्ति का लचीला साधन है। जन-साधारण में प्रचलित विचार-विनिमय का साधन तो गद्य था ही,···घटना-प्रधान, बुद्धि-प्रधान, कथा-प्रधान, तर्क-प्रधान एवं आलोचनात्मक विचारों की अभिव्यक्ति में गद्य की अनिवार्यता रही। गद्य के प्रसार ने यह प्रमाणित कर दिया है कि साहित्य की यह (गद्य) शैली भी श्रेष्ठ काव्य-रचना में पूर्णतया समर्थ है। पद्य में लोग अपना बुद्धि-कौशल एवं कला नैपुण्य प्रदर्शित करते हैं परन्तु गद्य में यह उच्छृङ्खलता देखने को नहीं मिलती। गद्य हमारे साधारण क्रियात्मक जीवन का प्रतिबिम्ब है। प्रत्येक व्यक्ति उसकी बारीकियों से परि-

चित होता है, अतः श्रेष्ठ गद्य-काव्य लिखना सरल नहीं है, इसलिए प्राचीन आचार्यों की यह उक्ति यथार्थ है कि गद्य-काव्य में कवियों की परीक्षा होती है, वह उनकी कसौटी है—'गद्यं कवीनां निकषं वदन्ति।' और इस कसौटी पर बाणभट्ट सबसे अधिक खरे उत्तरे हैं।

बाणभट्ट की इस सफलता का राज उनकी अनुपमेय भावाभिव्यक्ति एवं कल्पना-कौशल, अद्वितीय रचना शैली और ललित पद विन्यास नें अन्तर्निहित है। बाणभट्ट की काव्य-चातुरी को देखकर सोड्ढल ने उन्हें कवि-चक्रवर्ती की उपाधि से विभूषित किया था, तो गोवर्धनाचार्य के अनुसार बाणभट्ट सरस्वती के अवतार थे—"वाणी बाणो बभूव है।" धर्मदास ने उनकी कविता की उपमा तरुणी के लावण्य से दी है, जो नितनूतन रहती है, जिसका सौन्दर्य क्षण दर्शक एवं पाठक को अपना ओर आकृष्ट करता है—

रुचिरस्वरवर्णपदा रसभाववती जगन्मनो हरति।
सा किं तरुणी? नहि नहि वाणी बाणस्य मधुरशीलस्य॥

"रुचिर स्वर, वर्ण तथा पदों से विभूषित, रस और भावों से अलंकृत वह संसार के चित्त को आकृष्ट कर रही है।" "क्या तुम किसी तरुणी की बात कर रहे हो? नहीं, मैं तो बाण की मधुर वाणी की बात कर रहा हूँ।" गङ्गादेवी बाणभट्ट की सुमधुर भारती में वीणा की मधुर झंकार सुनाती है—

वाणीपाणिपरामृष्ट वीणानिक्वाणहारिणीम्॥
भावयन्ति कथं वान्ये भट्टबाणस्य भारतीम्॥

उपर्युक्त प्रशंसा के मूल में बाणभट्ट की सर्वतोव्यापिनी प्रतिभा, कल्पना कौशल और रचना चातुरी है, इसीलिए यह कथन सर्वप्रसिद्ध है कि 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' अर्थात् गद्य काव्य संसार बाणभट्ट की उच्छिष्ट प्रतिभा और कल्पनाओं के सहारे जीवित है। इसके उदाहरणस्वरूप हम देखते हैं कि परवर्ती जितने भी गद्यकार हुए हैं उन पर बाणभट्ट का प्रभाव स्पष्ट है।

बाणभट्ट असाधारण प्रतिभाशाली गद्य लेखक हैं। सानुप्रास समासान्त पदावली, अपरिमित शब्दभण्डार, प्रकृति के व्यापक और मनोहारी चित्र, कोमल एवं भीषण कल्पना, मानवीय मनोवृत्तियों की सूक्ष्म एवं हृदयहारी परिकल्पना आदि के दर्शन यदि कहीं संस्कृत के गद्य लेखकों में एक साथ होते हैं, तो वे बाणभट्ट ही हैं, अपनी इन्हीं विशेषताओं के कारण बाणभट्ट अपने युग में ही लोकप्रिय हो गये थे, उस लोकप्रियता और उसकी गद्य काव्यगत विशेषताओं के कारण सहृदय आलोचक उनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि—बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

गद्यकाव्य की दृष्टि से उनके साहित्य का पर्यालोचन करने पर उनकी विशेषताएँ इस प्रकार स्पष्ट होती हैं, और इन विशेषताओं के आधार पर हम बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' इस कथन की यथार्थता से परिचित हो सकते हैं। वह "रमणीय प्रणयचित्रों, नखशिख वर्णन, प्राकृतिक दृश्यों के अंकन में अनुपम कलाकार हैं। उनके प्रणयचित्रों में संयोग और वियोग—दोनों ही प्रकार के भावों का सफल अंकन हुआ है। कवि ने महाश्वेता तथा कादम्बरी के विरह वर्णन में अद्वितीय कला का प्रदर्शन किया है। नखशिख-वर्णन के क्षेत्र में उन्होंने केवल स्त्रियों के नखशिख का वर्णन ही नहीं किया हैं अपितु 'पुरुषाकृति के सौन्दर्याङ्कन में भी अनुपम कला का प्रदर्शन किया है। जहाँ वे एक ओर

चाण्डाल कन्या, वारविलासिनियों, महारानी विलासवती, ताम्बूलकरकंवाहिनी पत्रलेखा तथा तपःपूत महाश्वेता और गन्धर्वराजपुत्री कादम्बरी का रूप वर्णन अत्यन्त दक्षता से करते हैं, वहाँ दूसरी ओर शूद्रक और चन्द्रापीड़ जैसे राजाओं का पुरुषोचित आकृति, जाबाली और जाबालीपुत्र हारीत, तथा पुण्डरीक और कपिञ्जल के तपस्विजनोचित वर्णन में अपूर्व सूझ-बूझ का परिचय देते हैं। यही नहीं, विशद, सजीव, अलंकृत और सूक्ष्म प्रकृति-चित्रण में भी कवि ने अपनी सूझ-बूझ, बहुज्ञता आदि का परिचय दिया है। राजभवन वर्णन, अश्व वर्णन, विन्ध्याटवी वर्णन, आदि वर्णनों के आधार पर भी हम कह सकते हैं कि **'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'** यह उक्ति सार्थक है।''

बाणभट्ट वर्णन कौशल में अपूर्व हैं, वे बड़ी सूझ-बूझ के साथ अपनी कल्पना के द्वारा भव्य चित्र प्रस्तुत करते हैं, जिन्हें पढ़कर पाठक का मन-मयूर भावविभोर हो नृत्य कर उठता है। वर्ण्य-विषय का सूक्ष्मातिसूक्ष्म वर्णन करते हैं, उसके किसी अंश या अंग को वे छोड़ना जानते ही नहीं हैं। कवि का वर्णन कौशल इतने उच्च स्तर का, सूक्ष्म तथा सर्वाङ्गपूर्ण है कि पाठक मन-ही-मन कह उठता है कि इस विषय में तो निस्सन्देह **'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्'** ही है। उदाहरण के लिए शूद्रक वर्णन, चाण्डाल कन्या वर्णन, विन्ध्याटवी, पम्पासर; प्रभात, सन्ध्या तथा चन्द्रोदय, शवर सेनापति, हारीत, जाबाली तथा जाबाली का आश्रम, उज्जयिनी, राजभवन अच्छोद नामक सर, सिद्धायतन, महाश्वेत तथा कादम्बरी और कादम्बरी का विरह इस दृष्टि से देखा जा सकता है। इन वर्णनों में कवि का ज्ञान, उसकी प्रतिभा, उसका शब्दकोश, अलंकार सौन्दर्य, सूक्ष्म किन्तु व्यापक और स्पष्ट चित्रण सभी कुछ प्राप्त है। इस दृष्टि से बाणभट्ट विश्व साहित्य में श्रेष्ठतम स्थान के अधिकारी बन सकते हैं।

बाणभट्ट अपनी कृति में अनुपम काव्यकौशल, मनोरम कल्पना, वैभव और ललित पद-विन्यास का यदि आश्रय लेते हैं तो कभी विकट वर्णन भी उनके काव्य में मिल जाते हैं। बाणभट्ट की रीति पञ्चाली है। वे विषयानुरूप पद-विन्यास में कुशल हैं। यह उनकी एक विशेषता है। उदाहरणार्थ यदि विकट विन्ध्याटवी के प्रसङ्ग में विकट-पदावली और जटिल शैली है—**'क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला', क्वचिदुन्मत्त मृगपतिनादभीतेव कण्टकिता**···तो कहीं वसन्त वर्णन प्रसङ्ग में ललित पद-विन्यास—**अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझङ्कारसहस्रमुखरेषु सकल-जीवलोकहृदयानन्दायकेषु मधुमासदिवसेषु''** और कभी कभी बाणभट्ट मधुर पदविन्यास के द्वारा अपनी हृदय की माधुरी को विकीर्ण करते हैं—**वशीकत्तंकामं काममिव सनियमम्', हर्षनयनजलकणनीहारिणी वियद्विहारिणी कर्पूरधूलिधूसरेषु मलयजरसल बलुलितेषु बकुलावलीवलयेषु स्तनेषू।''** उपरिलिखित उद्धरणों से स्पष्ट है कि बाणभट्ट की लेखनी कोमलकान्त ललित पद-विन्यास की माधुरी और विकट शब्द जाल के घनाडम्बर दोनों ही दिशाओं में समान रूप से चलती है।

बाणभट्ट अलङ्कार प्रयोग के सफल कलाकार हैं, वे प्रचलित और अप्रचलित सभी अलङ्कारों का काव्य में प्रयोग करते हैं, उनके सहयोग से उन्हें भावाभिव्यक्ति में पूर्ण सफलता मिली है। उनके यहाँ उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, परिसंख्या अर्थापत्ति और रसनोपमा आदि सभी अलङ्कारों का प्रयोग होता है, और उनके प्रयोग से काव्य सौन्दर्य की वृद्धि, भाषा में प्रवाह तथा फोर्स आता है। रसनोपमा का यह

उदाहरण द्रष्टव्य है—"क्रमेण च कृतं से वपुषि वसन्त इवमधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव कुसुमेन "कुसुमेन इव मधुकरेण, मधुकर इव मदेन, नवयौवनेन पदन्" ? परिसंख्या यस्मिश्च राजनिजित जगति पालयति महो चित्रकर्मसु वर्णसंकरा···छत्रषु कनकदण्डा न प्रजानामासन्। यस्य च···अन्तःपुरिकाकुन्तलेषुभङ्गः नूपरेषु मुखरता अभूत्।

बाणभट्ट का अलङ्कार प्रयोग सर्वथा सार्थक होता है—"उपमा-उत्प्रेक्षाएँ एक ओर उस पात्र के प्रति बाण की भावना को व्यक्त करती हैं तो दूसरी ओर पात्र के स्वभाव का भी मनोवैज्ञानिक परिचय देती हैं। जब कभी शूद्रक के लिए "हरइवजित मन्मथः" कहता है तो 'तस्य सूरतसुखो-परिद्वेष इव आसीत्' के द्वारा यह भी अभिव्यंजित करता है कि किसी प्राक्तन संस्कारवश शूद्रक में स्त्रियों के प्रति आकर्षण नहीं उत्पन्न होता है। उपमा के साधारण धर्म का चुनाव ऐसा सटीक होता है कि बाह्य शब्द-साम्य और आभ्यन्तर भावसाम्य को लेकर चलती है······समस्त अलङ्कारों में श्लेष का चमत्कार बड़ा ही कौशलपूर्ण है, और यही कहना ठीक है कि बाण के लम्बे समास यदि गिरि-नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति हैं तो उनकी श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्रधनुष की छाया की भाँति उसे रंगीन बना देती हैं। बाणभट्ट ने अपनी कथा को 'जाती' की माला के तुल्य कहा है, जो दीपक के समान उज्जवल चम्पा की कलियों से सम्पादित है तथा श्लेषघना है; साथ ही दीपक और उपमा के द्वारा निरन्तर श्लेषालङ्कार युक्त हो स्वभावोक्ति अलङ्कार के माध्यम से किसका मनहरण नहीं करती"—

हरन्ति कं नोज्ज्वल दीपकोपमैः नवैः पदार्थैरुपादिताकथा।
निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयोमहास्त्रजश्चम्पक कुडमलैरिवे॥

बाणभट्ट का प्रकृतिवर्णन भी अपूर्व है। उसमें सूक्ष्मता, औचित्य, चित्रोपमता विद्यमान है। बाणभट्ट का इस विषय में जमकर अनुकरण परवर्ती कवियों ने किया है।

बाणभट्ट की विशेषता केवल अलङ्कार के कुशल प्रयोग में, शैली की विविधता और कल्पना की नवीनता में नहीं है, उनके ज्ञान के भण्डार भी महान् हैं। राजनीति का ज्ञान और जीवन का अनुभव इतना व्यापक है कि जो कुछ कहते हैं वह गम्भीर ज्ञान-गौरव से आक्रान्त रहता है। उपर्युक्त समस्त विशेषताओं के कारण ही कहा जाता है कि कल्पना, अलङ्कार वर्णन, शब्द भण्डार और ज्ञान राशि आदि की दृष्टि से संस्कृत के बाण परवर्ती साहित्य में सभी कुछ बाणोच्छिष्टं है—अतः यह कथन सत्य ही है कि बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्।

अध्याय | ४

गीतिकाव्य

प्रश्न (२७) संस्कृत साहित्य में गोतिकाव्य के उद्भव और विकास की समीक्षा कीजिए।

प्रश्न (२८) संस्कृत साहित्य के प्रमुख-प्रमुख गीतिकाव्य लेखकों और उनकी कृतियों का परिचय दीजिए।

उत्तर—सामान्यत: काव्य या कविता को विषय-प्रधान (Subjective) और विषयीप्रधान (Objective) नामक दो भागों में विभाजित किया जाता है तथा "विषय-प्रधान कविता के, जिसका कि स्रोत मनुष्य की कर्मशीलता को मानते हैं महाकाव्य और खण्डकाव्य नामक कुछ भेद-उपभेद किए जाते हैं तथा उनमें समस्त देश अथवा जाति का प्रतिबिम्ब अंकित किया जाता है। विषय प्रधान अथवा भावप्रधान कविता में व्यक्तिगत अनुभूतियों, भावनाओं और आदर्शों की ही प्रधानता रहती है तथा उसका स्रोत गायक से उत्कट मनोवेगों को माना जाता है।" डॉ० सूर्यकांत शास्त्री के शब्दों में "जीवन के ये मनोवेग जब घनीभूत हो शब्द आदर्श में परिणत होते हैं तब गीतिकाव्य का जन्म होता है। गीतिकाव्य इन अव्यक्त मनोवेगों को व्यक्ति प्रदान करता है, वह रसाप्लावित हुए कवि के आत्मा को कंठ दे देता है। यही उसकी वृत्ति है, उसी में उनका कलापन है और यही उसकी उपयोगिता है।" इस प्रकार गीत या गीति का अर्थ केवल गाना ही न समझना चाहिए बल्कि पाश्चात्य आलोचक अर्नेस्ट राइस के अनुसार वास्तविक गीत वही है जो भाव का, भावात्मक विचारों का भाषा में स्वाभाविक विस्फोट हो तथा श्रीमती महादेवी वर्मा के शब्दों में "सुख-दु:ख की भावावेशमयी अवस्था का विशेष गिने शब्दों में स्वरसाधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।"

गीतिकाव्य को कुछ समीक्षकों ने प्रगति काव्य भी कहा है, पर उसका गीतिकाव्य या गीतकाव्य नाम ही अधिक प्रचलित है और उसमें "आभ्यंतरिक भावनाओं की प्रधानता के साथ-साथ रागात्मकता भी रहती है। वैयक्तिक अनुभूतियों की प्रधानता होने से गीति-काव्य का सृजन तभी संभव होता है जब भावावेश से प्रेरित होकर निजी उद्गारों को काव्योचित भाषा में व्यक्त किया जाय चाहे फिर ये भाव कवि के निजी जीवन से सम्बन्धित हों अथवा उसके द्वारा निर्मित किसी पात्र के। रागात्मकता के कारण संगीत को गीतिकाव्य का एक प्रधान तत्त्व माना जाता है किन्तु यह आभ्यंतरिक ही अधिक होता है। बाह्य रूप से तो उसे गौण स्थान ही प्राप्त होता है। रागात्मकता में प्रबलता स्थिर रखने के हेतु गीत के आकार में संक्षिप्तता तथा भाव-ऐक्यता और भावान्विति भी आवश्यक है। शैली की दृष्टि से उसमें सरलता और सुकुमारता भी परमावश्यक है।

श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर का मत है, "विषय प्रधान श्रेणी के कवि ही महाकवि कहे जाते हैं तथा उनकी कृतिया सर्वदा के लिए समादरणीय हो जाती हैं, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रबन्धकाव्य की तुलना में गीतिकाव्य अथवा प्रगीत काव्य का कुछ भी महत्त्व नहीं है तथा गीतिकारों को श्रेष्ठ कवि नहीं माना जा सकता।" श्री नन्द-दुलारे वाजपेयी के शब्दों में "प्रबन्धकाव्य में दृश्य चित्रण और वस्तु चित्रण के साथ बहुत-सा इतिवृत्त भी लगा रहता है, परन्तु प्रगीत रचना में कविता इन समस्त उपचारों से विरत होकर केवल कविता या भाव प्रतिमा बनकर आती है। संगीत के स्वरों की भाँति प्रगति के शब्द ही अपनी भावना इकाइयों द्वारा कविता का निर्माण करते हैं, उनमें शब्द और अर्थ, लय और छन्द अथवा रूप और निरूप्य की अभिन्नता हो जाती है। प्रबन्ध काव्य कविता का आवृत्त और आच्छादित रूप है। प्रगीत काव्य उसका निर्व्याज निखरा हुआ स्वरूप है। प्रबन्धकाव्य यदि कोई रसीला फल है, जिसका आस्वादन छिलके, रेशे और बिए निकलने पर ही किया जा सकता है, तो प्रगीत रचना उसी फल का द्रव रस है जिसे हम तत्काल घूंट-घूंट पी सकते हैं।" इस प्रकार गीतों की उपयोगिता स्पष्ट हो जाती है और संभवतः यही कारण है कि कई उत्कृष्ट प्रबन्ध रचयिताओं ने भी सुन्दर-सुन्दर मधुर गीतों की रचना की है।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो "भारतीय गीतिकाव्य उतना ही प्राचीन है जितना वेद: क्योंकि वैदिक मन्त्रों में सर्वप्रथम रागात्मकता का समावेश हुआ है।" विश्व का सबसे प्राचीनतम काव्य ग्रन्थ ऋग्वेद को ही माना जाता है और डॉ० वासुदेव-शरण अग्रवाल के शब्दों में "ऋग्वेद की कविता पर्वत की ऊँची चोटियों और तलहटियों में विचरती हुई कभी ऊँचे सृष्टि विज्ञान से हमारा परिचय कराती है, कभी लोक-जीवन के जाने-पहचाने चित्रों को सामने लेकर खड़ा करती है।" ऋग्वेद में उषा विषयक ऋचाएँ विशेषकर गीतात्मक भी हैं और सुन्दर, सुकुमार शब्दावली के साथ-साथ उनमें भावों की सुघरता भी दर्शनीय है। इसी प्रकार सामवेद में भी कई सुन्दर-सुन्दर गीत हैं तथा उसे तो आर्य जाति का आदि गान ही कहा जाता है। वैदिक साहित्य में गीतिकाव्य को कोई विभिन्नता नहीं दी गई थी क्योंकि काव्य का गेय होना आवश्यक माना जाता था और इसलिए हमारे प्राचीन काव्य प्रायः गेय ही हैं। वैदिक कविता में प्रकृति सौन्दर्य के विविध चित्रों की बहुलता दीख पड़ती है तथा उसमें सामूहिक हर्ष और विषाद की अभिव्यंजना भी की गई है। उत्सवों और यज्ञों में सर्वत्र ही वैदिक मन्त्रों का गान प्रचलित था वैदिक काल के पश्चात् बौद्ध साहित्य की 'थेरी गाथाओं' में गीतिकाव्य का समुज्ज्वल रूप दृष्टिगोचर होता है। वैदिक युग में व्यक्तिगत भावनाओं को उतनी अधिक प्रधानता न मिल सकती थी तथा सामूहिक शक्ति और सामाजिक भावनाओं को ही विशेषता दी जाती थी, परन्तु बौद्धकाल में व्यक्तिगत चेतना का विकास होने से साहित्य में भी वैयक्तिक हर्ष-विषाद और आशा-निराशा को प्रधानता मिलने लगी। थेरी गाथाओं में जीवन की नश्वरता और क्षणभंगुरता को चित्रित करते हुए वीतरागी भिक्षु-भिक्षुणियों के वैराग्य के प्रति हार्दिक अनुराग और उत्साह को अंकित किया गया है। इनमें प्रकृति-सौन्दर्य का भी चित्रण किया गया है तथा करुण रस की अभिव्यक्ति विशेष रूप से की गई है। जैसा कि गुलाबराय का मत है "वास्तव में गाथा शब्द का भी अर्थ गीत है। वैदिक साहित्य में ऋक् और गाथा में अन्तर किया गया है, वह यह कि ऋक् में ईश्वर का स्तवन होता है और गाथा में मनुष्यों, राजाओं आदि

का।" सामवेद में जहाँ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित नामक तीन स्वरों में ही गीत गाये जाते थे वहाँ अब शनैः-शनैः संगीत में ताल, छन्द और वाद्य का भी समावेश होने लगा।" "बाल्मीकी रामायण में इसलिए गेय और पाठ्य दोनों प्रकार के अंश दीख पड़ते हैं। कहा जाता है कि वेदों की ऋचाओं के उपरान्त बाल्मीकी द्वारा ही सर्वप्रथम छन्दों की रचना की गई और वाल्मीकि रामायण के सृजन के उपरान्त ही संगीत में कई नवीन लक्षण निर्धारित किए गए तथा राग-रागनियों का भी उत्पन्न किया गया।" इतना होते हुए भी महाकाव्य की भाँति गीतिकाव्य में भी कविवर कालिदास का नाम ही अग्रगण्य है अतः उनके गीतिकाव्यों का ही यहाँ सर्वप्रथम विस्तृत परिचय दिया जायेगा।

कालिदास का ऋतु-संहार और मेघदूत

कालिदास सुप्रसिद्ध महाकवि ही नहीं, उल्लेखनीय गीतिकाव्यकार भी हैं और उनकी ऋतु संहार तथा मेघदूत नामक कृतियाँ संस्कृत गीतिकाव्य की प्राचीनतम उपलब्ध रचनाएँ कही जाती हैं। यों तो पहले कुछ विद्वान् ऋतुसंहार को किसी अन्य कवि की रचना मानते थे, पर अब अधिकांश विद्वानों ने उसे कालिदास का एक तरुणप्रयास मान लिया है और "रचना कौशल में प्रौढ़ता न होने पर भी 'ऋतुसंहार' का विशिष्ट स्थान है क्योंकि संस्कृत में ऋतुवर्णन पर एकमात्र वही सांगोपांग ग्रन्थ उपलब्ध है।" जैसा कि डॉ० ए० बी० कीथ का कहना है "ऋतुसंहार में ऋतुओं के केवल बाह्य रूप का ही वर्णन नहीं है। कालिदास सूक्ष्म निरीक्षण और प्रकृति के साथ भारतीय कवियों की स्वाभाविक प्रेममय सहानुभूति का प्रदर्शन करते हैं। सारी कविता में वे युवक और युवती अथवा पति और पत्नी के प्रेम के साथ ऋतुओं के विभिन्न परिवर्तनों के सम्बन्ध पर बल देते हैं। यद्यपि ग्रीष्म के दिवस भारस्वरूप होते हैं, तथापि रात्रि अधिक आनन्दप्रद होती हैं, जबकि चन्द्रमा चमकता है और शीतलता पृथ्वी में नवीनता का संचार करती है, अर्द्धरात्रि में युवक लोक-गीत, नृत्य तथा सुरा में आनन्द का अनुभव करते हैं; युवकों के प्रेम की ईर्ष्या से शोकाकुल चन्द्रमा छिप जाता है। वर्षा-काल राजा के रूप में आता है, बादल ही उसके हाथी हैं जिन पर वह आरूढ़ है, बिजली उसकी पताका और गर्जन उसकी दुंदुभि है। पर्वत शिखरों का चुम्बन करने के लिए झुकते हुए बादलों के दृश्य से प्रेम का भाव जागरित हो उठता है। गन्नों के वस्त्रों को धारण किये, पकते हुए धानों की करधनी पहने और कमल पुष्पों के मुख वाली शरद् एक युवती वधू की भाँति आती है। हेमन्त की शीतलता प्रेमियों आलिंगनों को और भी अधिक अभिमत, प्रगाढ़ तथा प्रेममय बना देती है। शिशिर में रातें ठंडी होती हैं, चन्द्रमा की शीतलता सिहरन पैदा करती है, प्रेमीजन अपने कमरे की खिड़की बन्द कर देते हैं, अपने को वस्त्रों में लपेट कर उष्णता का अनुभव करते हैं, और सूर्य की क्षीण किरणों का प्रत्येक क्षण आनन्द लेते हैं या अग्नि के समीप आराम से बैठते हैं। परन्तु वसंत उनके लिए तथा सम्पूर्ण प्रकृति के लिए नवजीवन तथा आनन्द लाता है, अब हम समझते हैं कि कवि ने कविता को ग्रीष्म से क्यों आरम्भ किया है, इससे वे उस ऋतु में वर्षा की समाप्ति कर सकते हैं, जिसमें वन वर्षारम्भ के सामंजस्य में युवकों का प्रेम पूर्णता को प्राप्त करता है। यह काव्य प्रत्येक पंक्ति में यौवन को अभिव्यक्त करता है।" इस प्रकार प्रसाद गुण से पूर्ण यह कृति कालिदास की उल्लेखनीय कृतियों में से है और उसमें अनुप्रासमय शब्द-विन्यास, पद्यों का प्रवाह तथा जटिलतारहित भाषा ही सर्वत्र दीख पड़ती है, पर अनेक उत्कृष्ट शब्द चित्र भी दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे--

द्रुमाःसपुष्पाः सलिलं सपद्मं स्त्रियः सकामाः पवनः सुगन्धिः।
सुखाः प्रदोषाः दिवासाश्च रम्याः सर्वं प्रिये चारुतरं वसन्ते ॥

इसमें कोई संदेह नहीं "ऋतु संहार से कहीं अधिक यशस्वी और प्रौढ़ कृति कालिदास का मेघदूत है, जिसके १२१ पद्यों में कवि ने एक यक्ष की विरहजन्य मनोदशा का मार्मिक चित्रण किया है। कुबेर द्वारा निर्वासित होने पर अलकानिवासी यह यक्ष अपनी प्राणवल्लभा पत्नी से विछुड़ जाता है और रामगिरि पर्वत पर अपने वियोग के दिन काटने लगता है। वर्षा ऋतु में विरह पीड़ित होकर वह एक मेघ द्वारा अपनी हृदेश्वरी के पास प्रेम संदेश भेजता है। मेघदूत के पूर्वार्द्ध में वह मेघ का पथ निर्देशन करता है और उत्तरार्द्ध में अपनी विरहिणी पत्नी का शब्द चित्र खींच कर उससे अपना संदेशा कहता है। इस लघु कथानक के कलेवर में कवि ने देश की मनोहर रूप माधुरी का, विप्रलम्भ शृङ्गार के करुण कोमल भाव का, नारी सौन्दर्य के मंजुल रूप का और हृदय की उदात्त मनोवृत्तियों का अपूर्व चित्रण किया है। अपनी सुकुमार कल्पना के अनुरूप ही कालिदास ने प्रांजल एवं प्रासादिक भाषा का प्रयोग किया है। मेघदूत के मेघ के समान उसके मन्दाक्रान्ता छन्द की भी गति कहीं मन्द मंथर है तो कहीं द्रुत और नादात्मक। मेघदूत के समस्त पद्य बड़े श्रुति-मधुर, रस-पेशल तथा गेयता और रमणीयता से परिपूर्ण हैं।

कालिदास ने अचेतन मेघ से चेतन और समर्थेन्द्रिय पुरुष का काम लिया है। यह उनकी शब्द चातुरी और मेघ शास्त्र की अभिज्ञता का ही चमत्कार है कि पाठकों को ऐसी प्रतीति हो जाती है मानों मेघ ने यक्ष का संदेश पहुँचाना स्वीकार कर लिया और उस यक्ष पत्नी के सामने साक्षात् कह भी सुनाया।

'ऋतु-संहार' की भाँति 'मेघदूत' का विषय भी प्रकृति और नारी का चित्रण है, किन्तु ऋतुसंहार में जहाँ इन दोनों के बीच केवल सामीप्य है वहाँ 'मेघदूत' में पूर्ण तादात्म्य। 'पूर्व मेघ' में बाह्य प्रकृति के चित्रण को पुरुष के नारी विषयक कोमल भावों से घुला-मिला दिया गया है और 'उत्तर मेघ' में मानव की उत्तप्त प्रणय भावना को प्राकृतिक घटा के चौखटे में कुशलता से कसा गया है। इस प्रकार कालिदास नारी और प्रकृति को मूलतः एक और अभिन्न मानते हैं तथा नारी पर प्रकृति का और प्रकृति पर नारी का आरोप करना उनका प्रिय विषय रहा है जिसका सुन्दर उदाहरण मेघदूत की निम्नलिखित उक्ति में मिल जाता है—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं
वक्त्रच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि न ते चण्डि सादृश्यमस्ति ॥४१॥

यद्यपि कुछ विद्वानों की धारणा है कि 'मेघदूत' में कालिदास ने यक्ष के बहाने स्वयं अपनी मनोदशा को व्यक्त किया, पर इस कल्पना में कोई तथ्य नहीं जान पड़ता, क्योंकि प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कालिदास ने मेघदूत की कल्पना वाल्मीकि रामायण की उस घटना से ली है जहाँ राम सीता के प्रति हनुमान् द्वारा संदेश भेजते हैं। स्वयं 'मेघदूत' की कुछ पंक्तियाँ इस कथन का समर्थन भी करती.

हैं, जैसे—जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु, रामगिर्याश्रमेषु, रघुपतिपदैरंक्तिम आदि। इसी प्रकार 'मेघदूत' में कइ स्थलों पर वाल्मीकि की कुछ उक्तियों का अनुकरण भी दीख पड़ता है। "अत: यह संभव नहीं कि कालिदास को मेघदूत का कल्पना बीज 'रामायण' से प्राप्त हुआ हो। परंतु जिस सूक्ष्म रचना कौशल द्वारा उन्होंने उसमें अपूर्व रमणीयता का संचार किया है, उसे देखते हुए उनकी कल्पना नितान्त मौलिक ही कही जायगी।"

सामान्यत: मेघदूत शृङ्गार रस प्रधान काव्य कहा जाता है और उसमें विविध प्रकार की स्त्रियों का चित्रण भी किया है, पर यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो कवि ने स्थूल भोग प्रधान जीवन और सूक्ष्म, अध्यात्म जीवन का साथ-साथ उल्लेख किया है। अत: "मेघदूत जहाँ एक ओर शृंगार और यौवन का परिपूर्ण काव्य है; वही वह शिवात्मक चैतन्य की प्राप्ति का भी गूढ़ संकेत देता है। उसमें कवि ने बड़े कौशल से शिव के स्वरूप का सन्निवेश कर दिया है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल ने मेघदूत के अनेक उल्लेखों का उपयोग करके शिव के स्वरूप का विशदीकरण किया है तथा यौगिक प्रक्रियाओं और परिभाषाओं पर उनकी संगति बैठाई है।" इसी प्रकार अधिकांश विचारक संस्कृत के गीति-काव्यों में मेघदूत का स्थान अग्रगण्य मानते हैं, पर कुछ विद्वानों ने उसे खंडकाव्य भी कहा है और डॉ० कीथ तो उसे शोक काव्य (Elegy) मानते हैं लेकिन डॉ० भोलाशंकर व्यास का स्पष्टतया यही मत है कि "मेघदूत न खंडकाव्य है न करुण गीति ही, यह विषयोप्रधान भावात्मक गीतिकाव्य ((Lyric Poem) है।"

काव्यकला की दृष्टि से भी 'मेघदूत' एक उत्कृष्ट काव्यविभूति है और उसमें सुकुमार कल्पना के अनुरूप अत्यन्त मनोहर भाषा-शैली भी व्यवहृत हुई है तथा "मेघदूत की शैली कालिदास की स्वाभाविकता और प्रासादिकता का उत्कृष्ट उदाहरण है। मेघदूत के पद्यों की रमणीयता, स्वर-सौष्ठव, माधुर्य-विलास एवं कोमल संगीत लहरी दर्शनीय है। सारा काव्य मन्दाक्रांता छंद में लिखा गया है, जिसकी मंथर गति विप्रलम्भ शृङ्गार के करुण कोमल भाव को व्यक्त करने में सहायक सिद्ध हुई है।" इस प्रकार मेघदूत की भाषा अत्यन्त प्रांजल, परिमार्जित एवं प्रवाहपूर्ण है और परिमित पदावली में भाव की विशद व्यंजना कर देना उसका विशेष गुण है तथा अलंकारों का यथास्थान उपयुक्त प्रयोग नैसर्गिक चारुता का संचार कर देता है। उदाहरणार्थ—

चक्षु: खेदात्सलिलगुरुभि: पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संदेश काव्य की अभिनव और मौलिक कल्पना का श्रेय कालीदास को ही दिया जाता है तथा संस्कृत में दूत काव्यों का श्रीगणेश मेघदूत से होता है तथा पवन दूत, नेमिदूत, हंसदूत, कोकिल दूत, शील दूत, भ्रमर दूत आदि काव्यकृतियों में इसी संदेश परम्परा का निर्वाह किया गया है। साथ ही मेघदूत को देश-विदेश में सर्वत्र लोकप्रियता प्राप्त हुई और प्रो० चन्द्रशेखर पांडेय ने कहा भी है "जर्मन कवि शिलर (Schiller) ने अपने मेरिया स्टुअर्ट नामक नाट्यकाव्य में कालिदास के अनुसरण पर मेघ द्वारा संदेश भेजने की कल्पना की है। प्रो० मैक्समूलर ने 'मेघदूत' का जर्मन पद्य में तथा श्हुट्ज (Schutez) ने जर्मन गद्य में अनुवाद किया है। डॉ० एच० बेक्ह (Beckh) ने 'मेघदूत' का तिब्बती भाषा में एक संस्करण प्रकाशित किया है।

अमेरिका के आर्थर राइडर महोदय ने मेघदूत का अंग्रेजी में बड़ा ही मनोहर पद्यानुवाद किया है।"

शृङ्गार तिलक

कहा जाता है कि प्रसिद्ध कवि कालिदास ने 'शृङ्गार तिलक' नामक एक और काव्य की भी रचना की थी। पर कुछ विद्वान् 'शृङ्गार तिलक' का रचयिता किसी अन्य कालिदास को मानते हैं। शृङ्गार तिलक २३ पद्यों का एक छोटा-सा शृङ्गार प्रधान गीति-काव्य है और उसमें सरल व प्रसादपूर्ण भाषा-शैली ही व्यवहृत हुई है तथा शृङ्गार के अनेक मधुर चित्र भी विद्यमान हैं, उदाहरणार्थ—

इन्दीवरेण नयनं मुखमम्बुजेन कुन्देन दन्तमधरं नवपल्लवेन ।
अंगानि चम्पकदलैः स विधाय धाता कान्ते कथं घटितवानुपलेन ॥

अर्थात् सुन्दर के अन्य अवयवों का निर्माण मृदुल कोमल कमलों से करके उसके हृदय की रचना पाषाण से क्यों की गयी है ?

घटकर्पर

जनश्रुतियों के अनुसार घटकर्पर महाराज विक्रमादित्य के नवरत्नों में से थे। अतः उनका समय १०० ई० पू० के लगभग माना जा सकता है। उन्होंने 'घटकर्पर' नामक २२ पद्यों का एक लघु काव्य रचा है, जिसमें 'मेघदूत' की विपरीत कथा अंकित हुई है अर्थात् उसमें वर्षाऋतु के आरम्भ में एक विरहिणी पत्नी अपने दूरस्थ पति के पास प्रणय संदेश भेजती है। 'घटकर्पर' में यमकालङ्कार की अधिकता है। कवि की घटकर्पर नाम से प्रसिद्धि संभवतः इस पद्य से हुई, जिसमें—कवि ने—यह प्रतिज्ञा की है कि जो कोई यमक अलंकार के प्रयोग में मुझसे विजयी होगा, उसके यहाँ मैं घड़े के खप्पर से पानी भरूँगा—

आलम्ब्य चाम्बुतृषितः करकोशपेयम् ।
भावानुरक्तवनितासुरतैः शपेयम् ॥
जीयेय येन कविना यमकैः परेण ।
तस्मै वहेयमुदकं घटकर्परेण ॥

भर्तृहरि

भर्तृहरि का प्रामाणिक जीवनवृत्त प्राप्त नहीं होता और उनके सम्बन्ध में जो दन्तकथाएँ प्रचलित हैं उन पर सहसा विश्वास भी नहीं हो पाता। इसी प्रकार कुछ विद्वान् उन्हें महावैयाकरण भर्तृहरि से अभिन्न मानते हैं और पश्चिमी विद्वानों ने चीनी यात्री इत्सिग के कथन में आस्था रखते हुए उन्हें बौद्ध माना है, पर यह सभी मत प्रामाणिक नहीं हैं। यों भर्तृहरि के नाम से शृङ्गार शतक, वैराग्यशतक और नीतिशतक नामक तीन शतक प्रसिद्ध हैं तथा इन तीनों कृतियों ने भर्तृहरि को पर्याप्त लोकप्रियता भी प्रदान की है। इन्हीं शतकों के आधार पर हम भर्तृहरि के जीवन की यह कल्पना कर सकते हैं कि वह प्रधान रूप से भोगासक्त थे, पर उससे ऊबकर कभी-कभी संन्यास ले लेते थे, फिर गृहस्थाश्रम की ओर लौटते थे। साथ ही उनके वर्णनों से यह भी प्रतीत होता है कि उनका राजकीय जीवन से अवश्य प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा होगा और उन्होंने राजधानी के वैभव एवं विलास की उपादेयता व हेयता का विवेचन भी किया है।

भर्तृहरि ने शृङ्गारशतक में सम्मोहन पद्यावली में रमणियों के दुर्निवार आक-

र्णाों का चित्र अंकित किया है और उसका स्पष्टतया यही मत है कि शूर से शूर पुरुष भी कामदेव का गर्व चूर्ण करने में प्रायः असमर्थ रहते हैं।

मत्तेभकुम्भदलने भवि सन्ति शूराः
केचित्प्रचण्डमृगराजवधेऽपि दक्षाः।
किन्तु ब्रवीमि बलिनां पुरतः प्रसह्य
कन्दर्पदर्पदलने विरला मनुष्याः॥

इस प्रकार कवि ने 'शृङ्गारशतक' में शृङ्गार का सरस वर्णन ही किया और प्रेम से प्रभावित कामी व कामुकों के चित्र में जो वृत्तियाँ अपना ललित खेल दिखलाती हैं उनका सूक्ष्मातिसूक्ष्य चित्रण भी किया है पर वह इन रंगीन लीलाओं के विषम परिणामों से भी भली-भाँति परिचित हैं। इस प्रकार शृङ्गार रस के आकर्षण का चित्रण करते हुए शनैः-शनैः उसकी अस्थिरता शान्त रस की तुलना में उसकी तुच्छता प्रकट की गई है और कवि का यही कहना है कि इस महासागर से मनुष्य को शीघ्र ही मुक्ति मिल जाती, यदि बीच में रोक रखने वाली बाँके नैनों वाली सुन्दरियाँ न होतीं—

संसारोदधिनिस्तारपदवी न दवीयसी।
अन्तरा दुस्तरा न स्युर्यदि रे मदिरेक्षणाः॥

विचारक वैराग्य शतक को भर्तृहरि का सर्वस्व मानते हैं और उसमें एक ऐसे आदर्शवादी का दुःख व दैन्य अंकित है जो इस संसार की जरा-व्याधि से, आय-व्यय की चिन्ताओं से और आत्मसम्मान को निरन्तर पहुँचाने वाली चोटों से त्रस्त है तथा जो उदासीनता और वैराग्य में ही शांति एवं संतोष का स्वप्न देखता है। वह चाहता है कि मेरे दिन पतित पावन अरण्य में निरन्तर भगवान् का नाम—शिव शिव जपते हुए व्यतीत हो, मेरी दृष्टि में सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में मेरी समदृष्टि हो, चाहे वह सर्प हो अथवा मोतियों का हार, प्रबल शत्रु हो अथवा मित्र, मणि हो या मिट्टी का ढेला, पुष्पों की शैया हो अथवा पत्थर हो या तिनका हो अथवा सुन्दरियों का समूह हो—

अहौ वा हारे वा बलवति रिपौ वा सुहृदि वा
मणौ व लोष्ठे वा कुसुमशयने वा दृषदि वा।
तृणे वा स्त्रैणे वा मम समदृशो यान्तु दिवसाः
क्वचित्पुण्यारण्ये शिव शिवेति प्रलपतः॥

इस प्रकार भर्तृहरि ने वैराग्य शतक में यही स्पष्ट करना चाहा है कि सांसारिक विषयों का आकर्षण उनकी निस्सारता से भग्न हो जाता है। देखिए—

भोगा न भुक्ता वयमेवभुक्तास्तपो न तप्तं वयमेव तप्ताः।
कालो न यातो वयमेव यातास्तृष्णा न जीर्णाः वयमेव जीर्णं ॥१२॥

इसी प्रकार 'नीतिशतक' में भर्तृहरि ने परोपकार, वीरता, साहस, उद्योग, उदारता जैसी उदात्त मनोवृत्तियों का सरस पद्यों में आग्रह किया है और उनका कहना है कि "जो व्यक्ति दुर्लभ मनुष्य देह पाकर भी सद्गुणों का संचय नहीं करता, वह उस मूर्ख के समान उपहासास्पद है, जो वैदूर्य-मणि के बने हुए पात्र के चन्दन की लकड़ी से लहसुन पकाता है अथवा जो सोने के हल से अर्क की जड़ पाने के लिए जमीन जोतता है।' साथ ही स्वजनों के प्रति उदारता, पराये लोगों के प्रति दया, दुष्टों के प्रति शठता, सज्जनों के प्रति प्रेम, नीचों के प्रति औद्धत्य, विद्वानों के प्रति सरलता, शत्रुओं

के प्रति वीरता, गुरुजनों के प्रति क्षमा और स्त्रियों के प्रति धूर्तता रखने से ही संसार में निर्वाह हो सकता है।

भर्तृहरि के तीनों शतकों में काव्य-प्रतिभा का भी चारु निदर्शन है और उनमें एक-सी प्रांजल शैली तथा सुन्दर पद-लालित्य के भी दर्शन होते हैं तथा उदाहरणों की अनुरूपता एवं सूक्तियों की कमनीयता के कारण उन्हें लोक में पर्याप्त प्रसिद्धि भी प्राप्त हुई है।

अमरु अथवा अमरुक

अमरु अथवा अमरुक नामक एक कवि का 'अमरुक शतक' संस्कृत साहित्य की प्रसिद्ध कृतियों में से है और आनन्दवर्धनाचार्य ने तो 'ध्वन्यालोक' में अमरुक की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी की है, पर अभी तक अमरुक का जीवनवृत्त ज्ञात नहीं हो सका। यों तो यह किम्वदंती अवश्य प्रचलित है कि मण्डन मिश्र की पत्नी भारती द्वारा किये गये प्रश्नों का उत्तर देने के लिए स्वयं शंकराचार्य ने अमरुक नामक राजा के मृत शरीर में प्रवेश कर 'अमरुक शतक' की रचना की थी। लेकिन किम्वदंती कपोलकल्पित ही है क्योंकि इस काव्यकृति की रचना किसी प्रश्नोत्तर के रूप में नहीं हुई। हाँ, वामन (८०० ई०) द्वारा 'अमरुक शतक' के तीन श्लोकों को उद्धृत करने के कारण हम अमरुक का समय ७५० ई० के पूर्व और 'अमरुक शतक' का रचनाकाल लगभग ७०० ई० मान सकते हैं।

'अमरुक शतक' मुक्तक काव्य है और उसके विभिन्न संस्करणों में ९० से ११५ तक छन्द मिलते हैं। पर उन सबको मिलाकर देखने से ५१ पद्य समान जान पड़ते हैं अतः अमरुक के प्रामाणिक छन्दों की निश्चित संख्या यहाँ नहीं दी जा सकती, लेकिन जो भी छन्द उपलब्ध होते हैं वे, अमरुक की कीर्त्ति को अक्षुण्ण रखने में समर्थ हैं। डॉ० भोलाशंकर व्यास ने कहा भी है "संस्कृत साहित्य में अमरुक की छोटी-सी मुक्तक मालिका, जिसमें पूरी १०८ भी मुक्तामणियाँ नहीं गुथी हैं, पता नहीं सबसे सहृदय रसिकों तथा आलंकारिक पंडितों का एक साथ गले का हार बनी हुई है। इस माला की सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि इसका प्रत्येक मुक्तक सुमेरु है, प्रत्येक मणि 'नायकत्व' (मध्यमणित्व) को प्राप्त करती देखी जाती है, कौन पद्य किससे बढ़ चढ़कर है यह निर्णय देना कठिन है, हर पद्य में अपनी अलग-सी विशेषता है और उस विशेषता के लिए वह सारे संस्कृत मुक्तकों में बेजोड़ है। अमरुक के मुक्तक वे मणिदीप हैं, जिन्होंने भावी मुक्तक कवियों का मार्गदर्शन किया है, ये वे उपरितल-सीमा स्पर्शी जल चिह्न हैं, जहाँ तक भावी मुक्तक रस की कोई बाढ़ नहीं पहुँच पाई है। शृङ्गार रस के विविध पक्षों को उपस्थित करने में अमरुक की तूलिका अपनी सानी नहीं रखती, और उसके चित्रों का बिना तड़क-भड़क वाला किन्तु अत्यधिक प्रभावशाली रंगरस उसकी रेखाओं की बारीकी और भंगिमा अमरुक के कविवर की कलाविदग्धता का सफल प्रमाण है।" हृदय विह्वलता का यह मार्मिक चित्र देखिए—

प्रस्थानंवलयैः कृतं प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतं —
धृत्यान क्षणमासितं व्यवसितं चित्तेनगन्तुंपुरः।
यातुंनिश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्येसतिजीवितप्रियसुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते॥

"दुर्बलता के कारण हाथों से वलय गिर गये हैं, ये प्यारे अश्रु भी निरन्तर गिर रहे हैं, धैर्य भी एक क्षण के लिए रुका नहीं, मन तो पहले से ही जाने को उद्यत था। प्रियतम के विदेश जाने का निश्चय करते ही ये सब-के-सब उनके साथ चल पड़े। फिर, हे मेरे प्राण, तुम प्रियतम का साथ क्यों छोड़ रहे हो, तुम भी प्राणनाथ के साथ क्यों नहीं चल देते ?

विल्हण

'विक्रमांकदेव चरित' नामक ऐतिहासिक महाकाव्य के रचयिता विल्हण (१०५० ई०) के नाम से ५० पद्यों का एक लघु गीतिकाव्य 'चौरपंचाशिका' भी प्रसिद्ध है। इसमें किसी कवि द्वारा एक राजकुमारी से प्रेम करने के कारण उसे—कवि को—प्राणदंड की आज्ञा दी जाती है। पर वह अपने प्रणय के अनुभवों का उत्तप्त वर्णन करते हुए यह लघु काव्य रचता है और राजा इससे प्रभावित हो, उसे क्षमा प्रदान कर, राजकुमारी का उसके साथ विवाह कर देता है। कुछ विद्वान् इसे कवि विल्हण के जीवन की घटना मानते हैं। पर 'विक्रमांकदेव चरित' में स्वयं विल्हण ने जो अपना जीवनवृत्त दिया है उसमें उक्त घटना का कोई उल्लेख नहीं है और कीथ आदि कई विचारक इसे कपोल-कल्पित कथा ही मानते हैं। 'चौरपंचाशिका' की भाषा अवश्य सरल और प्रवाहपूर्ण है तथा शैली भी सरस व मधुर है; पर शृङ्गार वर्णन कहीं-कहीं उच्छृङ्खल भी हो गया है। उदाहरणार्थ—

अद्यापितां प्रणयिनीं मृगशावकाक्षीं
पीयूषपूर्ण कुचकुम्भयुगं वहन्तीम्।
पश्याम्यहं यदि पुनर्दिवसावसाने
स्वर्गापवर्गनरराज्य सुख त्यजामि ॥

धोयी

कविराज धोयी बंगाल के राजा लक्ष्मण सेन (१११६) ई० के आश्रित कवि थे। अतः उनका स्थितिकाल सहज ही बारहवीं शताब्दी माना जा सकता है। धोयी ने 'मेघदूत, के सदृश 'पवनदूत' नामक काव्य की रचना की जिसमें कुल १०४ पद्य हैं और उसकी कथा इस प्रकार है—'राजा लक्ष्मण सेन दिग्विजय करते हुए मलयाचल जा पहुँचे। वहाँ कुवलयवती नामक गंधर्व-कन्या उनके अलौकिक रूप को देखकर मुग्ध हो गई। राजा के स्वदेश लौट आने पर उसने विरह-पीड़ित हो पवन द्वारा प्रणय संदेश भेजा।'[1] सम्भवतः इसीलिए इसका नाम पवनदूत है और इस पर मेघदूत की छाया स्पष्ट दीख पड़ती है तथा मेघदूत की भाँति मन्दाक्रान्ता छन्द अपनाया गया है। पर विशेष मौलिकता न होते हुए भी पवनदूत का मनोरम वाक्य विन्यास, स्वाभाविक प्रवाह और भाव सौष्ठव अनुपम है। उदाहरणार्थ—

सारङ्गाक्ष्या जनयति न यद् भस्मसादगंगकानि
त्वद्विश्लेषे स्मरहुतवहः श्वाससंधुक्षितोऽपि।
जाने तस्याः स खलु नयनद्रोणिवारां प्रभावो
यद्वा शश्वन्नृप तव मनोर्वातिनः शीतलस्य ॥७५॥

---

१. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० ३५७

गोवर्धनाचार्य

गोवर्धनाचार्य बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन (१११६ ई०) के आश्रित कवि थे और इन्होंने हाल कृत प्राकृत 'गाथा सप्तशती' के अनुकरण पर 'आर्या सप्तशती' की रचना की, जिसमें लगभग सात सौ आर्या छन्दों में प्रेमी-प्रेमिकाओं की संयोग-वियोग की दशाओं का मंजुल एवं मार्मिक चित्र अंकित किया गया है। इस प्रकार 'आर्या सप्तशती' में श्रृङ्गार रस का स्निग्ध चित्रण हुआ है और गीत गोविन्द के अमर रचयिता जयदेव ने गोवर्धनाचार्य को श्रृङ्गार रस की रचना करने में अद्वितीय माना है—

श्रृङ्गारोत्तरसत्प्रमेयरचनैराचार्यगोवर्धनस्पर्धी कोऽपि न विश्रुतः।

'आर्या सप्तशती' की नायिकाएँ, नगरों की पटु रमणियाँ और गाँवों की मुग्धा ललनाएँ दोनों ही हैं तथा उपमा, रूपक, दृष्टान्त आदि सादृश्यमूलक अलंकारों की सहायता से श्रृङ्गाररस की मार्मिक व मनोहर व्यंजना की गयी है। साथ ही भाषा मसृण, सरस, विशद और हृदय को आकृष्ट करने में भी पूर्ण सक्षम रही है तथा उसमें सर्वत्र सजीवता और सरसता का सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ—

पिब मधुप बकुलकलिकां दूरे रसनाग्रमाधाय।
अधरविलेपनसमाप्ये मधुनि मुधा वनदमर्पयसि॥

"हे भ्रमर, इस बकुल-कलिका के मकरन्द-रस का पान करते समय, दूर से ही केवल अपनी जीभ के अग्र भाग से उसका स्पर्श करना, क्योंकि यदि तुम अपना सम्पूर्ण मुख उस पर रख दोगे, तो उसका थोड़ा मधु-बिन्दु तुम्हारे होठों पर लिपकर रह जायगा।"

जयदेवकृत गीतगोविन्द

संस्कृत गीतिकाव्य की परम्परा में जयदेव की काव्यकृति गीतगोविन्द का विशिष्ट स्थान और स्वयं कवि ने गोवर्धनाचार्य व धोयी को समासामयिक कवि माना है तभी वह बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन की राजसभा के प्रमुख रत्न कहे जाते हैं। अतः हम जयदेव का स्थितिकाल ११०० ई० के लगभग मान सकते हैं। जयदेव का जन्म बंगाल के किन्दुबिल्व ग्राम में हुआ था और उनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम रामादेवी या राधादेवी था।

वस्तुतः गीतगोविन्द श्रृङ्गार रस प्रधान काव्य है और "इसमें राधा और कृष्ण के प्रणय की विविध दशाओं का—आशा, निराशा, उत्कंठा, ईर्ष्या, कोप, मान और मिलन का—हृदयग्राही चित्रण हुआ है। संस्कृत काव्य में राधा की प्रतिष्ठा करने का प्रथम श्रेय जयदेव को ही प्राप्त है। श्लोक, गद्य और गीत की मिली-जुली अभिनव शैली का सूत्रपात करके उन्होंने राधा-कृष्ण की जीवन घटनाओं को श्रृङ्गार की एक नयी तन्मयता से रस सिक्त कर दिया है। 'गीतगोविन्द' को किसी ने ग्राम्य-रूपक, किसी ने गीति नाट्य तो किसी ने संगीत-रूपक कहा है। पिशेल और लेवी के अनुसार जयदेव की रचना गीतिकाव्य और नाटक के बीच की चीज है। 'गीतगोविन्द' की सर्वाधिक विशेषता उसकी कोमल कान्त पदावली और ललित, अनुप्रासमय छन्द हैं। सौन्दर्य और माधुर्य से पगी हुई ऐसी रचना विश्व साहित्य में दुर्लभ है। उसमें एक अद्भुत प्रवाह है, विलक्षण शब्द-सौष्ठव है। श्रृङ्गार रस की अभिव्यंजना के लिए जैसी भाषा उसमें प्रयुक्त हुई है, वह पाठमात्र से सहृदय श्रोता के हृदय में तदनुरूप

भाव का संचार कर देती है। उसकी रमणीय शैली के प्रवाह में प्रेम की मृदु-मधुर भावनाएँ कल्लोल करती हुई प्रतीत होती हैं। कृष्ण और राधिका की केलि-कथाओं और अभिसार लीलाओं का शब्द और अर्थ के सामंजस्य से ऐसा मनोमुग्धकारी चित्रण किया गया है कि संस्कृत अपरिचित व्यक्ति भी उससे प्रभावित हुये बिना नहीं रहता।" संगीतमय कोमल-कान्त पदावली का यह उदाहरण दर्शनीय है—

चन्दनचर्चितनीलकलेवरपीतवसनवनमाली।
केलिचलन्मणिकुण्डलमण्डितगण्डयुगः स्मितशाली॥
हरिरिह मुग्धवधुनिकरे विलासिनि विलसति केलिपरे ॥ध्रुवम्॥
पीनपयोधरभारभरेण हरिं परिरभ्य सरागम्।
गोपवधूरनुगायति काचिदुदञ्चितपञ्चमरागम्॥
कापि विलास विलोलविलोचनखेलनजनितमनोजम्।
ध्यायति गोपवधूरधिकं मधुसूदन वदनसरोजम्

मेघदूत की भाँति और बहुत कुछ अंशों में मेघदूत से भी अधिक लोकप्रियता व प्रसिद्धि गीतगोविन्द को प्राप्त हुई तथा उस पर पैंतीस से अधिक टीकाएँ लिखी गयीं और जिस ग्राम में जयदेव ने गीतगोविन्द की रचना की उसका नाम ही 'जयदेवपुर' पड़ गया। इतना ही नहीं जयदेव का राष्ट्र की प्रवृत्तियों पर भी अनुपम प्रभाव पड़ा है और १४९९ ई० में उड़ीसा के राजा प्रताप रुद्रदेव ने यह आदेश दिया था कि उनके राज्य के सभी नृत्यकार व संगीतज्ञ जयदेव के गीतगोविन्द के ही पद गाया करें।

पण्डितराज जगन्नाथ

संस्कृत साहित्य में पण्डितराज जगन्नाथ की ख्याति 'रस गंगाधर' के रचयिता के रूप में है पर उन्होंने गीतिकाव्य को भी समृद्ध किया है और उनका स्थितिकाल १६५०-८० ई० के लगभग माना जाता है। पंडितराज जगन्नाथ तैलंग ब्राह्मण थे और उनके पिता का नाम पेरुभट्ट व माता का नाम लक्ष्मीदेवी था। वह युवावस्था में दिल्ली गये और शाहजहाँ से उन्होंने 'पण्डितराज' की उपाधि प्राप्त की तथा 'दिल्ली-वल्लभपल्लवतले नीतं नवीनं वयः' के अनुसार उनका मुगल दरबार में भी कुछ दिनों तक रहना सिद्ध हो जाता है। कहा जाता है कि उन्होंने किसी मुसलमान युवती से विवाह कर लिया था। जब वह वृद्धावस्था में काशी आये तो अप्पय दीक्षित आदि पंडितों ने उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया। परिणामस्वरूप अपने मनोद्गारों को व्यक्त करने के लिए उन्होंने 'गंगालहरी' की रचना की, जिससे प्रभावित हो स्वयं गंगाजी ने उन्हें अपने अंक में स्थान दिया।

पंडितराज जगन्नाथ की 'पीयूषलहरी' या 'गङ्गालहरी', 'सुधालहरी', 'अमृत लहरी', 'करुणालहरी', 'लक्ष्मीलहरी', 'यमुना वर्ण', 'आसफविलास', 'प्राणाभरण', 'जगदाभरण', चित्रमीमांसा खण्डन', 'मनोरमा कुचमर्दन', 'रसगंगाधर' और 'भामिनी विलास' नामक कृतियाँ कही जाती हैं। जिनमें से गीतिकाव्य की दृष्टि से 'भामिनी विलास' उल्लेखनीय है। इसमें 'प्रास्ताविक विलास', 'शृङ्गार विलास', 'करुण विलास' और 'शांत विलास' नामक चार विलास हैं। ये पंडितराज के मुक्तक गीतात्मक पद्यों का चारुचयन हैं। निस्संदेह 'भामिनी विलास' के पद्य अत्यन्त सुन्दर, सरस, भावपूर्ण एवं चित्त पर सद्यः प्रभाव डालने वाले हैं और पंडितराज की शैली अत्यन्त उदार, मधुर

व लालित्यमयी है तथा प्रांजल पद शय्या, अभिनव विचारधारा एवम् सुललित छन्दों-माधुर्य आदि उसमें सर्वत्र दीख पड़ते हैं।

अयि दलदरविन्द स्यन्दमान मरन्दं
तव किमपि लिहन्तो मञ्जु गुञ्जन्तु भृङ्गाः
दिशि दिशि निरपेक्षस्तावकीनं विवृण्वन्
परिमलमयमन्यो बान्धवो गन्धवाहः ॥ प्रा० वि० ३

"हे विकसित कमल ! तेरे इस छलछलाते हुए मधुर मकरन्द रस का आस्वादन करने वाले ये भ्रमर भले ही तुम्हारे चारों ओर मँडराते हुए मधुर गुंजन से तुम्हारी चाटुकारी करें, किन्तु सत्य यह है कि तुम्हारा वास्तविक मित्र मलय-पवन है; जो निस्वार्थ भाव से तुम्हारे सौरभ का दिग्दिगन्त में प्रसार कर रहा है।"

इस प्रकार हम यहाँ कह सकते हैं कि संस्कृत साहित्य में गीतिकाव्यों की विशाल एवं उज्ज्वल परम्परा विद्यमान है।

•

अध्याय | ५

गद्य साहित्य

प्रश्न (२६) संस्कृत साहित्य के अन्तर्गत गद्य के विकास की संक्षिप्त पर सार-गर्भित व्याख्या कीजिए।

प्रश्न (३०) संस्कृत गद्य साहित्य का क्रमिक विकास स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—वस्तुतः संस्कृत साहित्य में गद्य का प्रयोग अत्यधिक प्राचीनकाल से ही होता आया है और प्राचीन काल में पद्य की अपेक्षा गद्य को अधिक सम्मान प्राप्त था, गद्य के विषय में संस्कृत में एक उक्ति है 'गद्य कवीनां निकषं वदन्ति' अर्थात् गद्य कवियों की कसौटी है। इस प्रकार कृष्ण यजुर्वेद, ब्राह्मण ग्रन्थों, उपनिषद् ग्रन्थों, निरुक्त, महाभारत प्रभृति ग्रन्थों से संस्कृत गद्य साहित्य को संवर्द्धनशील परम्परा उपलब्ध हुई तथा कालांतर में सैकड़ों टीकाओं, व्याख्याओं, कथाकाव्यों, आख्यायिका ग्रन्थों और चम्पू नाटक आदि में भी गद्य का प्रौढ़ रूप दीख पड़ा। इतना ही नहीं, तत्व ज्ञान सम्बन्धी दर्शन ग्रन्थों, विद्वान् विषयक ज्योतिष ग्रन्थों और भाषा-शास्त्र सम्बन्धी व्याकरण के ग्रन्थों आदि में भी गद्य को विकसित होने की पूर्ण सुविधाएँ प्राप्त हुईं।

ऐतिहासिक गवेषणाओं से यह स्पष्ट हो गया है कि वैदिक साहित्य में संस्कृत गद्य के प्रारम्भिक रूप के दर्शन होते हैं और आचार्य बलदेव उपाध्याय का कहना है कि "वैदिक काल से आरम्भ कर मध्यकाल तक गद्य के विकसित होने का इतिहास बड़ा ही मनोरम है। गद्य के दो प्रकार के रूप मिलते हैं—वैदिक काल का सीधा-साधा, बोलचाल

का गद्य तथा लौकिक संस्कृत का प्रौढ़, समास बहुल गाढ़ बन्ध वाला गद्य, दोनों प्रकार के गद्यों में अपना विशिष्ट सौन्दर्य तथा आकर्षण है। वैदिक गद्य में सीधे-सादे, छोटे-छोटे शब्दों का हम प्रयोग पाते हैं। 'ह', 'वै', 'उ' आदि अव्यय वाक्यालंकार के रूप में प्रयुक्त हैं। इनके प्रयोग से वाक्य में रोचकता तथा सुन्दरता का समावेश हो जाता है। समास की विशेष कमी है। उदाहरणों का बहुत प्रयोग है। उपमा तथा रूपक का कमनीय सन्निवेश वैदिक गद्य को विदग्धों की दृष्टि में हृदयावर्जक बनाये हुए है।" इस कथन की पुष्टि में यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करना आवश्यक हो जाता है। हम देखते हैं कि अथर्ववेद में संस्कृत गद्य का यह स्वरूप दृष्टिगोचर होता है—

व्रात्य आसीदीयमान एवं स प्रजापतिं समैरयत्। स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत्तत्प्राजनयत्। तदेकमभवत्तल्ललाममभवत्तन्महदभवत्तज्ज्येष्ठमभवत्तद् ब्रह्माभवत्तत्तपोऽभवत्तत्सत्यमभवत्तेन प्राजायत।
अथर्व० १५/१

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में गद्य का यह रूप विद्यमान है—

यत्र नान्यत् पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद् विजानाति तद् भूमा। अथ यत्रान्यत् पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्व विजनाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।
छान्दोग्य० ७/२४

पुराणों में तो वैदिक और लौकिक संस्कृत के गद्य का मिला-जुला रूप दीख पड़ता है और पौराणिक गद्य नितान्त आलंकारिक व प्रासादिक है तथा श्रीमद्भागवत व विष्णुपुराण के गद्य में निस्संदेह साहित्यिक गद्य का समग्र सौन्दर्य विद्यमान है। विष्णुपुराण का यह अवतरण देखिए—

यथैव व्योम्नि वह्निपिण्डोपमं त्वामहमपश्यं तथैवाद्याग्रतो गतमप्यत्र भगवत-किंचिन्न प्रसादीकृतं विशेषमुपलक्ष्याभीत्युक्ते भगवत सूर्येण निज कठादुन्मूच्य स्यमन्तकनाम महामणि बरमवतार्य एकान्ते न्यस्तम्।

यहाँ यह स्मरणीय है कि लौकिक संस्कृत साहित्य में लेखकों और जनता की रुचि प्रायः पद्य की ओर ही अधिक होने के कारण और गद्य की अपेक्षा पद्य की रचना सहज व कंठस्थ करने में सुगम होने के फलस्वरूप आयुर्वेद, ज्योतिष व गणित जैसे शास्त्रीय ग्रन्थ भी पहले पद्य में ही लिखे गए। संस्कृत में गद्य का उपयोग बहुत दिनों तक सीमित मात्रा में ही हुआ पर शनैः-शनै शास्त्रीय विषयों को गद्य के माध्यम से व्यक्त किया जाने लगा। इस प्रकार प्रारम्भिक संस्कृत गद्य व्याकरण व दर्शन ग्रन्थों एवं टीकाओं में प्रयुक्त हुआ है तथा साहित्यिक गद्य कथा कहानियों व आंशिक रूप में नाटकों में। शास्त्रीय गद्य का प्रथम उदाहरण पतंजलि का महाभाष्य कहा जाता है। जिसकी भाषा बोलचाल की सरल भाषा है और शैली है कथोपकथनात्मक। ऐसा जान पड़ता है कि मानो छात्र उनके सामने बैठे हैं तथा वह अपने सिद्धान्त समझा रहे हैं—

ये पुनः कार्याभावा निवृत्तौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद् यथा घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति। तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुज्यते। (महाभाष्य)

इसी प्रकार शबर स्वामी, शंकराचार्य और जयन्त भट्ट आदि ने भी शास्त्रीय गद्य के विकास में अपना महत्वपूर्ण योग दिया है पर यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि

काव्यमय या साहित्यिक गद्य का अवतरण भी स्पष्टतया पतंजलि (द्वितीय शताब्दी ईस्वी) पूर्व हो चुका था और स्वयं पतंजलि ने 'वासवदत्ता,, 'सुमनोत्तर' व 'भैमरथी' नामक आख्यायिकाओं का उल्लेख किया है। इसी प्रकार भट्टार हरिश्चन्द्र नामक एक यशस्वी गद्य लेखक भी हुए थे, जिनकी मनोहर शैली व सुन्दर पद रचना की प्रशंसा बाणभट्ट ने हर्षचरित में की है। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि उक्त कृतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं अतः उनके गद्य-सौष्ठव का यहाँ परिचय नहीं दिया जा सकता; पर तत्कालीन कुछ उपलब्ध शिलालेखों से गद्य काव्य का प्रचार व प्रसार स्पष्ट लक्षित होता है। १५० ई० के रुद्रदामन के गिरनार के शिलालेख का यह अवतरण यहाँ दर्शनीय है जिसमें कि अलंकृत गद्य शैली का स्पष्ट प्रयोग हुआ है—

प्रमाणमानोन्मान स्वरगतिवर्ण-सारसत्वादिभिः परमलक्षणव्यंजनै रुपेतकांत मूर्त्तिना स्वयमधिगत-महाक्षत्रपनाम्ना नरेन्द्रकन्यास्वयम्वरानेक माल्य प्राप्तदाम्ना महाक्षत्रपेण रुद्रदाम्ना सेतुं सुदर्शनतरं कारितम्।

इसी प्रकार एक गुप्तकालीन शिलालेख (४०० ई०) भी ऐसी गद्य शैली में रचित प्राप्त हुआ है जिसकी तुलना बाणभट्ट की गद्य शैली से हो सकती है और "इन प्रमाणों के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि गद्य काव्य की कला का प्रचार दण्डी, सुबन्धु और बाण से कई शताब्दी पूर्व ही रहा होगा, किन्तु इन कलाकारों ने अपने अनुपम तथा उत्कृष्ट गद्य काव्यों के प्रभावों से अपने पूर्ववर्ती लेखकों को ऐसा आच्छादित कर दिया कि उनमें से बहुतों के नाम भी उपलब्ध नहीं होते। दंडी, सुबन्धु और बाण गद्य काव्य के विकास काल की चरमोन्नति के प्रतिनिधि लेखक हैं। इनसे पूर्व दीर्घकाल तक साहित्य के इस अंग का अभ्यास होता रहा होगा, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं। वररुचि कृत 'चारुमी', रोमल सोमल कृत 'शूद्रक कथा' तथा श्रीपाल कृत 'तरंगवती' इस कथन की पुष्टि करते हैं। यद्यपि ये लेखक और ये ग्रन्थ हमारे लिए केवल नाम मात्र ही हैं तथापि वे गद्य काव्य की उत्तरोत्तर वृद्धि और विकास के परिचायक हैं।"

सामान्यतः दण्डी की 'दशकुमार चरित', सुबन्धु की 'वासवदत्ता' और बाणभट्ट की 'हर्षचरित' व 'कादम्बरी' द्वारा संस्कृत गद्य-साहित्य समृद्धिशाली अवस्था में पहुँच सका तथा इन तीनों लेखकों को संस्कृत गद्य का स्वामी भी कहा जाता है। पर हमने इसी अध्याय में इन तीनों का पृथक्-पृथक् परिचयात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया है अतः यहाँ केवल इनके नामोल्लेख से ही संतोष करना होगा। चूंकि बाणभट्ट संस्कृत गद्य काव्य के उत्कर्ष के सूर्य थे अतः उनकी परवर्ती गद्य कृतियाँ उनसे बहुत प्रभावित हुई और धनपाल (१००० ई०) की 'तिलक मंजरी', वादीभसिंह (१००० ई०) की 'गद्य चिन्तामणि' तथा वामन भट्ट बाण (१५०० ई०) की 'वेयभपाल चरित' में बाणभट्ट का स्पष्टतया अनुकरण व प्रभाव लक्षित होता है। आधुनिक युग में संस्कृत का लोक सामान्य में प्रचलन न रहने पर पं० हृषीकेश भट्टाचार्य (१८५०-१९१३ ई०) की 'प्रबंध मंजरी' और पं० अम्बिकादत्त व्यास की 'शिवराज विजय' में गद्य काव्य का निखरा हुआ रूप दीख पड़ता है पर उन्हें बाण के प्रभावों से रहित नहीं कहा जा सकता। अन्य आधुनिक संस्कृत गद्यकारों में पंडित क्षमाराव (१८९०-१९५४ ई०) और पर्वतीय पंडित श्री विश्वेश्वर पांडेय भी उल्लेखनीय हैं। पर यहाँ यह भी सत्य है कि आधुनिक युग में संस्कृत गद्य साहित्य का बहुत कुछ अंशों में सीमित प्रचार ही है।

प्रश्न (३१) दण्डी का रचनाकाल निश्चित करते हुए उनके रचना कौशल पर एक संक्षिप्त निबन्ध लिखिए।

प्रश्न (३२) दण्डी का संक्षिप्त परिचय देते हुए दशकुमार चरित की कथा संक्षेप में लिखिए और उसकी गद्य-शैली का विश्लेषण कीजिए।

रचनाकाल और जीवन-वृत्त—आचार्य दण्डी को संस्कृत का प्रथम गद्यकार माना जाता है और 'दण्डी' शायद उनका एक उपाधि नाम था। उनका वास्तविक नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका, पर उनके एक ग्रन्थ काव्यादर्श से इतना तो स्पष्ट ही है कि वह दाक्षिणात्य और संभवतः विदर्भदेशीय थे लेकिन उनके देशकाल सम्बन्धी तथ्यों की गवेषणा में विद्वानों ने पृथक्-पृथक् मत व्यक्त किए हैं तथा पीटरसन, याकोबी, बेलवेलकर एवम् बर्नेट प्रभृति विद्वान् उन्हें विभिन्न तिथियों में रखते हैं। वस्तुतः उक्त विद्वानों के मतानुसार दण्डी को आठवीं शताब्दी के लगभग या बाण का उत्तरवर्ती लेखक नहीं माना जा सकता, क्योंकि दण्डी के काल ज्ञान के लिए सर्वाधिक उल्लेखनीय प्रमाण उनका 'दशकुमार चरित' है और हम देखते हैं कि उसमें जो भौगोलिक चित्रण व राजनीतिक वातावरण है वह सम्राट् हर्षवर्धन (सातवीं शताब्दी) के राज्यकाल से पूर्व के भारत का है अतः दण्डी को छठीं शताब्दी के पश्चात् का लेखक मानना उचित नहीं जान पड़ता। यही बात मैक्समूलर, वेबर, मैक्डोनेल, कर्नन जेक्ब और जैकोबी आदि कई पाश्चात्य विद्वान् करते हैं तथा डॉ० पी० बी० काणे ने भी साहित्य दर्पण की भूमिका में दण्डी को भामह (६०० ई० के पश्चात्) पूर्ववर्ती मानते हैं। अतः हम दण्डी का स्थितिकाल छठीं शताब्दी का मध्यकाल मानने के पक्ष में हैं।

यद्यपि दण्डी के जीवनवृत्त की कोई विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती है, पर 'अवन्तिसुन्दरी' के आधार पर उनके जीवन चरित का कुछ वर्णन इस प्रकार दिया जा सकता है—"कविवर भारवि के तीन लड़के हुए जिनमें मनोरथ मध्यम पुत्र था। मनोरथ के भी चारों वेदों की भाँति चार पुत्र उत्पन्न हुए जिनमें 'वीरदत्त' सबसे छोटा होने पर भी एक सुयोग्य दार्शनिक था। वीरदत्त की स्त्री का नाम गौरी था। इन्हीं से कविवर दण्डी का जन्म हुआ था। बचपन में ही इनके माता-पिता मर गए थे। ये काँची में निराश्रय ही रहते थे। एक बार जब काँची में विप्लव उपस्थित हुआ, तब ये काँची छोड़कर जंगलों में इधर-उधर भटकते फिरते थे। अनंतर शहर में शान्ति होने पर ये फिर पल्लव नरेश की सभा में आ गए और वहीं रहने लगे।" इधर 'अवन्ति सुन्दरी' के जिस श्लोक के आधार पर भारवि के साथ दण्डी के प्रपितामह दामोदर की एकता स्थापित की जाती थी उसमें नया पाठ भेद मिलने से अब इस मत में परिवर्तन करना आवश्यक हो गया; क्योंकि पहला पाठ प्रथमान्त 'भारविः' था पर अब उसके स्थान पर द्वितीयांत 'भारवी' मिला है जिसका अर्थ यह है कि भारवी की सहायता से दामोदर की मित्रता विष्णुवर्धन से हो सकी। इस प्रकार दामोदर दण्डी के प्रपितामह थे, भारवि नहीं और उक्त कथा की पूर्ण प्रामाणिकता भी सिद्ध नहीं होती। अतः हमें दण्डी के जीवनवृत्त के सम्बन्ध में मौन रहना पड़ता है।

कृतियाँ—'शार्ङ्गधर पद्धति' में राजशेखर के नाम से उद्धृत निम्नलिखित

श्लोक में दण्डी के तीन प्रबन्धों को तीन अग्नि, तीन देव, तीन वेद और तीन गुणों के समान तीन लोकों में विश्रुत बनाया गया है—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥

इस प्रकार दण्डी तीन ग्रन्थों के रचयिता माने जाते हैं और उनकी 'काव्यादर्श' तथा 'दशकुमार चरित' नामक दो कृतियाँ तो प्रसिद्ध ही हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की धारणा है कि उक्त दोनों कृतियाँ दण्डी नामधारी दो भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की लेखनी से प्रसूत हैं, पर अब इस प्रकार के तर्क निराधार सिद्ध हो चुके हैं तथा उक्त दोनों कृतियाँ एक ही 'दण्डी' की रचनाएँ हैं, लेकिन तीसरी कृति के सम्बन्ध में काफी समय तक विवाद की स्थिति रही है। कुछ लोगों का कहना है कि 'काव्यादर्श' में दण्डी ने 'छन्दोविचित' या 'कलापरिच्छेद' नामक जिन ग्रन्थों का उल्लेख किया है वह स्वयं दण्डी की ही तीसरी रचना है, पर उक्त दोनों नाम छन्दशास्त्र सम्बन्धी अन्य किसी भी ग्रन्थ के हो सकते हैं। पिशेल ने काव्यादर्श, दशकुमारचरित और मृच्छकटिक का तुलनात्मक अध्ययन कर 'मृच्छकटिक' को दण्डी की तीसरी कृति कहा है, पर भास के नाटकों की खोज के उपरांत यह मत निराधार सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार कुछ विद्वान् 'मल्लिका मारुत' को दण्डी का तीसरा ग्रन्थ मानते हैं, पर आधुनिक अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो गया है कि उक्त नाटक दण्डी का न होकर मालावार के किसी उद्दण्ड रंगनाथ (१५०० ई०) का है। भोजदेव ने भी 'द्विसन्धान काव्य' का दण्डी की रचना के रूप में उल्लेख किया है और उसका एक श्लोक भी उद्धृत किया है, पर यह श्लोक अभी गवेषणीय है। इधर सन् १९२४ में श्री एम० आर० महोदय ने 'अवन्तिसुन्दरी कथा' नामक एक अपूर्ण गद्यकाव्य दक्षिण भारत की ग्रन्थावली में प्रकाशित किया है और इसे दण्डी की कृति माना है तथा इसकी शैली भी दण्डी के उक्त दोनों ग्रन्थों से पर्याप्त साम्य रखती है। इतना ही नहीं दण्डी के 'काव्यादर्श' की जंघालकृत प्रसिद्ध टीका में भी 'अविन्तसुन्दरी' नामक आख्यायिका का उल्लेख किया गया है अतः 'अवन्तिसुन्दरी कथा' ही दण्डी की तीसरी रचना है।

दशकुमार चरित को कथा और रचना कौशल—दण्डी के दशकुमारचरित का जो रूप हमें आज प्राप्त होता है उसमें आरम्भ में पाँच उच्छ्वासों की पूर्व पीठिका है; फिर आठ उच्छ्वासों की कथा या चरित है जिनमें दस नहीं केवल आठ कुमारों की कहानियाँ कही गई हैं और तदुपरान्त पाँच-साढ़े-पाँच पृष्ठ की उत्तरपीठिका है। अधिकांश विचारक पूर्वपीठिका और उत्तरपीठिका को दण्डी की लेखनी से निःसृत नहीं मानते तथा उनका विचार है कि केवल कथा या चरित अंश ही दण्डी का लिखा हुआ है और पूर्वपीठिका व उत्तरपीठिका के लेखक परवर्ती हैं। 'दशकुमार चरित' की मूल कथा में परिवर्तन परिवर्द्धन करने का श्रेय भट्टनारायण (वेणीसंहार नाटक के रचयिता से भिन्न) विनायक, चक्रपाणि गोपीनाथ व पद्मनाभ को दिया जाता है। अतः इससे यहाँ यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि 'दशकुमार चरित' का मूल रूप दण्डी के परवर्ती लेखकों द्वारा संशोधित और परिवर्द्धित हुआ है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कुछ विचारक दण्डी की दशकुमार चरित की कथा का प्रेरणा स्रोत गुणाढ्य की बृहत्कथा में खोजते हैं और बृहत्कथा ने संस्कृत के गद्य-

काव्यों, नीतिकथाओं व प्राकृत की कई कथाकृतियों को प्रभावित भी किया है तथा ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी तथा गुणाढ्य की वृहत्कथा के उपलब्ध होने के प्रमाण भी मिलते हैं अतः हो सकता है कि दण्डी को भी उससे प्रेरणा मिली हो। इसी प्रकार हर्टेल (Hertel) का तो यहाँ तक कहना है कि दण्डी की मूल योजना उपलब्ध ग्रन्थ से कहीं वृहत्तर ग्रन्थ लिखने की थी और राजा कामपाल व उसकी पाँचों रानियों के तीन-तीन जन्म की कथाएँ कहना भी—सम्भवतः उनकी योजना में था, अतः हर्टेल ने उपलब्ध 'दशकुमार चरित' को दण्डी की विशाल योजना का एक अंश मात्र कहा है पर अनुमान के आधार पर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचना सम्भव नहीं है।

जैसा कि हम अभी-अभी कह चुके हैं दंडी के मूल दशकुमार चरित में केवल आठ कुमारों की ही कथा है और इस प्रकार "प्रथम उच्छ्वास में राजवाहन की कथा है तथा उसके साथी उसके पास आते हैं। अपने साथियों को बड़े दिनों बाद पाकर वह अपने अनुभवों की कथा कहने का आदेश देता है। बाकी सात उच्छ्वासों में सात कुमारों की कहानियाँ हैं। सबसे पहली कहानी अपहारवर्मा का चरित है, जो सबसे लम्बा और सबसे जटिल एवं मनोरंजक है। इस कहानी में हमारे सम्मुख अनेक विचित्र घटनाएँ और कई तरह के रोचक पात्र उपस्थित होते हैं। काममंजरी नामक गणिका निस्संदेह एक विचित्र पात्र है, वह तपस्वी मरीचि के आश्रम में जाकर संन्यास लेने का ढोंग रचती है और स्वयं तपस्वी को अपने कर्त्तव्यमार्ग से च्युत कर देती है। इनके पहले वह वस्तुपाल नामक श्रेष्ठिपुत्र को भी ठग चुकी है और बेचारा वस्तुपाल जैन साधु बनने को बाध्य किया जाता है। जैन साधु के प्रसंग में ही जैन धर्म की खिल्ली भी उड़ाई गई है। द्यूतगृह का अनुभव, चोर कर्म का वर्णन जिसमें अपहारवर्मा ने दक्षता प्राप्त कर ली है, चम्पा के कृपण श्रेष्ठियों का धन चुरा-चुराकर उन्हें संसार की संपत्ति की नश्वरता का पाठ पढ़ाना, आदि वर्णनों के द्वारा इस कथा में हास्य और व्यंग्य की अपूर्व विनियोजना की गई है। अपहारवर्मा गरीबों की सहायता के लिए धनवानों की चोरी करता है, प्रेमियों को परस्पर मिलता है तथा नीचता, दुष्टता और धोखा-घड़ी के शिकार बने लोगों को फिर से सुखी बना देता है। अपहारवर्मा वाली अगली कहानी इतनी रोचक नहीं है, पर उसमें भी घटनाओं और चरित्रों का अभाव नहीं है। इस कहानी में नायक के पिता के खोए हुए राज्य को प्राप्त करने की कहानी है। नायक चालाकी से राजा का वध कर देता है, रानी का विश्वासपात्र बनता है और मंत्र सिद्धि से रूप परिवर्तन का बहाना कर राजा बन जाता है। चौथी कहानी कुमार अर्थपाल की है, जो काशिराज के द्वारा पदच्युत पिता को पुनः मंत्री बना देता है और राजकुमारी मणिकर्णिका के प्रेम को प्राप्त करता है। इस कथा में सर्पविष को हटाने की योजना का प्रयोग किया गया है, जहाँ नायक राजकुमारी के सर्पविष को उतार देता है। अगली कहानी प्रमति की है, जिसमें स्वप्न में नायिका-दर्शन वाली कथानक रूढ़ि का प्रयोग पाया जाता है। नायक श्रावस्ती की राजकुमारी नवमालिका को स्वप्न में देखता है। वह स्त्री की भूमिका धारण कर अंतःपुर में जाता है और राजकुमारी से मिलता है। इसी कहानी में एक स्थान पर कुक्कुटों की लड़ाई का वर्णन किया गया है। इसके बाद छठीं कहानी मित्रगुप्त की है, जो ब्रह्मदेश की राजकुमारी कंदुकवती को प्राप्त करता है। इस कहानी में अनेक समुद्रों और दूर देशों की यात्रा का वर्णन है। इसी में ब्रह्मराक्षस की कथानक रूढ़ि (मोटिफ) का भी प्रयोग किया गया है। एक ब्रह्मराक्षस उससे

चार प्रश्न पूछता है और अगर वह उसका उत्तर नहीं देगा तो वह उसे मार डालेगा। इन प्रश्नों के उत्तर में ही धूमिनी, गोमिती, निबंवती तथा नितंबवती कहानियाँ कही गई हैं। इन सभी कहानियों का सारांश यही जान पड़ता है कि चालाकी से ही व्यक्ति सफलता प्राप्त कर सकता है। सातवीं कहानी मन्त्रगुप्त की है, जिसमें दंडी ने चित्र काव्य शैली का प्रयोग किया है। इस सारी कहानी में मन्त्रगुप्त ओष्ठ्य वर्णों का उच्चारण नहीं करता, क्योंकि प्रेयसी के रागोद्‌बोधक चुम्बनों तथा दन्तक्षता ने उसके ओठों को विह्वल बना रखा है। इस कहानी की घटनाएँ कलिंग तथा आंध्रदेश में घटित होती हैं और आरम्भ में मन्त्रगुप्त एक कापालिक सिद्ध से कलिंगराज कर्दन की पुत्री कनकलेखा को बचाता है। कापालिक ने उसको लक्षों के द्वारा श्मशान में मँगवा लिया था और वह उसका बलि देना चाहता था। इस कहानी में मन्त्र सिद्धि के द्वारा रूप परिवर्तन वाली कथानक रूढ़ि की योजना पाई जाती है, जिसका प्रयोग अपहारवर्मा की कहानी में भी है। अंतिम कथा विश्रुत की है, जो दंडी की अधूरी कहानी है और उत्तरपीठिका के लेखक ने इसे पूरा किया है। इस कथा में में विश्रुत अपने आश्रयदाता, विदर्भ के राजकुमार के खोये राज्य को पुनः प्राप्त करता है। वह भगवती दुर्गा की मूर्ति के रूप में स्थित होकर अपनी इष्टसिद्धि करता है।"[1] इस प्रकार 'दशकुमार चरित' के मुख्य कथा में कई अवांतर कथाएँ पाई जाती हैं और इसे लेखक का रचना कौशल कहा जा सकता है।

'दशकुमार चरित' के तथ्यवादी वातावरण को देखकर कुछ विद्वान् उसका लक्ष्य 'पंचतंत्र' आदि की कहानियों की भाँति कहानियों के माध्यम से नीतिशास्त्र की शिक्षा देना मानते हैं, पर इस कृति का लक्ष्य केवल नीतिशास्त्र की शिक्षा मानना दंडी के प्रति अन्याय होगा। कीथ का विचार है कि दंडी का एकमात्र लक्ष्य सहृदयता का अनुरंजन जान पड़ता है भले ही उन्होंने नीति-शास्त्र, राजनीति व कामशास्त्र का प्रकांड अध्ययन 'दशकुमार चरित' में प्रदर्शित किया हो। इसी प्रकार डॉ० भोलाशंकर व्यास का कहना है, "दंडी की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि सामान्य लोककथाओं को लेकर काव्य की आभा से उद्दीपित कर दिया है और यह काव्य-शैली सुबन्धु और बाण तक में नहीं पाई जाती। सुबन्धु तथा बाण का खास ध्यान परिश्रमसाध्य राति (शैली) की ओर अधिक है, पर दंडी का ध्यान केवल अभिव्यंजना पक्ष की ओर नहीं है, वे कथा से विषय को कम महत्त्व नहीं देते। सुबन्धु ने एक छोटी-सी कहानी लेकर कला का आल-बाल खड़ा कर दिया है, पर दंडी के पास विषय की कमी नहीं है, और उनकी अभिव्यंजना शैली इतनी गठी हुई है कि वह विषय की कमी लेकर आगे बढ़ती है। सुबंधु और बाण दोनों ही कवियों का रीतिपक्ष बड़ी तेजी से, बड़ी सजधज से आगे बढ़ता और विषय पीछे घसीटता रहता है, दोनों कदम-से-कदम मिलाकर चलते नहीं दिखाई देते। दंडी के दशकुमार चरित में कथा या विषय को यह दयनीय परिणति नहीं देखी जाती।"[2]

विचारकों ने काव्य या साहित्य में किसी उदात्त विषय का प्रतिपादन आवश्यक मानते हुए उसके नायक का शालीन, घोर एवं लोकातीत गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक माना है, पर दंडी ने भारतीय समाज के निम्न स्तर के—मान, मद, माह व मत्सरमय जनजीवन का—चित्रण कर उस परम्परा का उल्लंघन ही किया है। 'दश-

---

१. संस्कृत-कवि-दर्शन, पृ० ४६४-४६६

२. संस्कृत-कवि-दर्शन पृ० ४६७-६८

कुमार चरित' की कथाएँ तो जुआ, जादू-टोना, लूट-मार, हिंसा, छलकपट, परस्त्री-हरण व अवैध-प्रेम की घटनाओं से पूर्ण हैं और पाखंडी साधु, दुश्चरित स्त्रियाँ, कामान्ध मनुष्य, कृपण सेठ आदि पात्रों का चित्रण कर एक ओर लेखक ने अपनी कृति में अधिकाधिक स्वाभाविकता लाने की चेष्टा की है और दूसरी ओर तत्कालीन सामाजिक वातावरण का भी स्पष्ट चित्रण किया है। साथ ही 'दशकुमार चरित' में हास्य योजना पर भी पूर्ण ध्यान रखा गया है और दिगम्बर जैन, बौद्ध, ब्राह्मण, देवता व भिक्षुणियाँ तीक्ष्ण व्यंग्य के शिकार-से बनते हैं तथा तपस्वी मरीचि एवम् वेश्या की काममंजरी की कथा परिपूर्ण है। इसी प्रकार दंडी ने स्त्रियों की वेष-भूषा और प्रसाधन का भी रोचक वर्णन किया है तथा राजकुमारी कन्दुकावती के कंदुक-नृत्य का भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है।

समीक्षक दंडी को भाषा का अधिपति मानते हैं और इसमें कोई संदेह नहीं कि वह संस्कृति गद्य के प्रयोग में पूर्व सिद्धहस्त जान पड़ते हैं तथा अधिकांश आलोचकों का यही मत है कि 'दशकुमार चरित' के विषय तथा अभिव्यंजना शैली के निवाह में जो संतुलन पाया जाता है वह संस्कृत के किसी गद्यकाव्य में नहीं मिलता। साथ ही व्याकरण की दृष्टि से भी दशकुमार चरित निर्दोष है। इसमें लिट् और लङ् लकार के प्रयोग पाणिनीय नियमों के अनुसार है, जैसा सुबन्धु की वासवदत्ता में नहीं दीख पड़ता।। विशद चरित्र-चित्रण, नैसर्गिक बुद्धिविलास, शिष्ट परिहास, विषयान्तरों की न्यूनता, रसानुकूल शब्द-विन्यास, यथार्थ और आदर्श का सुन्दर सामंजस्य आदि विशेषताएँ 'दशकुमार चरित' को संस्कृत गद्य-साहित्य में विशिष्ट स्थान प्रदान करती हैं। इसी प्रकार दंडी वैदर्भी गद्य-शैली के आचार्य कहे जाते हैं और इनकी भाषा नैसर्गिक, प्रवाहपूर्ण, मँजी हुई व मुहावरेदार है तथा अर्थ की स्पष्टता, रस की सम्यक् अभिव्यक्ति, शब्द विन्यास की चारुता और कल्पना की उर्वरता दंडी की शैली के विशिष्ट गुण हैं। इतना ही नहीं, दंडी के पदलालित्य की प्रशंसा अनेक विद्वानों ने की है और इसमें कोई संदेह नहीं कि दंडी की भाषा-शैली में सरलता, सजीवता एवम् प्रभावोत्पादकता का अद्भुत समन्वय दीख पड़ता है। उदाहरणार्थ—

क्षीणसारं सस्यम्, ओषधयो बन्ध्याः, न फलवन्तो वनस्पतयः, क्लीबा मेघाः खिन्नस्त्रोमसः स्त्रवन्त्यः, पङ्कशेषाणि पल्वलानि, निःस्यन्दायुत्स मण्डलानि, विरलीभूत कन्दरूलफलम् अवहीनाः कथाः, गलिताः कल्याणकोत्सव-क्रियाः बहुली भूतानि तस्कर कुलानि, अन्योन्यमभक्षयन् प्रजाः, पयलुण्ठन्नेतस्ततो बलाकतपांडुराणि नरशिर कपालानि, पर्यतिडन्त शुष्काः काकमण्डल्यः, शून्यीभूतानि नगरग्रामस्वर्वटपुटभेदानि।

प्रश्न (३३) सुबन्धु के रचनाकाल का निर्धारण करते हुए उनके रचना कौशल पर एक आलोचनात्मक लेख लिखिए।

प्रश्न (३४) सुबन्धु कृत वासवदत्ता की कथा संक्षेप में लिखकर गद्यशैली की दृष्टि से उसकी आलोचना कीजिए।

सुबन्धु का रचनाकाल और परिचय—अन्य अधिकांश संस्कृत साहित्यकारों की भाँति सुबन्धु का भी स्थितिकाल अनिश्चित है और उनके समय व स्थान का वासवदत्ता में कई शब्दों, पदों व घटनाओं पर बाणभट्ट की कादम्बरी का स्पष्ट प्रभाव देखकर उन्हें बाण परवर्ती लेखक मानते हैं और दूसरी ओर टीकाकार भानुचन्द्र के मतानुसार बाण ने अपनी कादम्बरी को अतिद्वयी कथा कहकर वासवदत्ता और 'बृहत्कथा' की ओर

संकेत किया है। इसी प्रकार म० म० काणे ने भी सप्रमाण सुबन्धु को बाणभट्ट का पूर्ववर्ती लेखक माना है और उनका कहना है कि 'हर्षचरित' में बाण ने सुबन्धु कृत वासवदत्ता का भी उल्लेख किया है। काणे महोदय ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किए हैं—

(१) वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में सुबन्धु की वासवदत्ता और बाण की कादम्बरी से उदाहरण दिए हैं अतः ये दोनों ७५० ई० के पूर्व हुए होंगे।

(२) कविराज (१२०० ई०) ने राघव पांडवीय में सुबन्धु, बाणभट्ट और स्वयं को वक्रोक्ति में कुशल बतलाया है तथा इससे यह भी अनुमान होता है कि उन्होंने इन तीनों नामों का स्थितिकाल के अनुसार यथाक्रम उल्लेख किया है।

(३) वाक्पतिराज के प्राकृत काव्य गउडवहो (७३६ ई०) में सुबन्धु की रचना का उल्लेख हुआ है पर बाण का नहीं। अतः इससे यही जान पड़ता है कि वाक्पतिराज के समय में सुबन्धु की पर्याप्त प्रसिद्धि हो चुकी थी, पर बाण तब तक अप्रसिद्ध ही थे; इससे सुबन्धु बाण के पूर्ववर्ती प्रमाणित होते हैं।

इसी प्रकार कुछ विचारक सुबन्धुकृत वासवदत्ता के वर्णन में और भवभूति की मालती-माधव के कुछ वर्णनों में पर्याप्त साम्य देखकर भवभूति को सुबन्धु से प्रभावित मानते हैं तथा सुबन्धु को भवभूति (७०० ई०) के पूर्व का लेखक बतलाते हैं। साथ ही सुबन्धु की वासवदत्ता में एक रमणी का इस प्रकार वर्णन देखकर 'न्यायस्थिति-मिवोद्योत्कर स्वरूपां बौद्ध सङ्गतिमिवालङ्कार भूषिताम्' कीथ का कहना है कि यहाँ सुबन्धु ने श्लेष द्वारा नैयायिक उद्योतकर और बौद्ध धर्मकीर्ति के बौद्ध 'संगात्यलंकार' नामक ग्रन्थ की ओर संकेत किया है। इन लेखकों का समय सातवीं शताब्दी का प्रारम्भ था और इनके अतिरिक्त जिनभद्र क्षमाश्रमण कृत 'विशेषावश्यक भाष्य' (६०८ ई०) में भी वासवदत्ता व तरंगवती का उल्लेख हुआ है, अतः सुबन्धु का समय ६०० ई० या इससे कुछ पूर्व का माना जा सकता है।

वासवदत्ता की कथा और उसकी गद्य-शैली—सुबन्धु की एकमात्र उपलब्ध रचना वासवदत्ता है पर उनकी इस वासवदत्ता का सम्बन्ध प्राचीन आख्यायिक वत्सराज उदयन की प्रणय कथा से कुछ भी नहीं है तथा यह पूरी-की-पूरी कथा सुबन्धु के मस्तिष्क की ही उपज है। यहाँ हम वासवदत्ता की कथा संक्षेप में इस प्रकार दे सकते हैं—"चिन्तामणि नामक राजा के कन्दर्पकेतु नाम का एक सुन्दर पुत्र है, जो अपने से भी सुन्दर किसी लड़की को स्वप्न में देखता है, उसको नींद नहीं आती और वह अपने मित्र मकरन्द के साथ उस अपरिचिता को ढूंढ़ने के लिए निकल पड़ता है। विन्ध्य पर्वत पर निद्राविहीन पड़ा हुआ वह राजकुमार चुपके से रात्रि के एकान्त में एक क्रुद्ध मैना को अपने पति तोते को डाँटते हुए सुनता है। तोता देर से आने के अपराध का यह कहकर परिहार करता है कि किस प्रकार शृङ्गार शेखर नामक राजा के अनन्य सुन्दरी वासवदत्ता नाम की एक कन्या है, जो स्वप्न में एक युवक का सुन्दर रूप देखकर उसके प्रति अत्यधिक आसक्त हो जाती है। उसने अपनी विश्वस्त दूती तमालिका को उस युवक के पास अपने प्रगाढ़ प्रेम का विश्वास दिलाने के लिए भेजा है। बिना किसी कठिनाई के पाटलिपुत्र में कन्दर्पकेतु और वासवदत्ता का मिलन हो जाता है। किन्तु राजकुमार

कन्दर्पकेतु को यह जानकर बड़ा दु:ख होता है कि वासवदत्ता की अविवाहित अवस्था से ऊबकर राजा ने उसका विवाह विद्याधरों के राजा पुष्पकेतु से करने का निश्चय कर लिया है। अतः प्रेमी-प्रेमिका दोनों एक जादू के घोड़े की सहायता से विन्ध्याचल भाग जाते हैं जहाँ वे नींद में सो जाते हैं। जागने पर राजकुमार को यह देखकर दु:ख होता है कि वासवदत्ता कहीं चली गई है और अपनी उस निराशा में एक आकाशवाणी उसे आत्मघात से बचाती है और उसे पुनर्मिलन का विश्वास दिलाती है। इधर-उधर बहुत घूमने के पश्चात् वह एक शिलापुत्रिका देखता है जिसमें उनके स्पर्श से जीवन का संचार हो जाता है और वह उसकी प्रियतमा के रूप में परिवर्तित हो जाती है। पुनर्मिलन होने पर वे दोनों सुखपूर्वक कन्दर्पकेतु की राजधानी में रहने लगते हैं।"

इस प्रकार 'वासवदत्ता' की कथा लेखक के मस्तिष्क की उपज होने के कारण मौलिक मानी जा सकती है पर उसमें भारतीय आख्यानों की समस्त चलताऊ सामग्री का उपयोग किया गया है तथा डॉ० भोलाशंकर व्यास 'वासवदत्ता' की कथावस्तु में निम्नलिखित लोककथा की कथानक रूढ़ियों का स्पष्ट उल्लेख पाते हैं—

१. नायक-नायिका के परस्पर स्वप्नदर्शन से प्रणयोद्‌बोध,

२. नायक-नायिका के मिलन में शुक (पक्षी) का हाथ,

३. शुक के द्वारा कथा के कुछ अंश को वक्ता के रूप में कहलवाना,

४. अत्यधिक तेजगति वाले (मनोजव) जादू के घोड़े के द्वारा इन दोनों प्रेमियों का चुपके से भाग जाना,

५. शाप की कल्पना तथा शाप के द्वारा वासवदत्ता का शिला बन जाना,

६. आकाशवाणी के द्वारा आत्महत्या करते नायक को रोकना।

'वासवदत्ता' की कथा बहुत संक्षिप्त और निर्जीव है, पर सुबन्धु ने सुन्दर वर्णनों की योजना द्वारा कथानक को अपूर्व शक्ति प्रदान की है। सच तो यह है कि सुबन्धु का लक्ष्य रोचक कहानी लिखना न था और इसीलिए वासवदत्ता की घटनाएँ व पात्र, कौतुक व विस्मय उत्पन्न नहीं करते, बल्कि लेखक का मूल उद्देश्य वर्णन करना है तथा इस वर्णन-चातुरी के कारण उनकी ख्याति साहित्य जगत् में है। इस प्रकार "वासवदत्ता उन गद्य काव्यों का प्रतिनिधित्व करती है जिनमें कथानक नितान्त स्वल्प रहता है और वर्णन प्रचुर मात्रा में विद्यमान रहता है।"[1] अतः कथा को अत्यधिक अलंकृत व चमत्कृत बनाना ही सुबन्धु का लक्ष्य रहा है। यहाँ यह भी स्मरण रहना चाहिए कि सुबन्धु नाना विद्याओं, मीमांसा, न्याय, बौद्ध साहित्य आदि अनेक विषयों में नितान्त प्रवीण थे और उन्होंने 'वासवदत्ता' में श्लेष व उपमा के प्रसंग में रामायण, महाभारत एवं हरिवंश की अनेक प्रसिद्ध व अल्पप्रसिद्ध घटनाओं तथा पत्रों का प्रचुर निर्देश कर अपनी विद्वत्ता का पूर्ण परिचय दिया है। सुबन्धु का यह भी कहना था कि सत्काव्य वह हो सकता है जिसमें अलंकारों का चमत्कार, श्लेष का प्राचुर्य और वक्रोक्ति का सन्निवेश विशेष रूप से हो—

सुश्लेषवक्रघटनापटु सत्काव्यविरचनामिव

इस प्रकार सुबन्धु की गद्यशैली अतिशयोक्ति, अनुप्रास व समास प्रधान गौणीय शैली का उदाहरण है और यही कारण है कि सुबन्धु भावपक्ष के चित्रण में उत्कष्ट कवित्व

१. बलदेव उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का इतिहास

का परिचय नहीं दे पाते। वासवदत्ता के विरह वर्णन में वह आनुप्रासिक चमत्कार का ही विशेष प्रदर्शन कर पाठकों को आकृष्ट करते हैं—

सुकान्ते कान्तिमति! मन्दं मादमपनय बाष्पबिन्दून्। यूथिकालङ्कृते यूथिके! संचारय नलिनीदलतालवृन्तेनार्द्रवातान्। एहि भगवति निद्रे अनुगृहाण माम्, धिक्, इन्द्रियैरपरैः, किमिति लोचनमयान्येव कृतान्यङ्गानि विधिना। भगवन् कुसुमायुध तवायमञ्जलिः अनुवशी भव भाववति मादृशे जने। मलयानिल सुरत-महोत्सवदीक्षागुरो वा यथेष्टम्, अपगता मम प्राणाः, इति बहुविधं भाषमाणा वासवदत्ता सखीजनेन समं संमुमूर्च्छ।

सुबन्धु का यह दावा भी है कि वह 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यास वैदग्ध्य-निधिर' अर्थात् प्रत्येक अक्षर के श्लेषमय विन्यास के लिए अपेक्षित दक्षता की निधि है और यही कारण है कि "उनकी रचना श्लेष तथा विरोधाभास का ऐसा दुर्गम महाकान्तर है कि उसमें वास्तविक काव्य-सौन्दर्य को ढूंढ़ निकालना कठिन है। अलंकारों, समासों तथा पौराणिक संकेतों के प्रयोग में वे औचित्य की सीमा का अतिक्रमण कर बैठते हैं और इस कारण रस का आस्वादन दुर्लभ हो जाता है। दण्डी में वीरता, विचित्रता तथा शृङ्गारिकता का स्निग्ध एवं रमणीय चित्र है, किन्तु सुबन्धु चित्रकाव्य लिखने के फेर में पड़कर इन रम्य भावों का सफल अंकन नहीं कर सके हैं। स्थान-स्थान पर नये रंगों को भर कर उन्होंने प्रत्येक चित्र को अतीव विचित्र बना डाला है। उनमें न तो दण्डी का हास, ओज और वैचित्र्य है और न बाण की-सी कल्पना शक्ति और वर्णन प्रतिभा ही। उनकी समास-प्रचुर भाषा में सौष्ठव, प्रसाद और माधुर्य कम है, आडम्बर, कृत्रिमता और असंगति अधिक है।"[1]

इसका यह अर्थ नहीं है कि सुबन्धु की गद्य-शैली सर्वथा दोषयुक्त ही है क्योंकि विचारक यह मत भी व्यक्त करते हैं कि "सुबन्धु की चित्रोपम एवं अलंकृत गद्य शैली की आलोचना करते समय यह स्मरण रखना होगा कि उनमें कथानक के लिए सरल और अलंकारहीन शैली अनुपयुक्त सिद्ध होगी। शृङ्गारिक वैभव के चित्रण में, तीव्र मनोराग की अभिव्यक्ति में एवं प्रभावोत्पादक वर्णन में 'पंचतंत्र' की-सी सरल शैली सर्वथा अप्रासंगिक होती। यह दूसरी बात है कि सुबन्धु अलंकारों का मात्रातीत प्रयोग कर अपनी शैली के लालित्यमय प्रवाह की रक्षा नहीं कर सके। एक ही क्रिया पर आश्रित विपुलकाय वाक्य की रचना में सुबन्धु अद्वितीय हैं। साथ ही वे आवश्यकता होने पर छोटे-छोटे वाक्यों का भी विशेषकर संवादों में प्रयोग कर सके हैं उनके समासों में एक प्रकार का स्वर-माधुर्य है तथा उनके अनुप्रासों में संगीत है।"[2] इस प्रकार सुबन्धु की गद्य-शैली को हम त्रुटिपूर्ण मानने के पक्ष में नहीं हैं क्योंकि उसमें उनकी निजता के ही दर्शन होते हैं और हमें यह भी न भूलना चाहिए कि साधारणतया गद्यकार सरस पद्यों के लिखने में समर्थ नहीं होता। पर सुबन्धु ने 'वासवदत्ता' में कोमल व मधुर पद्यों को संयुक्त कर अपनी व्यापक प्रतिमा का परिचय दिया है। वामन भट्ट बाण ने सुबन्धु की प्रशंसा में उचित ही कहा है—

---

१. संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २८७

२. वही, पृ० २८७

प्र तिकावभेदनबाणः कवितातरुगहनविहरणमयूरः ।
सहृदयलोकसुपन्धुर्जयति श्रीभट्टबाणकविराजः ॥

प्रश्न (३५) आप इस कथन से कहाँ तक सहमत हैं कि "संस्कृत साहित्य में गद्यकाव्य का चरमोत्कर्ष बाणबट्ट की कृतियों में पाया जाता है।"

प्रश्न (३६) बाण का रचनाकाल निश्चित करते हुए उनके रचना कौशल पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न (३७) बाणभट्ट की कादम्बरी की कथा का सारांश लिखकर उसका आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए।

बाणभट्ट का रचनाकाल और परिचय—बाण ने स्वयं हर्षचरित के प्रथम तीन उच्छ्वासों और कादम्बरी की प्रस्तावना के पद्यों में अपना परिचय दिया है अतः हमें उनके जीवनवृत्त के विषय में पर्याप्त जानकारी मिल जाती है तथा स्वयं बाण के आत्म-कथन के आधार पर उनका जीवनवृत्त यहाँ संक्षेप में इस प्रकार दिया जा सकता है। उनके पिता का नाम चित्रभानु और माता का राज्य देवी था, पर बाल्यकाल में ही उनके माता-पिता उन्हें अनाथ बनाकर इस असार संसार से चले गये। क्षण के पास अतुल पैतृक सम्पत्ति थी। उन्हें देशाटन का भी बड़ा शौक था, अतः वह अपने कुछ साथियों के साथ देशाटन को निकले। अपनी इस लम्बी यात्रा में उन्हें अत्यधिक अपकीर्ति मिली, पर स्वयं उनका कहना है कि वह वृद्धि विकास, सांसारिक अनुभव और उदार विचार अर्जित कर लौटे। अचानक एक दिन हर्ष के भाई कृष्ण द्वारा उन्हें एक पत्र मिला जिसमें लिखा था कि राजा से तुम्हारी काफी निन्दा की गयी है और वह तुमसे बहुत नाराज हैं; अतः शीघ्र यहाँ चले जाओ। बाण हर्ष के पास गये और हर्ष ने पहले उनकी अवहेलना की पर बाद में उनकी विद्वत्ता पर प्रसन्न हो आश्रयदान दिया तथा वह उनकी सभा को सुशोभित करते रहे, लेकिन कुछ समय बाद वहाँ से चले आये। जब बाण शोण नदी के किनारे प्रीतिकूट नामक अपनी जन्मभूमि में लौटे तब लोगों ने उन्हें उस महान् नृपति का चरित सुनने के लिए कहा और उन्होंने 'हर्षचरित' की रचना की।

सम्राट् हर्षवर्धन का सभा पंडित होने के कारण बाणभट्ट का स्थितिकाल सर-लतापूर्वक निश्चित किया जा सकता है; क्योंकि ऐतिहासिक साक्ष्यों के अनुसार हर्ष का राज्याभिषेक अक्टूबर ६०६ ई० में हुआ और उनकी मृत्यु ६४७ ई० में हुई थी। अतः हम बाण का समय सातवीं सदी का पूर्वार्द्ध मान सकते हैं। उक्त समय की पुष्टि बाह्य एवं आभ्यंतरिक प्रमाणों से भी हो जाती है; क्योंकि आनन्दवर्धन (८५० ई०) के ध्वन्यालोक में बाण की दोनों गद्य कृतियों का उल्लेख है। वामन (८०० ई०) ने अपनी 'काव्यालंकार सूत्र वृत्ति' में 'कादम्बरी' के 'अनुकरोति भगवती नारायणस्य' नामक शब्द भी उद्धृत किये हैं। अतः बाणभट्ट का स्थितिकाल आठवीं सदी के पूर्व ही होना चाहिए। इसी प्रकार 'हर्षचरित' में बाण ने जिन कवियों का उल्लेख किया है उनमें से कोई भी सातवीं शताब्दी के पश्चात् का नहीं है और उन्होंने हर्ष के जीवन की उन्हीं घटनाओं का उल्लेख किया है जो उनसे मिलने के पूर्व हर्ष के जीवन में घट चुकी थीं। सन् ६४३ ई० की कुछ घटनाएँ तो इतिहास से प्रमाणित भी हो जाती हैं। इस प्रकार हम बाणभट्ट का स्थितिकाल सातवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध ही मानते हैं।

वस्तुतः बाणभट्ट की हर्षचरित और कादम्बरी नामक दो कृतियाँ अत्यधिक

प्रसिद्ध हैं। इनके अतिरिक्त चंडीशतक, पार्वतीपरिणय, मुकुटताडितक और रत्नावली आदि कुछ अन्य कृतियाँ भी उनकी कही जाती हैं पर इनमें से मुकुटताडितक अभी तक उपलब्ध नहीं हुआ और पार्वती परिणय को कई विद्वान् कवि वामनभट्ट बाण की रचना कहते हैं तथा रत्नावली भी किसी अन्य लेखक की कृति कही जाती है। 'चंडीशतक' भगवती दुर्गा की स्तुति में १२० पद्यों की साधारण-सी कृति है और उसे भी कुछ विद्वान् बाणभट्ट की कृति नहीं मानते। इसी प्रकार क्षेमेन्द्र की 'औचित्य विचार चर्चा' में बाण रचित एक पद्य उदधृत है, जिसमें चन्द्रापीड की प्रेयसी कादम्बरी की विरह-कथा का वर्णन है और इससे कुछ विद्वान् यह अनुमान भी करते हैं कि बाण ने पद्य में भी 'कादम्बरी' की कथा लिखी होगी, पर अभी तक 'पद्य कादम्बरी', की कोई प्रति उपलब्ध नहीं हुई। इस प्रकार बाण की हर्षचरित और कादम्बरी ही उल्लेख योग्य रचनाएँ हैं तथा वह दोनों उनकी कीर्ति को सर्वदा अक्षुण्ण रखने के लिए पर्याप्त हैं। 'हर्षचरित' का परिचय तो ऐतिहासिक काव्य का विकासात्मक अनुशीलन करते समय दिया जा चुका है अतः यहाँ हम केवल कादम्बरी का ही आलोचनात्मक परिचय देंगे। इस प्रसंग में यह भी स्मरणीय है कि बाण ने हर्षचरित को आख्यायिका कहा है और कादम्बरी को कथा माना है तथा आख्यायिका में ऐतिहासिक आधार आवश्यक है, पर कथा कल्पनाप्रसूत होती है। कादम्बरी की कथा कल्पनाप्रसूत ही है। बाणभट्ट कादम्बरी की कथा को अपूर्ण ही छोड़ गये थे उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र ने कादम्बरी को पूर्ण किया है। कादम्बरी के उत्तरार्द्ध के आरम्भ में बाण के पुत्र ने लिखा भी है—

याते दिवं पितरि तद्वचसैव सार्धं
विच्छेदमाप भुवि यस्तु कथाप्रबन्धः।
दुःखं सतां तदसमाप्तिकृतं विलोक्य
प्रारब्ध स एव मया न कवित्वदर्पात्

कादम्बरी की कथा और समीक्षा—"कादम्बरी की कथा एक जन्म से सम्बद्ध न होकर चन्द्रापीड तथा पुण्डरीक के तीन जन्मों से सम्बन्ध रखती है। आरम्भ में विदिशा के राजा शूद्रक के प्रभाव तथा वैभव का परिचायक वर्णन है। उसके दरबार में एक परम सुन्दरी चांडाल कन्या 'वैशम्पायन' नामक शुक को लेकर आती है जो मनुष्य की बोली में बोलता है और श्रोताओं के परम मनोरंजन का साधन प्रस्तुत करता है। यही कादम्बरी की कथा आरम्भ करता है जिसके साथ वह स्वयं सम्बद्ध रहता है। इसी के बीच में ऋषि जाबालि के द्वारा वर्णित राजा चन्द्रापीड और उनके मित्र वैशम्पायन की कथा आती है। राजा चन्द्रापीड दिग्विजय के प्रसंग में हिमालय प्रदेश में जाता है। किन्नर मिथुन के पीछे वह बड़ी दौड़-धूप लगाता है। वह मिथुन तो अन्तर्हित हो जाता है और राजा अच्छोद नामक दिव्य जलाशय के पास पहुँचता है जहाँ वह अपने घोड़े को बाँधकर शिवालय में वीणावादिनी महाश्वेता के संगीत में आकृष्ट होकर जाता है और उससे परिचय पाकर उसकी प्रिय सखी कादम्बरी का दर्शन करता है। चन्द्रापीड और कादम्बरी के हृदय में दोनों के प्रति नैसर्गिक मधुर आकर्षण उपजता है, परन्तु प्रणय की मूर्ति के पहले ही राजा अपनी राजधानी उज्जैनी लौट आता है। ताम्बूलवाहिनी पत्रलेखा कादम्बरी के वास्तव प्रेम का संदेश लाती है और यहीं पूर्ण कादम्बरी का अन्त होता है।"

उत्तर भाग में चन्द्रापीड महाश्वेता के पास लौटता है और अपने प्रिय मित्र

वैशम्पायन की विपत्ति का हाल जान लेता है जो महाश्वेता से प्रणय स्थापित करने का उद्योग करता है, परन्तु उस तपस्विनी का कोपभाजन तोता बन जाता है। चन्द्रापीड अपने सुहृद् की विपत्ति से शोकाक्रान्त होकर अपना शरीर त्याग करता है। समाचार पाकर कादम्बरी आती है और विलाप करती है। चन्द्रापीड के माता-पिता—विलासवती तारापीड—इस दुःखद घटना से नितान्त उद्विग्न हो उठते हैं। (जाबालि कथा की समाप्ति)। कपिजल अपने मित्र शुक (जो वास्तव में मन्त्री पुत्र वैशम्पायन है) को खोजने के लिए जाबालि के आश्रम में आता है और मित्र की दुरवस्था से दुखित होता है। शुक उड़कर एक चांडाल के पास चला जाता है जो उसे अपनी कन्या को देता है और वही चाडांल कन्या उसे शूद्रक के दरबार में लाती है। वह चांडाल कन्या वस्तुतः पुण्डरीक की माता लक्ष्मी है तथा पुण्डरीक ही उस जन्म का वैशम्पायन तथा इस जन्म का शुक है। राजा शूद्रक स्वयं पूर्व जन्म का राजा चन्द्रापीड है जो कभी स्वयं चन्द्रमा था परन्तु शापवश भूतल पर आया था। लक्ष्मी अंतर्हित हो जाती है तथा शूद्रक और शुक का भी शरीरपात हो जाता है जिससे चन्द्रापीड का पड़ा हुआ मृतक शरीर पुनर्जीवित हो जाता है और पुण्डरीक भी आकाश से उत्तर आता है। पुण्डरीक से महाश्वेता का तथा चन्द्रापीड से कादम्बरी का मिलना होता है और वे प्रणयी युगल सुख से अपना जीवन बिताते हैं।''

इस प्रकार कादम्बरी में चन्द्रापीड और पुण्डरीक दोनों नायकों के तीन-तीन जन्म की कहानियाँ हैं तथा कीथ के कथनानुसार ''वास्तव में, यह एक विचित्र कहानी है, और उन लोगों के प्रति जिनको पुनर्जन्म में अथवा इस मर्त्यजीवन के अन्तर पुनर्मिलन में भी विश्वास नहीं है। इसकी प्ररीचना गम्भीर रूप से अवश्य ही कम हो जानी चाहिए। उनकी यह सारी कथा, निकम्मी नहीं तो, असंगत अद्भुत कथा के रूप में ही प्रतीत होती है, जिसके आकर्षण से हीन पात्र एक अवास्तविक वातावरण में ही रहते हैं। परन्तु भारतीय विश्वास की दृष्टि से वस्तुस्थिति बिलकुल भिन्न है। कथा को हम औचित्य के साथ मानवीय प्रेम की कोमलता, दैवी आश्वासन की कृपा, मृत्यु-जनित शोक और कारुण्य, और प्रेम के प्रति अविचल सच्चाई के परिणामस्वरूप मृत्यु के पश्चात् पुनर्मिलन की स्थिर आशा से परिपूर्ण मान सकते हैं। कथा में अद्भुत घटनाओं का अंश भी भारतीय विचारधारा के लिए विशेष आकर्षण का विषय हैं, चन्द्रमा और पुण्डरीक के आश्चर्य में पूर्ण इतिवृत्ति में भी उस विचारधारा के लिए कोई बात नहीं है जो आकर्षण न हो। पुण्डरीक का शुक के रूप में आ जाना भी कोई उपहास की बात नहीं है, जबकि यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य अवश्य ही एक योनि से दूसरी योनि में जाते हैं।'' इस प्रकार हम बाण द्वारा व्यक्त पुनर्जन्म की मान्यता का विरोध करना उचित नहीं समझते, क्योंकि उन्होंने इसके साथ ही जन्म-जन्मान्तर संगत प्रेम भावना ही प्रतिपादित की है।

सम्भवतः यही कारण है कि इस शृङ्गार रस प्रधान कथा के सम्बन्ध में विचारक यही मत व्यक्त करते हैं—''कादम्बरी जन्म-जन्मातर के संचित संस्कारी का, जननान्तर सौहृदय का सजीव चित्रण है, विस्मृत अतीत तथा जीवित वर्तमान को स्मृति के सुकुमार तारों से संयुक्त करने वाली काव्यशृङ्खला है, मानव हृदय की मूक प्रणय वेदना की मर्मभरी कथा है। बाण ने जिस प्रेम का चित्रण किया है, वह सर्वथा उदात्त एवं परिष्कृत है। उनके द्वारा चित्रित प्रेम का उद्दाम वेग कुल और समाज की मर्यादा

का उल्लंघन नहीं करता। 'दशकुमार चरित' की भाँति कादम्बरी के श्रृङ्गार-रस-चित्रण में कहीं अश्लीलता की गन्ध नहीं पाई जाती। सच तो यह है कि महाश्वेता के प्रेम में पागल पुण्डरीक की कपिंजल द्वारा भर्त्सना कराकर कवि ने यह शिक्षा दी है कि असंयत प्रेम मानसिक और शारीरिक दुरव्यवस्था का कारण होता है। सच्चा प्रणय सत्य की भाँति चिरन्तन है। काल की कराल छाया उसे आक्रान्त नहीं कर सकती, समय का प्रवाह उसे विस्मृति के गर्त में लीन नहीं कर सकता। तपस्या की कठोरता अथवा राजसी जीवन की विलासिता उसके उद्दाम वेग को दबा नहीं सकती। प्रणय की ज्योति आशा और अटल विश्वास से नूतन जीवन धारण करती है तथा आदर्श स्नेह के सहारे मृत्यु के अन्धकार में भी अभिनव आलोक छिटकाती है।"

सामान्यतः कादम्बरी की कथा कल्पनाप्रसूत ही कही जाती है और इस प्रकार उसे मौलिक कहा जा सकता है पर समीक्षकों का यह भी अनुमान है कि बाण को अपनी कथा की कल्पना गुणाढ्य की बृहत्कथा से मिली होगी। यों 'बृहत्कथा' अब उपलब्ध नहीं है पर उसके जो संस्कृत रूपान्तर मिलते हैं उनमें आई राजा सुमनस की कथा और कादम्बरी की कथा में कुछ साम्य अवश्य है। पर बाण ने उसे ज्यों-का-त्यों ग्रहण नहीं किया, बल्कि अपनी प्रतिभाशक्ति के बल पर उसे एक सर्वथा नवीन एवं मौलिक रूप प्रदान किया है। साथ ही कथा के अन्दर दूसरी कथा की योजना बृहत्कथा, पंचतंत्र कथासरित्सागर में भी है तथा दण्डी की दशकुमार चरित और अनेक लोक-कथाओं में भी उत्तम पुरुष वाली शैली व्यवहृत हुई है अर्थात् प्रधान पात्र या कोई विशेष पात्र अपने द्वारा अनुभूत घटनाओं का उत्तमपुरुष की शैली में वर्णन करता है। कादम्बरी में भी शुक और महाश्वेता की कहानियाँ उत्तम-पुरुष की प्रणाली में कही गई हैं तथा जाबालि की कहानी में अन्यपुरुष की शैली प्रयुक्त होते हुए भी वैयक्तिक अनुभव की सरलता विद्यमान है। साथ ही अन्य कई लेखकों की भाँति बाणभट्ट की कादम्बरी कथा में लोककथा की कई रूढ़ियों का प्रयोग पाया जाता है, जैसे—मनुष्य की तरह बोलता हुआ सर्वशास्त्र विशारद शुक, त्रिकालदर्शी महात्मा जाबालि, मृत्युलोक से दूर हिमालय के स्वर्गीय वातावरण में रहने वाले किन्नर, गन्धर्व और अप्सराएँ, शाप के कारण आकृति परिवर्तन और पुनर्जन्म की धारणा। इसी प्रकार "बाण के पात्र मर्त्यलोक में चलते-फिरते दण्डी के यथार्थवादी पात्र नहीं हैं, बल्कि चन्द्रलोक गन्धर्वलोक तथा मर्त्यलोक में निर्बाध गति से संचार करने वाले आदर्श पात्र हैं। कादम्बरी की कथा भी शाकुन्तल की भाँति 'पृथ्वी तथा स्वर्ग' का सम्मिश्रण कही जा सकती है। बाण की कथा तथा पात्रों के चित्रण की अपेक्षा अधिक दिलचस्पी कथा कहने के ढंग में है, पर इसका यह अर्थ नहीं कि बाण के चरित्र सर्वथा जीवन शून्य हैं। कादम्बरी के चरित्र भले ही आदर्शवादी बाण के हाथ की कठपुतली जरूर हैं, पर बाण ने उनका संचालन इतनी कुशलता से किया है कि उनमें चेतनता संक्रान्त हो गई है। शुकनास का बुद्धिमान तथा स्वामिभक्त, चरित्र, वैशम्पायन की सच्ची मित्रता और महाश्वेता के आदर्श प्रणयी चरित्र की रेखाओं को बाण की तूलिका ने स्पष्टतः अंकित किया है। पर बाण का मन तो नायक-नायिका की प्रणय दशाओं, प्रकृति के विविध चित्रों और काव्यमय वातावरण की सृष्टि में विशेष रमता है।" इसीलिए कादम्बरी में वर्णन वैविध्यता-सी दीख पड़ती है और समीक्षक उसे चित्रशाला ही मानते हैं, जिनमें नगर, उद्यान, राजपथ, अन्तःपुर, हाट-बाजार, कला-कौशल, धर्म और

विश्वास बाण की सौन्दर्य-पारखी तूलिका से मूर्तिमान होकर प्रकट हुए हैं। उतना ही नहीं विचारक संस्कृत लेखकों में बालभट्ट जैसी चित्रण-कला अन्य किसी भी लेखक में नहीं मानते और उदाहरणस्वरूप हम यहाँ कादम्बरी से सायंकाल का वर्णन उद्धृत कर रहे हैं जिसे कि आलोचक बाण के बेजोड़ प्रकृति वर्णनों में से एक समझते हैं—

क्वापि विहृत्य दिवसावसाने लोहिततारका तपोवनधेनुरिव कपिला परिवर्तमाना सन्ध्या मुदितैस्तपोधनैरदृश्यत। अचिरप्रोषिते च सवितरि शोकविधुरा कमलमुकुल-कमण्डलुधारिणी हंससितदुकूलपरिधाना मृणालधवलयज्ञोपवीतिनी मधुकरमण्डलाक्षवलयमुद्वहन्ती कमलिनी दिनपतिसमागमव्रतमिवाचरत्। अपरसागराम्भसि पतिते दिवसकरे तत्पतन वेगोत्थितमम्भः शीकरनिकरमिव तारागणमम्बरमधारयत्। अचिराच्च सिद्धकन्यकाविक्षिप्तसन्ध्यार्च्चनकुसुमशबलमिव तारकितं वियदराजत। क्षणेन चोन्मुखेन मुनिजनेनोर्ध्वविप्रकीर्णैः प्रणामाञ्जलिसलिलैः प्रक्षाल्यमान इवागलदखिलः सन्ध्यारागः।

कादम्बरी में केवल प्रणय कथा ही अंकित नहीं है बल्कि तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का परिज्ञान कराने में भी वह सक्षम रही है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसमें बाण के बहुमुखी जीवन के विविध अनुभव साकार हो उठते हैं। वस्तुतः कादम्बरी में "स्त्रियों द्वारा सन्तान प्राप्ति के लिए जादू-टोना का प्रयोग, राज्याभिषेक की परिपाटी, शैव, शाक्त और क्षपणक आदि के सम्प्रदाय, सद्योजात शिशु के उपचार, स्त्री-पुरुषों की वेश-भूषा व आभूषण, विलास, आमोद-प्रमोद की सामग्री, वर्ण-व्यवस्था, सती-प्रथा आदि सामाजिक जीवन के विविध अंगों पर भी स्थल-स्थल पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।"

कादम्बरी का कलापक्ष भी सराहनीय है और विचारक बाणभट्ट को संस्कृत भाषा का सम्राट् तथा उनकी शैली को गद्य कवियों के लिए आदर्शभूत मानते हैं। स्वयम् बाण ने गद्य शैली का आदर्श सूचित करते हुए हर्षचरित के आरम्भ में कहा है—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्याश्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुष्करम्॥

अर्थात् मौलिक कल्पना, सुरुचिपूर्ण स्वभावोक्ति, अक्लिष्ट श्लेष, स्फुट रूप में प्रतीयमान रस और दृढ़बन्ध पदावली आदि इन समस्त गुणों का एकत्र सन्निवेश दुर्लभ है। इस प्रकार बाण दूसरे के मन के भावों का यथातथ्य चित्रण और अभिनव अर्थ की कल्पना को उत्कृष्ट गद्य-शैली का प्रधान लक्षण मानते हैं तथा यह दोनों विशेषताएँ उनकी रचनाओं में विद्यमान भी हैं और कादम्बरी का प्रथम वाक्य ही उनकी उत्कृष्ट गद्य-शैली का परिचय देता है—

एकदा तु नातिदूरोदिते नवनलिनन्दनलसम्पुटभिदि किंचिदुन्मुक्तपाटलिम्नि भगवति सहस्रमरीचिमालिनी राजानमास्थानमण्डपगतमंगनाजन विरुद्धेन वाम पार्श्वावलम्बिना कौक्षेयकेण सन्निहित विषधरेव चन्दनलता भीषणरमणीयता कृतिः, अविरल चन्दनानुलेपन धवलितस्तनतटोन्मज्जदैरावतकुम्भ-मण्डलेव मन्दाकिनी, चूडामणि प्रतिबिम्बच्छलेन राजाज्ञेव मूर्तिमति राजभिः शिरोभिरुह्यमाना, शरदिव कलहंसधवलाम्बारा, जामदग्न्यपरशुधारेव वशीकृतसकलराजमण्डला, विन्ध्यवनभूमिरिव वेत्रलतावती, राज्याधिदेवतेव विग्रहिणी प्रतीहारि समुपसृत्य क्षितितलनिहित-जानुकरकमहा सविनयमब्रवीत्।

सामान्यतः बाण की गद्य-शैली 'पाञ्चाली' कही जाती है जिसमें अर्थ के अनुरूप ही शब्दों का गुम्फन होता है और इसलिए उनकी शैली में शब्द व अर्थ तथा भाषा व भाव का रुचिर सामंजस्य दीख पड़ता है तथा सर्वत्र विषयानुरूप शब्दावली ही व्यहृत हुई है। यदि वह एक ओर वसन्त का वर्णन करते समय तदनुरूप सुकुमार वर्णों का विन्यास करते हुए कहते हैं—"अशोकतरुताडनारणितरमणीमणिनूपुरझङ्कारसहस्रमुखरेषु सकल-जीवलोकहृदयानन्ददायकेषु मधुमासदिवसेषु" तो दूसरी ओर विकट विन्ध्याटवी के वर्णन में वह विकट शब्दों व समासों का व्यवहार भी करते हैं—"क्वचित्प्रलयवेलेव महावराहदंष्ट्रासमुत्खातधरणिमण्डला, क्वचिदुन्मत्तमृगपतिनादभीतेव कण्टकिता।" कादम्बरी में अलंकारों की घटा भी दर्शनीय है और अलंकारों का समुचित प्रयोग अपूर्व रमणीयता का संचार करता है तथा उनके लम्बे समास यदि गिरि नदी के उद्दाम प्रवाह की भाँति हैं, तो उनकी श्लिष्ट उपमाएँ इन्द्रधनुष की छाया की भाँति उसे रंगीन बना देती हैं। तपस्विनी महाश्वेता के गौर वर्ण का आभास कराने के लिए एक-से-एक बढ़कर उपमाओं की लड़ी-सी लगा दी गई है—"शुक्लपक्षपरम्परामिव पुंजीकृतां, शंखादिवोत्कीर्णा, मृणालैरिव विरचितावयवा, दन्ततलैरिव घटिता, इन्दुकरकूर्चकैरिव प्रक्षालितां अमृतफेनपिण्डैरिव पाण्डुरीकृताम्"। साथ ही बाण की अनुप्रास भाषा में विलक्षण स्वरमाधुर्य का संचार करते हैं—इभकलभकोल्ललनपल्लववेल्लितलवलीवलयैः, 'मधुकरकुलकलङ्ककालीकृतकालेयककुसुमकुङ्मलेषु।' इसी प्रकार उनके श्लेष-प्रयोग जूही की माला में पिरोये गये चंपक पुष्पों की भाँति हैं—निरन्तरश्लेषघनाः सुजातयो महास्रजश्चम्पक कुड्मलैरिव।' इनके अतिरिक्त उपमा, उत्प्रेक्षा और विरोधाभास आदि अलंकारों का अत्यन्त सुन्दर प्रयोग किया गया है पर 'परिसंख्या' अलंकार के तो बाण सम्राट् माने जाते हैं।

इस प्रकार अन्त में हम यहाँ निष्कर्ष स्वरूप कह सकते हैं कि "संस्कृत गद्य में कितनी ओजस्विता आ सकती है, कितना मंजुल प्रवाह हो सकता है, कितनी भावाभिव्यंजना हो सकती है इसकी पूर्ण परिचायक बाणभट्ट की कादम्बरी है।" यही कारण है कि बाण की सर्वव्यापिनी प्रतिभा को लक्ष्य में रखकर 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' कहा जाता है और गोवर्धनाचार्य का तो यही कहना है कि वाणी (सरस्वती) ने ही बाण का अवतार लिया है—

जाता शिखण्डिनी प्राक् यथा शिखण्डी तथाऽवगच्छामि।
प्रागल्भ्यमधिकमाप्तु वाणी बाणो बभूवेति॥

प्रश्न (३८) शिवराजविजय नामक कृति का संक्षिप्त परिचय देते हुए उसकी लेखन शैली की समीक्षा कीजिए।

उत्तर—'शिवराज विजय' उन्नीसवीं शताब्दी का एक उल्लेखनीय गद्य काव्य है और इसके रचयिता श्री अम्बिकादत्त व्यास (1858-1900 ई०) काशी के प्रसिद्ध विद्वानों में से थे और वहीं उनका पूर्वज जयपुर राज्य के निवासी थे पर उनके पितामह काशी में आकर बस गये थे उनके अध्ययन सम्पन्न हुआ। व्यास जी ने बिहार के राजकीय संस्कृत महाविद्यालय में काफी समय तक अध्यापन कार्य करने के साथ-साथ हिन्दी और संस्कृत की लगभग 75 पुस्तकें लिखी हैं तथा बिहार में संस्कृत संजीवनी समाज' की स्थापना कर संस्कृत शिक्षा-प्रणाली का सुधार भी किया।

'शिवराज विजय' में छत्रपति शिवाजी का जीवन चरित्र अंकित किया गया है। भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम के अरुणोदय में लिखित यह कृति राष्ट्रीय जनजागरण में भी सहायक सिद्ध हुई और व्यासजी ने यथावसर कल्पना का प्रचुर प्रयोग करते हुए भी ऐतिहासिकता को अक्षुण्ण रखा है। ऐतिहासिक घटनाओं को कल्पना के रंग से अनुरंजित करते हुए भी लेखक ने इस बात का पूर्ण ध्यान रखा है कि हृदय ग्राहिता के साथ-साथ ऐतिहासिकता का भी सहज सामंजस्य बना रहे। यों तो विषय-वस्तु की दृष्टि से 'शिवराज विजय' में शिवाजी और औरंगजेब की प्रसिद्ध घटनाएँ ही दी गयी हैं तथा तत्कालीन प्रसिद्ध ऐतिहासिक व्यक्तियों में से यशवन्तसिंह, अफजलखान आदि भी अंकित हुए हैं पर लेखक ने प्रत्येक पात्र के चरित्र निरूपण में कुशलता दिखाई है। शिवराज विजय के नायक शिवाजी भारतीय आदर्शों, संस्कृति, सभ्यता व मातृ शक्ति के रक्षक के रूप में अंकित हुए हैं और उनका ऐतिहासिक व्यक्तित्व इस कृति में पूर्णतया सुरक्षित है; उदाहरणार्थ—

"महाराष्ट्रदेशरत्नम्, यवन-शोणित-पिपासाऽऽकुलकृपाणः, वीरता-सोमन्तिनी-सीमन्त-सुन्दर-सान्द्र-सिन्दूर-दान-देदीप्यमान-दोर्दण्डः, मुकुट-मणि-महाराष्ट्राणाम्, भूषणं भटानाम् निधिर्नीतिनाम्, कुलभवनं कौशलाराम् पारावारः परमोत्साहानाम............स्वधर्माऽऽग्रह-ग्रहिलः, शिव इव धृतावतार.........कार्यं वा साधयेयं देहं वा पातकेयम्।"

उक्त अवतरण से शिवाजी की समग्र चारित्रिक विशेषताएँ स्पष्ट हो जाती हैं और हम देखते हैं कि लेखक शिवाजी को महाराष्ट्र देश का रत्न मानते हुए उनकी कृपाण को यवनरक्त की पिपासु कहता है। साथ ही उसने शिवाजी को महाराष्ट्र निवासियों के मुकुटमणि, योद्धाओं का भूषण, नीतियों के निधि, कौशलों के कुलभवन पर-मोत्साह के पारावार, स्वधर्माग्रही और शिव का साक्षात् अवतार कहा है तथा शिवाजी की यही एक प्रतिज्ञा है कि करो या मरो अर्थात् या तो कार्य की सिद्धि हो या कार्य के लिए बलिदान हो जाओ। चरितनायक के चरित्र की उत्कृष्टता स्पष्ट करते समय व्यास जी ने यह भी बतलाया है कि एक ओर तो औरंगजेब परनारी हरणकर्त्ता और मीना बाजार लगवाने वाला है तथा दूसरी ओर शिवाजी यवन-शासक की दुहिता को सुरक्षित उसके घर भिजवा देते हैं। इसी प्रकार 'शिवराज विजय' के अन्य पात्रों का भी वास्तविक चित्रण किया गया है और मानव प्रकृति व बाह्य प्रवृत्ति का सुन्दर समन्वय भी उसमें दीख पड़ता है तथा पात्रों के स्वभाव एवं मनोभावों के चित्रण में भी लेखक को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

'शिवराज विजय' का प्रधान रस वीर है पर हास्य, शांत, वीभत्स भी सहायक रूप में अंकित हुए हैं। लेकिन प्रधानता वीर रस की रही है और यदि हम यह कहें कि वीर रस के इतने सुन्दर चित्र संस्कृत-गद्य-साहित्य में बहुत कम मिलते हैं तो कोई अत्युक्ति न होगी। उदाहरणार्थ अफजलखाँ के वध का यह प्रसंग देखिए—

'तत्क्षणादेव च शिववीर-ध्वजिन्यां महाध्वज एकः समुच्छ्रितः तत्समकालमेव यवनशिविरस्य पृष्ठस्थिता शिववीर-सेना-शिबिरमग्निसात्कृतवती, पुरःस्थितसेनासु च अकस्मादेव महाराष्ट्र केसरिणः समपतन्। तेषां 'हरहर-महादेव' गर्जन-पुरस्सरं

छिन्धि-भिन्धिमारय-विपोथय-इति कोलाहल:, प्रत्यर्थिनः च 'खुदातोब-अल्लादि पारस्य-पदमयः कलकलो रोदसी समपूरयत् ।"

इसी प्रकार वीभत्स रस का यह अवतरण दर्शनीय है—

"अथ मुनिरपि दाडिम-कुसुमास्तरणाच्छन्नायामिव गाढ-रुधिर-दिग्धायां ज्वलङ्गार-चितायां चितायामिव वसुधायां शयानं, वियुज्यमान-भारतभुवमालिङ्गन्तमिव निर्जीवीभवदङ्गबंध-चालन परं शोणित-सङ्घात-व्याजेनांतः स्थित-रजोराशिमिवोद्-गिरन्तं फलित-सायन्तन-घनाऽऽडम्बर-विभ्रमं सतत-ताम्र-चूड-भक्षण-पातकेनेव ताम्रीकृतं छिन्न-कन्धरं……।"

'शिवराज विजय' की वर्णन-शैली भी प्रशंसनीय है और व्यास जी ने इस वर्णन-प्रधान कृति में घटनाओं की गतिशीलता पर भी पूर्ण ध्यान रखा है तथा विचारकों ने तो उन्हें 'अभिनव बाण' की उपाधि से विभूषित करते हुए यहाँ तक कहा है "बाण की भाँति एक ही बात अथवा वर्ण्य विषय को लेकर पेज नहीं रंगे गये हैं। शैली में प्रासादिकता और प्रवाह के साथ प्रौढ़ता भी है। शिवराज विजय के लेखक की लेखनी में दंडी और बाण की शैली की सफल अनुकृति देखी जा सकती है। उनकी समग्र विशेषताएँ शिवराज विजय काव्य में परिलक्षित होती हैं। ईसा की सप्तम अष्टम शताब्दी को संस्कृत साहित्य का स्वर्णयुग कहा गया है जिसमें दंडी, माघ, भवभूति और बाणभट्ट जैसी विभूतियाँ प्रादुर्भूत हुई हैं। इन सभी की कृतियाँ अपने-अपने क्षेत्र में प्रशंसा की पात्र रही हैं। इनकी अपनी-अपनी विशेषताएँ इतनी अधिक हैं कि कभी काल से कराल गाल में कवलित नहीं हो सकती हैं। जहाँ दंडी अपने पदलालित्य और आलोचक के लिए माघ सर्वाङ्गपूर्ण काव्य कर्तृत्व के लिए 'काव्येषु माघः' और भवभूति करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति के लिए 'कारुण्यं भवभूतरेवतिनुते' के रूप में चिरस्मरणीय हैं, वहाँ बाणभट्ट अपनी अनुपम कला, शैली के लिए अमर हैं। उन सभी का समन्वित प्रभाव यदि हम किसी परवर्ती कवि में देख सकते हैं तो वह 'अभिनव बाण' अम्बिकादत्त व्यास ही हैं।" इस प्रकार व्यास जी ने शिवराज विजय में विभिन्न विषयों का कलापूर्ण वर्णन भी किया है और प्रकृति सौन्दर्य के भी अनेक हृदयग्राही चित्र अंकित हुए हैं तथा पुस्तक का प्रारम्भ ही अरुणोदय में होता है और यह प्रभात का वर्णन अपने में पूर्ण एवं सार्थक है; देखिए—

एष भगवान् मणिराकाशमण्डलस्य, चक्रवर्ती खेचर-चक्रस्य, कुण्डलमाखण्डलदिशः, दीपको ब्रह्माण्डभाण्डस्य, प्रेयान्पुण्डरीकपटलस्य, शोक-विमोकः कोकलोकस्य अवलम्बो रोलम्बकदम्बस्य, सूत्रधारः सर्वव्यवहारस्य, इनश्च दिनस्य। अयमेव अहोरात्रं जनयति, अयमेव वत्सरं द्वादशसु भागेषु विभनक्तिः, अयमेव कारणं षण्णामृतूनाम्, एषवाङ्गीकरोति उत्तरं दक्षिणंचायनम्…।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर पर्वतखण्ड, सरोवर, झरने आदि के साथ वृक्ष पर स्थित पक्षी आदि का सुन्दर व संश्लिष्ट चित्रण भी किया गया है जो कि कवि की सूक्ष्म वर्णनशक्ति का परिचायक है, देखिए—

कदलीदलकुञ्जायितस्य एतत्कुटीरस्य समन्तात् पुष्पवाटिका, पूर्वतः परम-पवित्र पानीयं परस्सहस्र पुण्डरीक-पटल-परिलसितं पतत्रि-कूल-कूजत-पूजितं पयः पूर पूरितं सरआसीत्। दक्षिणतश्चैको-निर्झर-झर्झर-ध्वनिध्वनित-दिगन्तरः फल-पटलाऽऽ स्वाद-

चपलित-चञ्चु-पतङ्ग-कुलाऽऽक्रमणाधिक-विनत-शाख-शाखि-समूह-व्याप्तः सुन्दरकन्दरः पर्वतखण्ड आसीत्।

'शिवराज विजय' के कलापक्ष पर विचार करते समय हमारा ध्यान सर्वप्रथम इस ओर जाता है कि इसे साहित्य की किस विधा के अन्तर्गत स्थान दिया जाय, क्योंकि कुछ विचारक इसे गद्य-काव्य मानते हैं, कुछ ऐतिहासिक काव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं और कुछ उपन्यास कहते हैं। चूंकि इसमें गद्यकाव्य की शैली अपनायी गयी है अतः इसे सहज ही गद्य-काव्य मान लिया जाता है। पर ऐसा लगता है कि स्वयं लेखक इसे उपन्यास का स्वरूप प्रदान करना चाहता था और वस्तु-विन्यास व पात्र-योजना में यह बहुत-कुछ उपन्यास के समान है। अतः इसे गद्य काव्यात्मक उपन्यास कहा जाय तो अनुचित न होगा। पं० चन्द्रशेखर पांडेय ने तो 'शिवराज विजय' को उपन्यास ही माना है और वह स्पष्टतया यह मत व्यक्त करते हैं कि "रोचकता की दृष्टि से शिवराज विजय आधुनिक उपन्यासों से किसी मात्रा में घटकर नहीं है।"

'शिवराज विजय' का भाषा सौंदर्य भी सराहनीय है और हम देखते हैं कि उसमें भावानुरूप भाषा ही प्रयुक्त हुई है तथा भाषा सर्वत्र भाव का अनुसरण ही करती है। अतः वह पाठकों के चित्त पर अपना प्रभाव डालने में समर्थ भी रही है। साथ ही उस कृति का प्रायः, प्रत्येक प्रसंग स्वाभाविक अलंकारों की छटा से विभूषित भी है और उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, परिसंख्या व अनुप्रास का स्वाभाविक प्रयोग हुआ है तथा कहीं भी उससे भाषा सौन्दर्य में क्षति नहीं पहुँची। इस प्रकार भाषा अलंकृत होते हुए भी स्वाभाविक है और वह माधुर्य, ओज व प्रसाद आदि तीनों गुणों व तीनों वृत्तियों से सुशोभित भी है। अनुप्रास अलंकार से युक्त निम्नलिखित पंक्तियाँ दर्शनीय हैं—

फलपटलाऽऽस्वाद-चपलित-चञ्चु-पतङ्ग कुलाऽऽक्रमणाधिक विनत-शाख-शाखि-समूह-व्याप्तः सुन्दरकन्दरः पर्वतखण्ड आसीत्।

इस प्रकार शिवराज विजय भाषा और भाव दोनों ही दृष्टियों से पूर्ण सफल कृति है।

●

अध्याय | ६

कथा-साहित्य

प्रश्न (३९) कथा और आख्यायिका का भेद प्रतिपादित करते हुए संस्कृत कथा-साहित्य के उद्‌भव एवं विकास की विस्तृत व्याख्या कीजिए।

प्रश्न (४०) संस्कृत के कहानी साहित्य के उद्‌भव और विकास पर एक निबन्ध लिखिए।

कथा और आख्यायिका में अन्तर

संस्कृत साहित्य के प्राचीन विद्वानों ने कथा और आख्यायिका की पृथकता स्पष्ट करने का प्रयास अपने ग्रन्थों में अवश्य किया है पर बाणभट्ट से पूर्व किसी ने भी उनका अन्तर स्पष्ट नहीं किया। यों तो भामह ने अपने 'काव्यालङ्कार' में उन दोनों का भेद स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आख्यायिका की कथावस्तु वास्तविक होती है जिसे कवि स्वयं वक्ता के रूप में प्रकट करता है और उसके विभागों का नाम उच्छ्वास होता है तथा आदि व अन्त में भावी घटनाओं के सूचक श्लोक होते हैं जो वक्त्र या अपरवक्त्र छंद में निबद्ध होते हैं। इसी प्रकार कथा की कथावस्तु कवि की निजी कल्पनाजन्य होती है जिसका वक्ता नायक से पृथक् कोई व्यक्ति होता है और उसमें न तो आख्यायिका की भाँति उच्छ्वास का विभाग रहता है और न वक्त्रादि वृत्तों की व्याख्या।

भामह के उक्त विचारों के आधार पर कथा और आख्यायिका में अन्तर स्थापित नहीं किया जा सकता तथा दोनों पार्थक्य की विभाजन रेखा कुछ इतनी धूमिल है कि दंडी ने 'काव्यादर्श' में इसका सर्वथा तिरस्कार किया है। दंडी का तो यही कहना है कि कथा और आख्यायिका में किसी मौलिक भेद व पार्थक्य की कल्पना असम्भव ही है तथा उनका स्पष्टतया मत है 'तत् कथाख्यायिकेत्येका जातिः संज्ञायद्वांकिता अर्थात् इन दोनों भेदों की एक गद्य रूपा जाति है और केवल नामकरण में ही विभिन्न संज्ञाएँ उपलब्ध होती हैं। इसी प्रकार रुद्रट् ने भी 'काव्यलंकार' में इन गद्य प्रकारों के प्रभेदों का वर्णन किया है पर उनका वर्णन विशेष महत्व का नहीं कहा जाता।

इस विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि किसी विशिष्ट लक्ष्यग्रन्थ के अभाव में उक्त विद्वानों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ही कथा और आख्यायिका के पार्थक्य व वैशिष्ट्य का प्रदर्शन किया है, पर उनके विचारों में पूर्णता व उपयुक्तता नहीं है। सच तो यह है कि सर्वप्रथम बाणभट्ट ने ही इन दोनों गद्य प्रकारों में न केवल विभिन्नता स्थापित की है अपितु दोनों का उदाहरण भी अपनी प्रतिभा-सम्पन्न लेखनी से प्रस्तुत किया है। उन्होंने अपने 'हर्षचरित' नामक ग्रन्थ को आख्यायिका कहा है और 'कादम्बरी' को वह 'अतिद्वयी कथा' के विशेषण से मंडित करते हैं। यद्यपि कुछ व्याख्याकार 'अतिद्वयी' का अर्थ अद्वितीय मानते हैं, पर वास्तव में बाणभट्ट का संकेत ऐतिहासिक दृष्टि से बृहत्कथा व सुबंधु की 'वासदत्ता' से ही है। इस प्रकार उनका विचार है कि आख्यायिका की कथावस्तु अवश्यमेव इतिहास में प्रसिद्ध और प्रख्यात होती है किन्तु कथा कवि के उर्वर मस्तिष्क की उपज होती है, जिसमें कल्पना का पूर्ण साम्राज्य अपने समस्त वैभव के साथ विद्यमान रहता है लेकिन उनमें शैलीगत किसी विभिन्नता की ओर बाणभट्ट ने भी संकेत नहीं किया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि कथा और आख्यायिका में मौलिक भेद स्वीकार करते हुए भी इस गद्य के दो ही रूप हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो संस्कृत की समस्त कथा कृतियों में किसी भी कथाकार ने आख्यायिका व कथा के इस विभेद का दृढ़तापूर्वक पालन नहीं किया है।

संस्कृत-कथा-साहित्य का उद्भव और विकास

यद्यपि पाश्चात्य साहित्य से प्रभावित हो कुछ आलोचक कथा-साहित्य की उत्पत्ति का श्रेय पाश्चात्य जगत् को प्रदान करते हैं और उनका यही मत है कि पाश्चात्य कथा साहित्य से प्रभावित होकर ही भारतीय कृतिकारों ने कथा लेखन की ओर ध्यान दिया

पर यह धारणा किसी भी प्रकार युक्तिसंगत नहीं मानी जा सकती। अब तो अधिकांश विचारक यह मानते हैं कि विश्व-साहित्य में संस्कृत का कथा-साहित्य ही सर्वाधिक प्राचीन है और भारतीय विचारक ही नहीं, पाश्चात्य विचारक भी हमारे कथा-साहित्य की प्राचीनता, मौलिकता व मनोरंजकता की मुक्तकंठ से प्रशंसा करते हैं। पाश्चात्य विद्वान् कीथ ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ (A History of Sanskrit Literature) में लिखा भी है—"बिना किसी शंका के हम यह मान सकते हैं कि भारत में वैदिक युग के भारतीयों के जीवन के प्रारम्भिकतम काल से ही अनेक प्रकार की कहानियाँ लोगों में प्रचलित थीं, भले ही उनके विकास की प्रारम्भिक अवस्थाओं में अद्‌भुत कथा (Fairy Tales), लोक कथा (Marchen), कल्पित कथा (Myths) अथवा पशु-कथा (Fables) के रूप में उनमें भेद स्थापित करना व्यर्थ है। साधारण-सी कहानी का एक निश्चित उद्देश्य के लिए उपयोग में लाया जाना, उपदेशात्मक कथा का जीवनोपयोगी ज्ञान समझने की एक निश्चित विधि बन जाना, कहानियों के इतिहास में एक स्पष्ट तथा महत्वपूर्ण कदम था। हमें इसका ज्ञान नहीं कि किस काल में यह परिवर्तन घटित हुआ। ऋग्वेद में हम पशु-पक्षियों की कथाएँ प्राप्त करने की आशा नहीं करते, परन्तु उसमें हमें कुछ ऐसी बातें मिलती हैं जिससे हम यह सोच सकते हैं कि भारतीय चिन्तन के लिए मनुष्य से पड़ोसी पशु-पक्षियों में मनुष्य की आदतों को स्थानान्तरित कर देना कितना सरल था। ऋग्वेद के एक प्रसिद्ध सूक्त का, जिसमें यज्ञ के अवसर पर मन्त्र गान करते हुए ब्राह्मणों की तुलना टर्रं टर्रं करने वाले मेढकों से की गई है, चाहे कुछ भी उद्देश्य रहा हो, किन्तु इससे स्पष्ट है कि मनुष्यों तथा अन्य प्राणियों के बीच एक प्रकार का सम्बन्ध स्वीकार कर लिया गया है। उपनिषदों में यह बात स्पष्ट रूप से प्रकट हो जाती है, वहाँ कुत्तों की एक रूपकात्मक अथवा व्यंग्य कथा आती है जो अपने भोजन के लिए चिल्लाने वाला एक नेता ढूँढ़ते हैं। हंसों की बातचीत दी हुई है जिनके वचनों से रैक्व का ध्यान आकर्षित होता है, एवं सत्यकाम को पहले एक वृषभ, फिर एक हंस, तदनन्तर एक जलचर पक्षी द्वारा उपदेश दिया जाना वर्णित है। यह ठीक है कि इन स्थलों में उपदेशात्मक कथा नहीं है जिसमें जानवरों के कर्म मनुष्यों को उपदेश देने के साधन बनाए जाते हैं तो भी हम यह समझ सकते हैं कि उपदेश देने के इस प्रकार को ग्रहण कर लेना कितना सरल था। महाभारत में वास्तव में हमें पशु-कथाएँ स्पष्टतया उपलब्ध होती हैं, और ये केवल उत्तरकालीन बारहवें (शांति) पर्व में ही नहीं, किन्तु अन्य पर्वों में भी वर्तमान हैं।"

इस प्रकार यहाँ संस्कृत कथा-साहित्य की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है और हम देखते हैं कि वह वैदिक काल से लेकर महाभारत युग तक बहुत कुछ अंशों में समुन्नत अवस्था में पहुँचने में सफल भी रहा था। सच तो यह है कि ऋग्वेद के कई आख्यान ही ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों व रामायण, महाभारत आदि ग्रंथों में विकसित हुए हैं। रामायण व महाभारत की रचना के उपरांत तो संस्कृत साहित्य के अंतर्गत लोक प्रचलित घटनाओं के सहारे कहानी लेखन की प्रवृत्ति का सूत्रपात भी हुआ। इसके पश्चात् बौद्ध काव्य में तो संस्कृत-कथा-साहित्य और भी अधिक समृद्ध हो गया तथा उसके उपरान्त भी कई ऐसी कहानियाँ लिखी गयीं जो इतिहास व पुराण की अपेक्षा लौकिक जीवन की घटनाओं को लेकर रची गयी थीं और जिनमें नीति, धर्म-शिक्षा व मनोरंजन की प्रधानता थी। इस प्रकार संस्कृत-कथा-साहित्य को हम मूलतः दो भागों में विभाजित

कर सकते हैं—(१) नीतिकथा (Didactic Fable) और (२) लोक-कथा (Popular Tale)। नीति-कथा को राजनीतिक, धार्मिक व व्यावहारिक और लोक कथा को शिक्षात्मक व मनोरंजनात्मक नामक उपभेदों में विभाजित किया जाता है, पर उक्त दो विभाग ही मानना अधिक उचित जान पड़ता है। हम यहाँ उक्त दोनों विभागों का पृथक्-पृथक् विवेचन कर यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि संस्कृत कथा-साहित्य का क्रमिक विकास किस प्रकार हुआ।

नीति कथा

नीति कथा को उपदेशात्मक या उपदेश-प्रधान कथा भी कहा जाता है क्योंकि उनका प्रधान उद्देश्य उपदेश रहता है और वह प्रायः पशु-पक्षी से सम्बन्ध रखती है तथा उन्हें पशु कथा या जन्तु कथा (Fable) भी कहा जाता है। इस प्रकार पशु-पक्षियों के उदाहरण द्वारा व्यावहारिक उपदेश प्रदान करना ही नीति कथा का मूल लक्ष्य रहा है और वह त्रिवर्ग अर्थात् धर्म, अर्थ, काम की बातों का उपदेश भी देती है पर उनका उपदेश मोक्ष या अध्यात्म विद्या से सम्बन्ध नहीं रखता। इसीलिए नीति-कथाओं का प्रतिपाद्य विषय सदाचार, राजनीति व व्यावहारिक ज्ञान है और दैनिक जीवन में सफलता व उन्नति प्राप्त करने के लिए जिन बातों का प्रतिक्षण ध्यान रखना आवश्यक होता है, अन्यथा मनुष्य प्रपंचियों के जाल में फँस सकता है। उन्हीं का उपदेश इन कथाओं में दिया गया है। इनमें पशु-पक्षी मनुष्यों की भाँति बोलते और व्यवहार करते हैं। अतः इन कहानियों के रूप में न केवल सुकुमार मति बालकों का मनोरंजन होता है अपितु वह अपूर्व शिक्षा भी प्राप्त करते हैं।

प्रायः नीति कथाएँ गद्य में ही लिखी गयी हैं और उनकी भाषा सरल व रोचक है पर उनसे मिलने वाली शिक्षा या नैतिक उपदेश का संकलन पद्य में किया जाता है। इसी प्रकार कहानी के बीच-बीच में भी कभी-कभी पद्यों का समावेश दीख पड़ता है और उनमें चुभते हुए मुहावरे, अनूठी लोकोक्तियाँ व रोचक दृष्टांत भी अधिकाधिक संख्या में हैं। साथ ही नीति-कथाओं में एक प्रधान कथा अंतर्गत कई गौण कथाओं का भी समावेश हो जाता है तथा मुख्य कथा के पात्र अपनी बात के समर्थन में बीच-बीच में अनेक उपकथाएँ भी कहते हैं लेकिन उनके कारण रोचकता नष्ट नहीं होती।

यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो पशु-पक्षियों के उदाहरण द्वारा बालकों को व्यावहारिक उपदेश देने की प्रथा वैदिक काल से ही चली आ रही है और 'ऋग्वेद' में मनुष्य व मछली की एक कथा विद्यमान भी है तथा 'छान्दोग्य उपनिषद्' में भी दृष्टांत के रूप में उद्गीथ श्वान की कथा दी गई है। रामायण-महाभारत और पुराणों में तो अनेक नीति कथाएँ वर्णित हैं तथा तृतीय शताब्दी ई० पू० भरहुत (Bharhut) स्तूप पर कई नीति कथाओं के नाम भी अंकित हैं। इसी प्रकार पतंजलि (१५० ई०) ने अपने 'महाभाष्य' में 'अजाकृपाणीय' और 'काकतालीय' जैसी लोकोक्तियों का प्रयोग तथा साँप व नेवले और कौए व उल्लू की जन्मजात शत्रुता का भी उल्लेख किया है तथा जैनों व बौद्धों द्वारा भी अनेक नीति-कथाएँ रची गयीं। बौद्ध तो पिछले जन्मों में बुद्ध और उनके समकालीन पुरुषों की महत्ता व उनके कार्यों का उदाहरण देने के लिए पशुओं की कथाओं का आधार लिया करते थे तथा बौद्धों का जातक नामक कथा संग्रह ३८० ई० पू० के लगभग विद्यमान भी था। इसी प्रकार ६६८ ई० के एक चीनी

विश्वकोश में भी कई भारतीय कथाओं का अनुवाद दिया गया है। उक्त विश्वकोश में यह भी निर्दिष्ट है कि ये कथाएँ २०० बौद्ध ग्रन्थों से ली गई हैं ; इस प्रकार इन सभी प्रमाणों के आधार पर स्पष्ट हो जाता है कि ईसा पू० भारत में नीति कथाओं का पर्याप्त प्रचार था और 'पंचतन्त्र' में तो वह अपने पूर्ण समृद्ध रूप में दीख पड़ती है अतः यहाँ पंचतन्त्र का कुछ विस्तृत विवेचन आवश्यक हो जाता है।

पञ्चतन्त्र—प्रायः सभी विचारकों का यह मत है कि 'पंचतन्त्र' विश्व साहित्य को भारतीय साहित्य की महनीय देन है और इसमें नीति की अत्यन्त मनोहर शिक्षाप्रद कहानियाँ संगृहीत हैं, पर यह कहना कठिन है कि इसकी रचना कब हुई, क्योंकि मूल रूप में 'पंचतन्त्र' उपलब्ध नहीं होता। सच तो यह है कि 'पंचतन्त्र' के २०० से अधिक संस्करण निकल चुके हैं और वे पचास से अधिक भाषाओं में हैं; जिनमें से तीन-चौथाई के लगभग भाषाएँ भारत से बाहर की हैं। इस प्रकार यूनानी, स्पेनिश, लेटिन, जर्मन पुरानी स्लैवोनिक, जैक और अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनूदित होकर पर्याप्त प्रचार पा चुका है तथा आज भी जावा से लेकर आइसलैण्ड तक उसका पठन-पाठन हो रहा है। पंचतन्त्र के रचयिता विष्णुशर्मा कहे जाते हैं और हर्टेल का विचार है कि वह ईसा पूर्व दूसरी शताब्दी में कश्मीर में रचा गया था, लेकिन वर्णनों के आधार पर वह दक्षिण में रचा गया जान पड़ता है। इसी प्रकार 'दीगर' शब्द का प्रयोग देखकर कीथ ने उसकी रचना ईसा के बाद की मानी है और पं० चन्द्रशेखर पाण्डेय का भी यही कहना है कि "ऐतिहासिक प्रमाणों से पता चलता है कि ईसा कि द्वितीय शताब्दी के आस-पास राज-सभाओं में संस्कृत की प्रधानता मिलने लगी थी। राजकार्य में संस्कृतभाषी ब्राह्मणों का प्रधान स्थान हो गया था। अतः ऐसे ग्रन्थों की आवश्यकता पड़ी जो संस्कृत का बोध कराने के साथ-साथ राजनीति की भी शिक्षा दे सकें। उसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर 'पंचतन्त्र' की रचना हुई थी। गुप्त-वंश का शासन-काल ब्राह्मणों और संस्कृत साहित्य के अभ्युदय के समय था। अतः पंचतन्त्र का रचनाकाल ३०० ई० के लगभग माना जा सकता है।"

चूंकि 'पंचतन्त्र' की मूल प्रति अभी तक प्राप्त नहीं हो सकी है अतः उसके मूल उद्देश्य और प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता तथा 'तन्त्र' शब्द से यह भी नहीं स्पष्ट हो पाता कि इसका अर्थ केवल पुस्तक है, या यह शब्द आचरण का प्रचार या उपदेशात्मक या प्रामाणिक ग्रन्थ को लक्षित करता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि डॉ० हर्टेल ने तो **तन्त्राख्यायिका तेजाख्यान** को ही पंचतन्त्र का सर्व प्राचीन नाम माना है। पर यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि "क्या तन्त्राख्यायिका पाँच तन्त्रों में विभक्त कहानियों के रूप में एक नीतिशास्त्र को बतलाया है, अथवा आख्यायिका के रूप में राजनीति के लिए एक प्रमाणिक पाठ्यपुस्तक को प्रकट करता है, या शिक्षाप्रद अथवा उपदेशात्मक कहानियों द्वारा रची गई एक पाठ्य-पुस्तक को सूचित करता है ?" कीथ ने तो स्पष्टतया पंचतन्त्र का तात्पर्य मूल में पाँच प्रतिपाद्य विषयों से ही माना है और उनका विचार है कि "पुस्तक के नाम के रूप में इसका तात्पर्य पाँच विषयों के सम्बन्ध में कहने वाली पुस्तक से था।" इसी प्रकार पंचतन्त्र की रचना का कारण बतलाते हुए कहा जाता है कि महिलासेदय के राजा अमर शक्ति एक ऐसे योग्य शिक्षक की खोज में थे जो उनके तीन मूर्ख पुत्रों को अल-

काल में ही योग्य बना दे और विष्णुशर्मा ने उसी उद्देश्य से पंचतन्त्र की रचना कर छः महीने में ही उन राजकुमारों को नीतिशास्त्र में पारंगत बना दिया। अतः पंचतन्त्र की रचना का मूल उद्देश्य राजकुमारों को नीतिशास्त्र में निपुण बनाना था। इस प्रकार 'पंचतन्त्र' राजनीति या नीतिशास्त्र और दैनिक जीवन के व्यावहारिक आचरण में राजाओं की शिक्षा के लिए एक पाठ्यपुस्तक है पर साथ ही वह एक कहानी की पुस्तक है तथा उसका रचयिता कहानियों को केवल शिक्षा कार्य तक ही सीमित नहीं रखना चाहता था।

यद्यपि मेकडॉनेल (Macdonel) ने अपने Sanskrit Literature में यह संकेत किया है कि 'पंचतन्त्र' में आरम्भ में बारह भाग रहे होंगे पर वर्तमान 'पंचतन्त्र' में मित्र भेद, मित्र लाभ, संधिविग्रह, लब्ध-प्रणांश और अपरीक्षाकारित्व या अपरीक्षितकारम् नामक पाँच भाग ही दीख पड़ते हैं तथा प्रत्येक में मूल कथा के अन्तर्गत कई गौण कथाएँ भी हैं। इस प्रकार 'पंचतन्त्र की कथाओं में पशुपक्षी, सदाचार, नीति व लोक-व्यवहार के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं और धर्मग्रन्थों के सूक्ष्म विषयों पर भी विचार-विनिमय करते हैं तथा उनकी बातचीत में ही ब्राह्मणों के लोभ व पाखंड, चाटुकारों की कपट वृत्ति और त्रिया चरित्र आदि मानवीय दोषों का व्यंग्यपूर्ण उद्घाटन भी किया गया है। साथ ही 'पंचतन्त्र' की शैली सरल व मुहावरेदार है और विषयानुरूप भाषा ही प्रयुक्त हुई है तथा सर्वत्र विनोदप्रियता के समान रूप से दर्शन होते हैं। उदाहरणार्थ बाघ की खाल ओढ़े गधे का चाँदनी रात में गाना गाने के लिए उतावला होना और अपने मित्र शृगाल की शंकाओं का समाधान करने के लिए संगीतशास्त्र की महत्ता पर वक्तृता देना पर अंत में पुरस्कारस्वरूप पीठ पूजा पाना अत्यधिक विनोदपूर्ण है। प्रायः पंचतन्त्र की कथाएँ गद्य में ही लिखी गयी हैं पर उपदेशात्मक सूक्तियाँ पद्य में हैं और इन पद्यों को महाभारत व जातक संग्रह आदि ग्रन्थों से संग्रहीत किया गया है तथा इन पद्यों के चयन और इन्हें कथानक में यथास्थान निपुणतापूर्वक व्यवस्थित करने में पंचतन्त्र का रचयिता पूर्ण सफल रहा है। इस प्रकार पंचतन्त्र की रचना को कीथ ने एक कलाकार की कृति मानकर उचित ही किया है।

हितोपदेश—यद्यपि पंचतन्त्र की अनुकृति पर अनेक ग्रन्थ निकले हैं किन्तु उनमें से 'हितोपदेश' विशेष रूप से उल्लेखनीय है और बंगाल में उसका अत्यधिक प्रचार रहा है। 'हितोपदेश' का रचयिता स्वयं का नाम नारायण बतलाता है और उसके आश्रयदाता धवलचन्द्र थे तथा 'हितोपदेश' की एक हस्तलिखित प्रति १३७३ ई० की भी मिली है अतः इससे इतना तो स्पष्ट हो ही जाता है कि उसका रचना काल चौदहवीं शताब्दी के पूर्व होगा। कीथ ने हितोपदेश का रचनाकाल ६०० ई० पश्चात् माना है और वह माघ (८०० ई०) के बाद ही नारायण का होना स्वीकार करते हैं। साथ ही 'हितोपदेश' की प्रस्तावना में लिखे गये इस वाक्य 'पंचतन्त्रथाऽन्यस्माद् ग्रन्थादाकृष्य लिख्यते' से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसकी रचना बहुत कुछ पंचतन्त्र के ही आधार पर हुई और उसकी ४३ कथाओं में से २५ तो 'पंचतन्त्र' से ही ली गयी है तथा 'हितोपदेश' के मित्रलाभ, सुहृद् भेद, विग्रह व संधि नामक चार परिच्छेदों में से प्रथम दो परिच्छेद प्रायः 'पंचतन्त्र' से ही लिये गये हैं। इतना अवश्य है कि 'हितोपदेश' में 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा पद्यों की संख्या अधिक है जिनमें से कई तो 'कामन्दकीय नीति-

से लिये गये हैं और प्रायः सभी पद्य अत्यन्त उपदेशपूर्ण व कंठस्थ करने योग्य हैं। लेकिन यहाँ यह भी सत्य है कि पद्यों की अधिकता कहीं-कहीं कथा प्रवाह में व्याघात भी पहुँचाती है। सरल और सुबोध भाषा-शैली के कारण हितोपदेश का पठन-पाठन 'पंचतन्त्र' की अपेक्षा अधिक है और संस्कृत सीखने वाले छात्रों को प्रायः पहले हितोपदेश ही पढ़ाया जाता है तथा समीक्षक उसके नीतिपरक उद्‌गारों की मुक्तकंठ से प्रशंसा भी करते हैं। उदाहरणार्थ 'हितोपदेश' का यह पद्य दर्शनीय है—

न धर्मशास्त्रं पठतीति कारणं न चापि वेदाध्ययनं दुरात्मनः
स्वभाव एवात्र तथातिरिच्यते यथा प्रकृत्या मधुरं गवां पयः ॥

अर्थात् "दुर्जन पुरुष धर्मशास्त्र पढ़ता है या वेद का अध्ययन करता है इसलिए उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। इस विषय में तो स्वभाव ही सबसे बढ़कर है, जैसे, गाय का दूध स्वभाव से ही मधुर होता है।"

लोक-कथा

लोक-कथा को मनोरंजनात्मक या मनोरंजक कथा भी कहा जाता है। जहाँ नीति कथा उपदेशात्मक होती है वहाँ लोक-कथा मनोरंजन प्रधान होती है तथा उसके पात्र भी पशु-पक्षी न होकर प्रायः मनुष्य ही होते हैं। सामान्यतः लोकप्रिय व प्रतिनिधि लोककथा संग्रहों का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है—

बृहत्कथा—लोककथाओं का सर्वाधिक प्राचीनतम ग्रन्थ गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' ही है और कुछ लेखकों ने इसे पंचम शतक की रचना कहा है। डॉ० ब्यूलर इसका रचना काल प्रथम या द्वितीय शताब्दी मानते हैं तथा अधिकांश विद्वानों ने 'बृहत्कथा' का रचना काल विक्रम की प्रथम शताब्दी माना है। मूल 'बृहत्कथा' पैशाची भाषा में लिखी गई थी और उसमें एक लाख पद्यों का होना माना गया है पर अब वह उपलब्ध नहीं है तथा उसके निम्नलिखित तीन संस्कृत अनुवाद उपलब्ध होते हैं—

१. बुधस्वामी कृत **'बृहत्कथा-श्लोक-संग्रह**—बुधस्वामी नेपाल के रहने वाले थे और उनका समय आठवीं-नवीं शताब्दी माना जाता है तथा बृहत्कथा का प्राचीनतम अनुवाद यही है।

२. क्षेमेन्द्र कृत **बृहत्कथा-मंजरी**—क्षेमेन्द्र का समय ग्यारहवीं शताब्दी कहा जाता है और वह कश्मीर के राजा अनन्त के आश्रित कवि थे। इस कृति में ७५०० श्लोक हैं पर ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि मूल कथा का कितना संरक्षण हो सका है।

३. सोमदेव कृत **कथा सरित्सागर**—बृहत्कथा के संक्षिप्त संस्करणों में वह सर्वाधिक प्रसिद्ध है और इसकी रचना लगभग १०३७ ई० में हुई तथा इसके रचयिता सोमदेव भी कश्मीर के राजा अनन्त के समकालीन कहे जाते हैं। निस्संदेह संसार में इसके अतिरिक्त अन्य कोई इतना प्राचीन व विशाल कथा संग्रह नहीं है।

यहाँ ठीक-ठीक यह नहीं कहा जा सकता कि उक्त तीन कृतियों में मूल बृहत्कथा का कितना अंश सुव्यवस्थित रूप से विद्यमान है और विचारकों में इस सम्बन्ध में भी मतभेद है कि मूल कृति गद्य में थी या पद्य में, क्योंकि कश्मीर की जनश्रुतियों के अनुसार 'बृहत्कथा' श्लोकबद्ध थी; पर दण्डी ने 'काव्यादर्श' में उसे गद्यात्मक कहा है लेकिन यहाँ यह अनुमान किया जा सकता है कि गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित अनेक

लोककथाओं को संगृहीत कर बृहत्कथा की रचना की होगी। यह तो निर्विवाद रूप से सत्य है कि "बृहत्कथा से बढ़कर प्राचीन कथाओं का संग्रह दूसरा कोई नहीं है। वाल्मीकि और व्यास के अतिरिक्त गुणाढ्य भी भारतीय कवियों के उपजीव्य रहे हैं। कथनाक की विचित्रता के साथ-साथ रस का परिपाक अच्छे ढंग से किया गया है। इसके नायक हैं महाराज उदयन के पुत्र नरवाहनदत्त। वे अपने मित्र गोमुख की सहायता से अपनी प्रियतमा मदन मंजूषा से पाणिग्रहण करने तथा विद्याधरों का साम्राज्य प्राप्त करने में समर्थ होते हैं। अवान्तरकालीन कथा-साहित्य के ऊपर बृहत्कथा का प्रभाव विशेष रूप से पड़ा है। रामायण तथा महाभारत के समान यह भी संस्कृत साहित्य का जाज्वल्यमान हीरक है। महाकवि भास, हर्ष तथा भट्टनारायण अपने नाटकों के वस्तु-ग्रहण के लिए बृहत्कथा के विशेष रूप से ऋणी हैं।" भारत में ही नहीं बाहर भी 'बृहत्कथा' की कीर्ति व्याप्त है और दण्डी, सुबन्धु, त्रिविक्रम भट्ट व गोवर्धनाचार्य ने तो गुणाढ्य का नामोल्लेख करते हुए उसकी प्रशंसा भी की है। पर बाणभट्ट ने तो बृहत्कथा को भगवान् शंकर की लीला के समान विस्मयकारिणी ही बतलाया है।

वेतालपञ्चविंशतिका—इसे वेतालपञ्चविंशति भी कहा जाता है और इसमें २५ कहानियाँ संकलित हैं जो कि एक वेताल—भूत द्वारा उज्जैन के राजा विक्रमादित्य को पहेलियों के रूप में सुनाई गई हैं। यहाँ अभी तक इस बात के कोई प्रमाण नहीं मिले कि यह पच्चीस कहानियाँ मूल बृहत्कथा में भी थीं, अतः इस कृति को स्वतन्त्र कथा-ग्रन्थ कहा जा सकता है। 'वेताल पञ्चविंशतिका' के शिवदास और जम्भलदत्त नामक दो लेखकों के संस्करण मिलते हैं तथा शिवदास की कृति गद्य में होते हुए भी उसमें बीच-बीच में श्लोक दिये गये हैं, पर जम्भलदत्त की कृति तो बिलकुल गद्य में है। डॉ० हर्टेल का विचार है कि शिवदास ने १४८० ई० के बहुत पहिले ही इस ग्रंथ की रचना की होगी, क्योंकि उसी समय इसका प्राचीनतम हस्तलेख उपलब्ध होता है। पर अभी इस सम्बन्ध में पर्याप्त खोज नहीं हो सकी है। इतना होते ही यहाँ यह तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इस कृति की सभी कहानियाँ अत्यधिक मनोरंजक हैं और उनमें कौतूहल व रोचकता का सुन्दर समन्वय है।

सिंहासन द्वात्रिंशिका या द्वात्रिंशत्पुत्तलिका अथवा विक्रमचरित—इस कृति के केवल गद्यात्मक, पद्यमय और गद्य-पद्यमय तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं तथा दक्षिण भारत में यह विक्रमचरित के नाम से विख्यात है। इसके गद्यबद्ध व पद्यबद्ध दो रूप मिलते हैं। पर उत्तर भारत में इसे सिंहासन द्वात्रिंशिका अर्थात् सिंहासन बत्तीसी कहा जाता है। अतः ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता कि इसका कौन-सा रूप प्राचीन है। इसकी प्रत्येक कहानी में राजा भोज का उल्लेख हुआ है। अतः इसकी रचना भोज (१०१८-१०६३ ई०) के बाद ही मानी जानी चाहिए। संक्षेप में इसकी कथा यह है—राजा भोज जमीन में गड़े हुए विक्रमादित्य के सिंहासन को उखाड़ता है और ज्यों ही उस पर बैठना चाहता है। उस सिंहासन पर जुड़ी हुई ३२ पुतलियाँ राजा से क्रमशः प्रश्न पूछकर उसे अयोग्य सिद्ध करती हैं और अन्त में सिंहासन लेकर उड़ जाती हैं। इस प्रकार इसमें भी एक मूल कथा के अन्तर्गत ३२ कहानियाँ दी गयी हैं और भले ही यह 'वेताल पञ्चविंशतिका' की भाँति बुद्धि विलास में उतना श्रेष्ठ न हो पर रोचकता में उससे कुछ कम नहीं है।

शुकसप्तति—इसके तीन संस्करण उपलब्ध होते हैं पर उसके रचयिता का कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसकी रचना चौदहवीं शताब्दी के पूर्व मानी जाती है क्योंकि उसी समय इसका एक अनुवाद फारसी में भी हुआ था। 'शुक्रसप्तति' में ७० कहानियाँ हैं पर मूल कथा केवल यह है कि अपने पति मदनसेन के बाहर जाने पर उसकी पत्नी वियोगजन्य पीड़ा से विकल हो जाती है और एक तोता उसे ७० कहानियाँ सुनाता है जिसमें ७० दिन व्यतीत हो जाते हैं तथा अन्त में मदनसेन लौट आता है।

अन्य उल्लेखनीय कथा संग्रह—पन्द्रहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि विद्यापति ने 'पुरुष-परीक्षा' की रचना की जिसमें ४४ नैतिक और राजनीतिक कहानियाँ हैं तथा शिवदास कृत 'कथार्णव' में चोरों व मूर्खों की ३५ कथाएँ हैं। इसी प्रकार सोलहवीं शताब्दी के बल्लालसेन रचित 'भोज प्रबन्ध' में संस्कृत के महाकवियों की अनेक रोचक दंतकथाएँ दी गयी हैं और इधर कई पाश्चात्य कथा संग्रहों का भी संस्कृत में अनुवाद हो चुका है। गुणाढ्य की वृहत्कथा के आधार पर पं० रामशरण, एम ए० ने 'कौमुदी कथाकल्लोलिनी' नामक पुस्तक लिखी है। इसी प्रसंग में हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि बौद्ध-जैन कवियों व लेखकों ने भी संस्कृत कथा-साहित्य के विकास में महत्व-पूर्ण योगदान दिया है और बौद्धों के कथा संग्रह 'अवदान' नाम से प्रख्यात है जिनमें सर्वाधिक प्राचीन उपलब्ध कृति 'अवदान शतक' है। इसी प्रकार आर्यशूर कृत संस्कृत 'जातक माला' भी चौथी शताब्दी की कृति है और जैन कथा संग्रहों में उल्लेखनीय कृति हेमचन्द्र (१०८८ ई०) रचित 'परिशिष्ट वर्णन है।

●

अध्याय | ७

चम्पू-काव्य

प्रश्न (४१) चम्पू काव्य की विशेषताएँ बतलाते हुए उनके विकास-क्रम पर एक निबन्ध लिखिए।

प्रश्न (४२) चम्पू काव्य का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए चम्पू-काव्य का उद्भव और विकास बतलाइए।

उत्तर—साहित्य-दर्पण की इस उक्ति के आधार पर—**गद्यपद्यमय काव्यं चम्पू-रित्यभिधीयते'** जिन काव्यों में गद्य-पद्य का संयुक्त प्रयोग किया जाता है उन्हें चम्पू-काव्य कहते हैं। इस प्रकार चम्पू-काव्य में गद्य व पद्य का मिश्रण रहता है और यों तो वासवदत्ता, हर्षचरित तथा कादम्बरी आदि गद्य-कृतियों में भी यत्र तत्र पद्य प्रयुक्त हुए हैं। पर प्रधानतया, उन्हें गद्य साहित्य या गद्य-काव्य के ही अन्तर्गत रखा जाता है। इसी प्रकार नीति कथाओं में भी गद्य-पद्य का सम्मिश्रण दीख पड़ता है, लेकिन उनमें पद्यों

का प्रयोग किसी विशेष प्रयोजन से ही किया जाता है और उनके गद्य या तो उन कथाओं से प्राप्त होने वाली शिक्षा के रूप में हैं या वह किसी विशेष कथन की पुष्टि में प्रमाण रूप में उद्धृत हैं। इस प्रकार साहित्य की उन अन्य विधाओं से, जिनमें कि गद्य-पद्य का मिश्रण पाया जाता है, चम्पू काव्य की पृथकता स्पष्ट करते समय विचारक यह मत व्यक्त करते हैं कि चम्पू में गद्य-पद्य का समान रूप से व्यवहार होता है और उसके पद्य किसी प्रयोजन विशेष से प्रयुक्त नहीं होते, बल्कि वह तो उसकी कथा के ही उसी प्रकार अंगभूत होते हैं—जैसे कि उसके गद्य भाग। 'रामायण चम्पू' के रचयिता भोज ने कहा भी है कि चम्पू में गद्य और पद्य का वही पारस्परिक सम्बन्ध है जो संगीत में गीत और पद्य का—

गद्यानुबन्धरसमिश्रितपद्यसूक्तिः
हृद्यापिवाद्यकलया कलितेव गीतिः

निष्कर्ष रूप में चम्पू काव्य की परिभाषा के आधार पर हम कह सकते हैं कि चम्पू काव्य में निम्न विशेषताएँ होती हैं—

(१) चम्पू काव्य गद्य-पद्यात्मक होता है। वह अङ्कों आदि में विभक्त होता है। उसमें उक्ति-प्रत्युक्ति नहीं होती है और न ही उसमें विष्कम्भक आदि होते हैं।

किन्तु उपलब्ध चम्पू काव्यों में उपर्युक्त विशेषतायें नहीं मिलती हैं।

यद्यपि वैदिक संहिताओं विशेषतः कृष्ण यजुर्वेदीय संहिताओं में गद्य-पद्य के मिश्रण के कुछ उदाहरण अवश्य मिलते हैं और संवाद सूक्तों की व्याख्या में श्री डॉ० ओल्डनबर्ग गद्य-पद्यात्मक रूप की कल्पना उचित मानते हैं, पर इन्हें चम्पू काव्य के अन्तर्गत स्थान देना युक्तिसंगत न होगा। साथ ही बौद्धों की जातक माला और हरिषेण के प्रयाग के अभिलेख में भी गद्य के साथ पद्य भी समन्वित पाया जाता है, पर इन्हें भी चम्पू नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार दण्डी (६०० ई०) ने भी अपने काव्यादर्श में चम्पू के लक्षण दिए हैं अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि दण्डी के पूर्व संस्कृत में चम्पू काव्य की रचना हो चुकी थी, पर संस्कृत साहित्य में चम्पू काव्य के दर्शन दसवीं शताब्दी के पूर्व नहीं होते हैं।

त्रिविक्रम भट्ट और नल चम्पू—प्रायः अधिकांश विचारक नल चम्पू को ही सर्वप्रथम उपलब्ध चम्पू मानते हैं और आचार्य बलदेव उपाध्याय ने तो स्पष्टतया कहा है "नल चम्पू ही चम्पू काव्य का प्रथम निदर्शन है—चम्पू काव्य का पहला उदाहरण है जिसमें कवि ने गद्य तथा पद्य दोनों में समान भाव में काव्यगुणों का उत्कर्ष दिखाने का स्पृहणीय उद्योग दिखाया है।" नल चम्पू का दूसरा नाम दमयन्ती कथा भी है और उसके रचयिता त्रिविक्रम भट्ट कहे जाते हैं तथा उनकी एक अन्य कृति 'मदालसा चम्पू' भी कही जाती है पर 'नल चम्पू' की तुलना में वह उतनी प्रसिद्ध नहीं है। साथ ही "चम्पू-काव्य-शैली का जो परिष्कृत और प्रौढ़ रूप नल चम्पू में उपलब्ध होता है, उससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में इस गद्य-पद्यमयी शैली का प्रचार बहुत पहले से ही रहा होगा" पर इसके पूर्व अन्य चम्पू-काव्यों के प्राप्त न होने से नल चम्पू ही सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है।

त्रिविक्रम भट्ट ने 'नलचम्पू' में स्वयं अपना परिचय दिया है और इस प्रकार वह शांडिल्य गोत्रीय ब्राह्मण थे तथा उनके पिता का नाम नेमादित्य या देवादित्य था और पितामह का नाम श्रीधर था। त्रिविक्रम भट्ट का समय दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध

माना जाता है क्योंकि सन् ९१५ ई० का एक शिलालेख प्राप्त हुआ है जिसके रचयिता नल चम्पू काव्य के लेखक त्रिविक्रम भट्ट कहे जाते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि नल चम्पू अपूर्ण कृति है, और उसमें केवल सात उच्छ्वास ही हैं तथा उसकी कथा वहीं समाप्त हो जाती है जब नल दमयंती को देवताओं का संदेश सुनाते हैं। दमयंती अपनी सखी प्रियंवदिका के द्वारा देवताओं का वरण करना अस्वीकार कर देती है, अतः अब नल वापिस लौट आता है, पर रात भर उसके नेत्रों के समक्ष दमयन्ती की सुन्दर मूर्ति घूमते रहने से काम पीड़ा के कारण वह सो नहीं पाता और वियोगजनित व्यथा से नेत्रों में अश्रु भरे शिव के चरण कमलों में चित्त लगाकर किसी प्रकार रात्रि व्यतीत करता है। इस प्रकार नल चम्पू यहीं समाप्त हो जाता है और उसके अपूर्ण रहने के सम्बन्ध में एक किम्वदंती भी प्रसिद्ध है—कहा जाता है कि त्रिविक्रम भट्ट के पिता देवादित्य, जो एक सभापंडित थे, एक बार जब एक प्रतिद्वन्द्वी उन्हें चुनौती देने के लिए आया, अपने स्थान पर अनुपस्थित थे। इसके परिणामस्वरूप त्रिविक्रम भट्ट ने सरस्वती की अनुकम्पा से नल चम्पू की रचना की जो अपूर्ण ही रह गया क्योंकि उनके पिता लौट आए।

सामान्यतया "संस्कृत साहित्य में त्रिविक्रम श्लेष के प्रयोग के लिए अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। श्लेष का हम सुबन्धु में भी देखते हैं, सुबन्धु ने अपने आपको 'प्रत्यक्षरश्लेषमयप्रबन्धविन्यासवैदग्ध्यनिधिर' घोषित किया था। पर सुबन्धु की श्लेष-योजना के विषय में विद्वानों की दो आपत्तियाँ हैं, प्रथम तो सुबन्धु के श्लेष दूरारूढ़ होते हैं, दूसरे उसकी श्लेष योजना में प्रायः अभंग श्लेष का ही चमत्कार रहता है। त्रिविक्रम की श्लेष योजना एक ओर सरल होती है, दूसरी ओर सभंग भी। सभंग श्लेष की सरल योजना करने में त्रिविक्रम के समान पटु कोई भी कवि नहीं दिखाई देता। सभंग श्लेष का प्रयोग तो कई कवियों ने किया है, पर उनकी अर्थ प्रतीति में पदों को इतना तोड़ना पड़ता है कि श्लेष-योजना कठिन हो जाती है तथा अर्थ प्रतीति में सहृदय पाठक को दुःसाध्य परिश्रम करना पड़ता है। त्रिविक्रम के सभंग श्लेषों में यह बात नहीं पायी जाती और पाठक थोड़े से परिश्रम से दोनों पक्षों का अर्थ ग्रहण कर लेता है।" इस प्रकार त्रिविक्रम संस्कृत साहित्य के सर्वप्रधान श्लेष कवि हैं और उन्होंने 'नल-चम्पू' के प्रथम उच्छ्वास में ही श्लेष के प्रति अपना अनुराग व्यक्त करते हुए कहा है कि पुण्यशाली कवि ही सुन्दर व नाना प्रकार के श्लेष अलंकार से युक्त वाणी की रचना करने में समर्थ हो सकता है—

> प्रसन्नाः कान्तिहारिण्यो नानाश्लेषविचक्षणाः।
> भवन्ति कस्यचित्पुण्यैर्मुखे वाचो गृहे स्त्रियः॥ नलचम्पू १/४

इससे स्पष्ट है कि त्रिविक्रम का प्रधान लक्ष्य शाब्दी क्रीड़ा ही है और यही कारण है कि उन्हें इतिवृत्त या कथा के निर्वाह की कोई विशेष चिन्ता नहीं रहीं। भावात्मक स्थलों व प्राकृतिक दृश्यों के चित्रण में भी वह श्लेष की सहायता लेते हैं। उदाहरणार्थ निम्न अवतरण में उन्होंने एक साथ वर्षा और अभिसारिका का श्लिष्ट चित्र प्रस्तुत किया है—

अथ कदाचितुन्नमत्पयोधरान्तरपतद्धारावलीविराजिताः, कमलदलकान्तनयनाः, सुरचापचक्रभ्रुवः, विद्युन्मणिमेखलालङ्कारधारिण्यः, शिञ्जानामुक्तकलहसंकाः

प्रौढ़करेणुसञ्चारहारिण्यः, कम्ब्रकन्धराः, तिरस्कृतशशाङ्ककान्तिकलापोच्चमुखमण्डलाः, सकलजगज्जेगीयमानगुणमिममनुपमरूपलावण्यराशिराजितं राजानमवलोकयितुमिवाव-तरन्ति स्म वर्षाः ।

शाब्दी क्रीड़ा की भाँति त्रिविक्रम प्रौढ़ोक्ति या आर्थी क्रीड़ा में भी दक्ष हैं और उन्होंने अपनी आर्थी क्रीड़ा से आकाश में गंगा व यमुना दोनों को बहा कर प्रयाग की सृष्टि कर दी है तथा उनकी उस अनूठी कल्पना से प्रसन्न हो उन्हें उसी प्रकार 'यमुना त्रिविक्रम' की उपाधि से विभूषित किया गया जिस प्रकार भारवि को 'आतपत्र भारवि' माघ को 'घंटा माघ' और रत्नाकर' को 'ताल रत्नाकर' की उपाधि से विभूषित किया गया था ।

सोमदेव और यशस्तिलक चम्पू—दसवीं शताब्दी के राष्ट्रकूट राजा कृष्ण राजदेव के समकालीन एक जैन लेखक सोमदेव ने जिन्हें कि सोमप्रभ सूरि भी कहा जाता है, यशस्तिलक चम्पू की रचना की । यह कृति पर्याप्त विस्तृत तथा जैन सिद्धान्तों की जानकारी के लिए नितान्त उपयोगी कही जाती है । साथ ही संस्कृत साहित्य के इतिहास की दृष्टि से भी इस कृति का विशेष महत्व है, क्योंकि उसमें अनेक काव्य रचयिताओं का भी उल्लेख हुआ है और कई ऐसी काव्य कृतियों का भी नाम दिया गया है जिनका आज तक कोई पता नहीं । यशस्तिलक चम्पू के आठ उच्छ्वासों में अवन्ति नरेश यशोधर, उनकी पत्नी की कपट धूर्तता, राजा की मृत्यु और नाना योनियों में जन्म तथा अन्ततः जैन-धर्म में दीक्षा का वृत्तान्त आकर्षक ढंग से अंकित हुआ है । वस्तुतः इस चम्पू में कवि ने यही प्रतिपादित करना चाहा है कि मनुष्य जैन-धर्म का पालन कर किस प्रकार अपना कल्याण कर सकता है और 'यशस्तिलक चम्पू' की कथा गुणभद्र के 'उत्तर पुराण' पर आश्रित है । उसी कथा के आधार पर पुष्पदन्त ने 'जसहर चरिउ' नामक अपभ्रंश काव्य और वादिराज सूरि ने संस्कृत 'यशोधरा चरित्र' नामक कृतियों की रचना भी की है । सामान्यतया सोमदेव ने बाणभट्ट की कादम्बरी के आदर्श पर ही यह चम्पू लिखा है और उनके 'यशस्तिलक' में 'नलचम्पू' की भाँति श्लेष का सौन्दर्य नहीं है । सरल तथा सुरुचिपूर्ण शैली ही प्रयुक्त हुई है । उदाहरणार्थ—

सरित्सरोवारिधिवापिकासु निमज्जनोन्मज्जनमात्रमेव
पुण्याय चेत्तर्हि जलेचराणां स्वर्गः पुरा स्यादितरेषु पश्चात् ॥

अर्थात् "यदि सरोवर, समुद्र या बावली आदि में स्नान करने से मनुष्य को पुण्य प्राप्ति होती है, तब तो सबसे पहले जलवासी जीवों को स्वर्ग पहुँचना चाहिए दूसरों को बाद में ।"

हरिश्चन्द्र और जीवनधर चम्पू—सन् ९०० ई० में हरिश्चन्द्र नामक एक कवि ने जीवन्धर चम्पू नामक सम्प्रदाय के एक अन्य प्रख्यात चम्पू की रचना की और यह गुणभद्र के उत्तरपुराण पर आश्रित है तथा माघ एवम् वाक्पतिराज का इसमें प्रत्यक्ष अनुकरण भी किया गया है लेकिन यहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि यह वही हरिश्चन्द्र हैं जिन्होंने 'धर्मशर्माभ्युदय' नामक जैन महाकाव्य की रचना की है ।

भोज और रामायण चम्पू—यों तो रामायण की कथा पर आश्रित अनेक चम्पू काव्य प्रसिद्ध हैं पर उनमें धारा के प्रसिद्ध राजा भोज (१०१८-१०६३ ई०) का चम्पू

रामायण या रामायणचम्पू अधिक प्रसिद्ध है। भोज ने तो इसमें किष्किंधा काण्ड तक ही अंश लिया था और उसकी पूर्ति लक्ष्मण भट्ट ने युद्धकाण्ड की रचना कर पूर्ण की है।

अनन्त और भारत चम्पू—कोंकण की भाँति महाभारत की कथा पर भी कई चम्पू काव्य लिखे गये जिनमें अनन्त का 'भारत चम्पू' अधिक प्रसिद्ध है और इसमें बारह स्तवकों में महाभारत की कथा चम्पू शैली में अंकित है।

सोड्ढल और उदय सुन्दरी कथा—कोंकण के राजा मुम्मुणिराज के आश्रित कवि सोड्ढल ने उदय सुन्दरी कथा नामक चम्पू काव्य की रचना की है, जिसमें बाण के हर्षचरित का स्पष्ट अनुकरण दीख पड़ता है। सोड्ढल गुजराती कायस्थ थे और उनका जन्म दक्षिण गुजरात के लाट देश में हुआ था। उन्होंने 'उदय सुन्दरी कथा' में प्रतिष्ठा नगर के राजा मलयवाहन नागराज शिखण्ड तिलक की कन्या उदय सुन्दरी के साथ विवाह की कथा अंकित की है और इसमें कोई संदेह नहीं कि, यह चम्पू काव्य अभिनव कल्पनाओं के साथ-साथ सुललित व सुमधुर भाषा से परिपूर्ण है। उदाहरणार्थ–

कमलिनि भुवनान्तरिते रवौ व्यपगतालिकलापशिरोरुहा।
परिदधे विधवेव सुधाकरद्युतिवितानमिषेण सितांशुकम्

रानी तिरुमलम्बा और वरदाम्बिका-परिणय-चम्पू—राजा अच्युत राय की विदुषी रानी तिरुमलाम्बा ने सोलहवीं शताब्दी में 'वरदाम्बिका-परिणय चम्पू' की रचना की है और इसमें उन्होंने अच्युतराय एवम् वरदाम्बिका के माध्यम से स्वयं अपनी ही प्रणय कथा लिखी है। यह चम्पू काव्य इस बात का परिचायक है कि रानी तिरुमलाम्बा का संस्कृत भाषा पर कितना विलक्षण अधिकार था और उनकी कल्पना-शक्ति कितनी उर्वर थी।

अन्य उल्लेखनीय परवर्ती चम्पू काव्य–यद्यपि श्री बलदेव उपाध्याय ने एक सौ इकत्तीस चम्पू काव्यों का अस्तित्व स्वीकार किया है, पर उनमें से अधिकांश अप्रकाशित ही हैं और अनेक चम्पू काव्यों का केवल नाम मात्र ही जाना पड़ता है। इस प्रकार रानी तिरुमलाम्बा के वरदाम्बिका चम्पू काव्य के साथ-साथ सोलहवीं शताब्दी में राजपुरामणि दीक्षित ने 'भारत चम्पू', जीव गोस्वामी ने 'गोपाल चम्पू', चिदम्बर ने 'भागवत चम्पू', कर्णपूर ने 'आनन्द वृन्दावन चम्पू' और शेष कृष्ण ने 'पारिजातहरण चम्पू' लिखकर चम्पू काव्य की परम्परा को समृद्ध किया है। सत्रहवीं शताब्दी में भी अनेक चम्पू काव्य लिखे गए जिनमें नीलकंठ दीक्षित का 'नीलकंठ विजय', नारायण का 'स्वाहा-सुधाकर चम्पू', चक्र कवि का 'द्रौपदी परिणय चम्पू' और वेंकटाध्वरी के चार चम्पू काव्य 'विश्वगुणादर्श चम्पू,' वरदाभ्युदय का 'हस्तिगिरि चम्पू,' 'उत्तर चम्पू' और 'श्री निवास चम्पू',—उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार अठाहरवीं शताब्दी में वाणेश्वर विद्यालंकर रचित 'चित्र चम्पू' भी विषय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है क्योंकि यह वैष्णव भावनाओं और तत्त्वों का प्रदर्शक ग्रन्थ कहा जाता है। इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत साहित्य में चम्पू काव्यों की एक समृद्ध परम्परा विद्यमान है।

रूपक या नाटक

प्रश्न (४३) इस कथन की सार्थकता प्रमाणित कीजिए कि 'भरत का नाट्य-शास्त्र अपने विषय का पहिला सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है।'

प्रश्न (४४) भरत के नाट्यशास्त्र का संक्षिप्त परिचय देते हुए संस्कृत साहित्य के नाट्यशास्त्र का इतिहास दीजिए।

महामुनि भरत और उनका नाट्यशास्त्र—सुपरिचित समीक्षक आचार्य बलदेव उपाध्याय ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'भारतीय साहित्यशास्त्र' के प्रथम खंड में साहित्य-शास्त्र का ऐतिहासिक विकासक्रम प्रस्तुत करते हुए स्पष्टतया कहा है "ऐतिहासिक अनुशीलन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नाट्य का शास्त्रीय निरूपण अलंकार के निरूपण से कहीं अधिक प्राचीन है।" इस प्रकार संस्कृत साहित्यशास्त्र में नाट्य विवेचना को ही सर्वप्रथम स्थान प्राप्त है और श्री वाचस्पति गैरोला के शब्दों में "नाट्यशास्त्रकार के रूप में महामुनि भरत का व्यक्तित्व साहित्यशास्त्राकाश में एक देदीप्यमान दिनमणि की भाँति प्रकाशित है। भरत का नाट्यशास्त्र अपने विषय का पहिला सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है।" हमारे कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि भरत के पूर्व संस्कृत साहित्य में किसी अन्य विचारक का आविर्भाव ही नहीं हुआ संस्कृत साहित्य-शास्त्र की परम्परा का प्रारम्भ भरत से ही समझा जाना चाहिए, क्योंकि भरत के नाट्यशास्त्र में सुवर्णाभव, कुचुमार आदि कुछ प्राचीन काव्य-शास्त्रियों के नाम उद्धृत, हैं तथा भरत के नाट्य-शास्त्र के पूर्व नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण का लिखा जाना भी अब सिद्ध हो चुका है। स्वयं भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में यह स्वीकार किया है कि उन्हें नन्दिकेश्वर के अंगहारों, करणों व रेचकों के अभिनय की शिक्षा प्राप्त हुई थी। अतः नन्दिकेश्वर का भरत से पहिले होना सिद्ध हो जाता है। हर 'अभिनय दर्पण' का काव्यशास्त्रीय ग्रन्थ है, जबकि भरत मुनि का नाट्यशास्त्र मूलतः नाट्य विवेचना से ही सम्बन्धित है। अतः भरत के नाट्यशास्त्र को नाट्य विवेचना सम्बन्धी सर्वप्रथम ग्रन्थ मानना अनुपयुक्त न होगा।

'नाट्यशास्त्र' और उसके निर्माता के सम्बन्ध में हमारे यहाँ बहुत दिनों तक विवाद भी होता रहा और डॉ० एस० के० डे ने 'हृस्ट्री ऑफ पोइटिक्स' तथा डॉ० पी० वी० काणे ने अपने द्वारा संपादित साहित्य-दर्पण की भूमिका में नाट्यशास्त्र को भरत की कृति न मानकर किसी अन्य लेखक की रचना माना है। इसी प्रकार आचार्य बलदेव उपाध्याय भी भरत के व्यक्तित्व को अपरिचित ही सिद्ध करते हैं और उनका भी यही मत है "भरत के नाम से जो आज कल नाट्यशास्त्र मिलता है वह इनके सिद्धान्तों का द्योतक संग्रह ग्रन्थ है। यह इनके द्वारा रचित मूल ग्रन्थ कदापि नहीं है।" ठीक इसके विपरीत श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने विस्तृत प्रमाण प्रस्तुत करते हुए और डॉ० डे और डॉ० काणे के मतों की विस्तृत आलोचना करते हुए उपलब्ध नाट्यशास्त्र

को महामुनि भरत की कृति माना है तथा वह भरत को ऐतिहासिक व्यक्ति भी मानते हैं। इसी प्रकार 'नाट्यशास्त्र' के निर्माणकाल के सम्बन्ध में भी अनेक मत है और प्रो० मेक्डानेल, प्रो० लेवी, महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री, डॉ० सुशीलकुमार डे' डॉ० पी० वी० काणे एवम् श्री कन्हैयालाल पोद्दार ने अपना पृथक्-पृथक् दृष्टिकोण व्यक्त किया है। अतः कुछ विद्वानों के कथनानुसार 'नाट्यशास्त्र' निर्माण की पूर्व सीमा वैदिक काल तक पहुँचती है तथा कुछ विचारक उसके वर्तमान स्वरूप की परवर्ती सीमा आठवीं शताब्दी बतलाते हैं पर अब अधिकांश विचारक नाट्यशास्त्र को ई० पू० प्रथम शताब्दी में रखने के पक्ष मे हैं, अतः उसका समय ई० पू० प्रथम शताब्दी माना जा सकता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय और डॉ० नगेन्द्र ने अब इसी मत का समर्थन किया है।

विचारकों का यह भी कहना है कि "उपलब्ध नाट्यशास्त्र को देखने से यह विश्वास होता है कि मूल नाट्यशास्त्र कदाचित् इससे भिन्न था। नाट्यशास्त्र की अनेक कारिकाओं को स्पष्ट करने के लिए कारिकाकार ने 'अनुवंश्य' श्लोक की योजना की है। य 'अनुवंश्य' श्लोक शिष्य परम्परा से आगत हैं। अतएव उपलब्ध नाट्यशास्त्र न केवल मूल नाट्यशास्त्र से ही भिन्न प्रतीत होता है, प्रत्युत् वह एक लेखक की रचना भी मालूम नहीं होती है। उसके सम्बन्ध में हमें ऐसा लगता है कि उसकी रचना एक समय में नहीं हुई है। अनेक लेखनियों का स्पर्श पाकर दीर्घकालीन सुधार संस्कार के बाद वह आज हम तक पहुँचा है।

वस्तुतः उपलब्ध नाट्यशास्त्र के तीन रूप हैं—(१) सूत्र, (२) भाष्य और (३) श्लोक या कारिका। इन तीनो के उदाहरण उसमें दृष्टिगोचर होते हैं। सम्भवतः भरत का मूलग्रन्थ सुत्रात्मक था, जिसका रूप आज भी नाट्यशास्त्र के छठें और सातवें अध्याय में दीख पड़ता है। इसके उपरान्त भाष्य की रचना हुई जिसमें भरत के सूत्रों का अभिप्राय उदाहरण देकर स्पष्ट किया गया और तीसरा व अन्तिम रूप कारिकाओं का है, जिनमें नाट्य विषय का अत्यन्त विपुल व विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि नाट्यशास्त्र के अध्यायों की संख्या में भी अन्तर मिलता है और उत्तरी भारत के पाठ्यानुसार उसमें ३७ अध्याय ही हैं पर दक्षिण भारतीय व प्राचीनतर पाठ्यानुसार उसमे ३६ अध्याय ही हैं तथा अभिनव गुप्त ने भी अभिनव भारती में भरत सूत्र की संख्या ३३ मानते हुए कहा भी है—

षट्त्रिंशकात्मक जगत गगनावभास।
संवित्मरीचिचय चुम्बितविश्वशोभम्॥
षट्त्रिंशकं भरतसूत्रमिदं विवृण्वन्।
वन्दे शिवं तदर्थविवेकि धाम्॥

जैसा कि आचार्य बलदेव उपाध्याय का कहना है "नाट्यशास्त्र का विषय विवेचन बड़ा ही विपुल तथा व्यापक है। नाम के अनुसार इसका मुख्य विषय है विस्तृत विवेचन, परन्तु साथ-ही-साथ छन्द शास्त्र, अलंकारशास्त्र, संगीत शास्त्र आदि सम्बद्ध शास्त्रों का भी प्रथम विवरण यहाँ उपलब्ध होता है। इसीलिए प्राचीन ललित कलाओं का इसे विश्वकोश मानना ही न्याय है।" इसके अध्यायों का विषयक्रम इस प्रकार है—

(१) अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति (२) अध्याय में नाट्यशास्त्र, प्रेक्षागृह सम्बन्धी विवरण (३) अध्याय में रंग देवता का पूजन (४) अध्याय में पूर्वरंग व सम्बन्धी १०८ कारणों का और ३२ अंगहारों का वर्णन (५) अध्याय में पूर्वरंग का विस्तृत विधान (६) अध्याय में रस और (७) अध्याय में भावों का व्यापक विवरण। इसके पश्चात् अष्टम अध्याय से अभिनय का विस्तृत विवरण आरम्भ होता है, तथा (८) अध्याय में उपांगों द्वारा अभिनय का वर्णन (९) अध्याय में हस्ताभिनय (१०) अध्याय में शरीराभिनय (११) अध्याय में चोरी (भौम व आकाश) का विधान (१२) अध्याय में मंडल (आकाशगामी व भौम) का विधान (१३) अध्याय में रसानुकूल गतिप्रचार (१४) अध्याय में प्रवृत्ति धर्म की व्यंजना (१५) अध्याय में छन्दोविभाग (१६) अध्याय में वृत्तों का सोदाहरण लक्षण (१७) अध्याय में वागभिनय जिसमें लक्षण, अलंकार, काव्यदोष और काव्यगुण का वर्णन (१८) अध्याय में भाषाओं का भेद और अभिनय में प्रयोग (१९) अध्याय में काकुस्वर व्यंजना (२०) अध्याय में दश रूपकों का लक्षण (२१) अध्याय में नाटकीय पंचसंधियों और सन्ध्यंगों का विधान (२२) अध्याय में चतुर्विध वृत्तियों का विधान (२३) अध्याय में आहार्य अभिनय (२४) अध्याय में सामान्य अभिनय (२५) अध्याय में बाह्य उपचार (२६) अध्याय में चित्राभिनय (२७) अध्याय में सिद्ध व्यंजना का निर्देश। इसके उपरान्त संगीतशास्त्र का वर्णन है यथा—(२८) अध्याय में आतोद्य (२९) अध्याय में ततातोद्य (३०) अध्याय में सुषिरातोद्य का विधान है (३१) अध्याय में ताल (३२) अध्याय में ध्रुवविधान (३३) अध्याय में वाद्य का विस्तृत विवेचन है। अंतिम तीन अध्यायों में विविध विषयों का वर्णन है, जैसे—(३४) अध्याय में प्रकृति (पात्र) का विचार (३५) अध्याय में भूमिका की रचना और (३६) अध्याय में नाट्य के भूतल पर अवतरित होने का विवरण है।

प्रारम्भिक आचार्य—यों तो प्रायः सभी समीक्षक भरत मुनि के नाट्यशास्त्र को संस्कृत साहित्य के नाट्यशास्त्र का आदि ग्रन्थ मानते हैं पर इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके पूर्व इस विषय पर अन्य किसी ने विचार ही नहीं व्यक्त किये क्योंकि पाणिनि ने अपने सूत्रों में शिलालि व कृशाश्व के द्वारा रचित नट सूत्रों का उल्लेख किया है, देखिए—

पाराशर्यं शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ४/३/११०

और भी—

कर्मन्द कृशाश्वादिनिः ४/३/१११

स्वयं भारत के 'नाट्यशास्त्र' के अंतिम अध्याय से ऐसा प्रतीत होता है कि कोहल नामक किसी आचार्य ने इस ग्रंथ के विकास में अपना सहयोग दिया था, क्योंकि भारत ने कहा भी है—**शेषं प्रस्तारतंत्रेण कोहलः कथयिष्यति**। कोहल का उल्लेख कई अन्य विद्वानों ने भी किया है। हेमचन्द्र ने भी काव्यानुशासन में नाटक के विभिन्न प्रकारों के विभाजन के अवसर पर भरत के साथ कोहल का भी उल्लेख किया है; अतः इससे स्पष्ट हो जाता है कि उस समय उन्हें कितनी अधिक ख्याति प्राप्त थी। कोहल की भाँति दत्तिल नामक एक अन्य आचार्य का भी संगीत के ग्रन्थों में उल्लेख हुआ है और 'दत्तिलकोहलीय' नामक संगीतशास्त्र का एक ग्रन्थ भी प्राप्त हुआ है जिसमें दत्तिल व कोहल के संगीत-विषयक सिद्धान्तों का वर्णन है। इन दोनों के साथ-साथ 'नाट्यशास्त्र'

में शांडिल्य' वत्स और धूर्त्तिल नामक नाट्याचार्यों का भी उल्लेख हुआ है तथा आदि भरत व बुद्ध भरत के नाम भी यत्र-तत्र लिये जाते हैं। साथ ही 'नाट्यशास्त्र' के प्रथम अध्याय में नरंवकुल एवं अश्मकुल और बादरायण का नामोल्लेख भी हुआ है तथा उनके उद्धरण भी अनेक स्थलों पर प्राप्त होते हैं और साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ और नाट्यलक्षणरत्नकोश के रचयिता सागरनन्दी कुछ उद्धरणों से उन विद्वानों का भी नाट्यशास्त्र का आचार्य होना सिद्ध हो जाता है। इसी प्रकार प्रथम शताब्दी के कुछ शिलालेखों और 'नाट्यलक्षण रत्नकोश' में 'शातकर्णी' नामक एक आचार्य का उल्लेख भी हुआ है तथा अभिनवगुप्त की अभिनव भारती और शारदातनय के 'भाव प्रकाशन' में नन्दि, तुम्बरु, निशभखिल, चारायण आदि आचार्यों का नामोल्लेख भी हुआ है तथा नन्दि के सम्बन्ध में अभिनव भारती से यह उद्धरण भी है—

यथाच नन्दिमतम् उक्तम्

इसी प्रकार चारायण नामक एक नाट्याचार्य का उल्लेख सागरनंदि ने अपने ग्रन्थ में किया है और अभिनवगुप्त व शारदातनय ने सदाशिव, पद्मभू, द्रौहिणी, व्यास, आजमेय आदि आचार्यों का भी नामोल्लेख किया है पर उनके ग्रंन्थों का उल्लेख नहीं मिलता। अभिनव भारती में कात्यायन, राहुल, गर्ग, शक्तिभर्भ व घंटक आदि विद्वानों के उद्धरण भी मिलते हैं और 'अभिज्ञानशाकुन्तल' के टीकाकार राघव ने आचार्य मातृगुप्ताचर्य का उल्लेख नाटक, लक्षण, यवनिका' नांदी, सूत्रधार आदि पारिभाषिक शब्दों के उद्धरणों को प्रस्तुत करते समय किया है, अतः इससे स्पष्ट है कि मातृगुप्ताचार्य ने भी अवश्य नाट्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रंथ लिखा होगा, पर वह अब प्राप्त नहीं होता है यहाँ यह भी स्मरणीय है कि पुराणों में भी नाट्यशास्त्र का विवेचन प्राप्त होता है। और 'अग्निपुराण' में नाटक, नृत्य, रस आदि का पर्याप्त विवेचन किया गया है तथा विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तीसरे खण्ड में एक हजार श्लोकों में नाट्यशास्त्र का विवेचन हुआ है।

वस्तुतः उपर्युक्त सभी आचार्यों का नाट्यसम्बन्धी कार्य उनके सम्बन्ध में प्राप्त उद्धरणों के आधार पर ही अनुमानित किया जाता है और उनके ग्रन्थ अभी तक प्राप्त नहीं हो सके। यों इस दिशा में हमें नाट्यशास्त्र के प्रसिद्ध टीकाकारों का नामोल्लेख भी आवश्यक हो जाता है जिनमें अभिनवगुप्त को विशेष ख्याति प्राप्त है, पर रस विवेचन में भट्टनायक, भट्ट लोल्लट, शंतुक आदि आचार्य भी उल्लेखनीय हैं। अब हम यहाँ उन आचार्यों का क्रमशः संक्षिप्त परिचय देंगे जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से नाट्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ लिखा है और जिनके ग्रन्थ आज भी प्राप्त हैं। पर हम यहाँ यह पहले ही स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि यह सभी ग्रन्थ मात्र नाट्यशास्त्र को उद्देश्य बनाकर नहीं लिखे गए, बल्कि इनमें नाट्यशास्त्र के साथ ही प्रायः रस, रीति, अंलकार, छन्द आदि अन्यान्य विषयों का भी विवेचन मिलता है और नाट्यशास्त्र पर बहुत ही संक्षेप में कुछ कहा गया है लेकिन उनके रचयिताओं को नाट्याचार्य मानने में कोई आपत्ति न होनी चाहिए।

धनंजय और धनिक—बहुत दिनों तक धनंजय और धनिक एक ही व्यक्ति समझे जाते थे पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं और वह दोनों सहोदर भ्राता हैं तथा धनिक के धनंजय के अनुज थे। धनंजय के पिता का नाम

विष्णु था और वह परमारवंशीय राजा मुंज की राजसभा के विद्वान् थे। चूँकि शिलालेखों के आधार पर मुंज का समय ९७४से९९४ ई० तक माना जाता है अतः यही समय धनंजय का होना चाहिए।

धनंजय के ग्रन्थ का नाम दशरूपक है और चूँकि भरत का नाट्यशास्त्र इतना विशाल ग्रन्थ था कि उसमें प्रविष्ट होना विद्वानों के लिए भी कष्ट साध्य था, अतः धनंजय ने आकर्षक ढंग और सरल व सुन्दर शैली में दशरूपक की रचना की ताकि नाट्यशास्त्र का विषय सहज व बोधगम्य हो सके। दशरूपक में चार प्रकाश—जिन्हें कि अध्याय भी कहा जा सकता है—और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं तथा "प्रथम प्रकाश में सन्धि के पाँच प्रकार उनके अंग तथा अन्य नाटकीय वस्तु का विवेचन है। द्वितीय प्रकार में नायक-नायिका के भेद, चारों नाट्य-वृत्तियों तथा उनके अंगों का वर्णन है। तृतीय में नाटक के दस प्रकारों का सांगोपांग निरूपण है। चतुर्थ प्रकाश में नाटक के रस का विशिष्ट विवेचन है। रस निष्पत्ति के विषय में धनंजय व्यंजनावादी नहीं है। ये तात्पर्यवादी ही हैं, विशेषतः भट्टनायक के मत से इनका सिद्धान्त मिलता है।"

'दशरूपक' की 'अवलोक' नामक टीका की रचना धनिक ने की है और यह टीका अनेक दृष्टियों से उत्तम मानी जाती है। इसके अतिरिक्त धनिक ने 'काव्य निर्णय' नामक एक अलंकार ग्रन्थ भी लिखा था, जिसके अनेक श्लोक उन्होंने अपनी 'अवलोक' नामक टीका में भी उद्धृत किए हैं।

सागरनन्दी—कुछ विचारक सागरनन्दी और अभिनय दर्पण के रचयिता नन्दिकेश्वर को एक ही मानते हैं पर वास्तव में यह दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं और नन्दिकेश्वर तो भरत के भी पूर्ववर्ती हैं। नन्दिकेश्वर और सागरनन्दी की एकता का अनुमान केवल इस बात से किया जाता है कि सागरनन्दी वंश में उत्पन्न हुए थे, पर केवल इसी बात से सागरनन्दी को ही नन्दिकेश्वर समझ लेना युक्तिसंगत नहीं है। सागरनन्दी का समय ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य भाग से कुछ पूर्व माना जाता है और उनकी कृति का नाम 'नाट्यलक्षणरत्नकोश' है तथा वह डबलिन के संस्कृताध्यापक माइलेस डिलन (Myles Dillon) द्वारा संपादित होकर सन् १९३७ में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय से प्रकाशित हो चुका है।

इन्होंने अपने ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के निम्नलिखित विषयों का पर्यालोचन किया है—रूपक, अवस्था पंचक, भाषा प्रकार, अर्थप्रकृति, अंक, उपक्षेपक, सन्धि प्रदेश, पताकास्थानक, वृत्ति, लक्षण, अलंकार, रस, भाव, नायिका के गुण और भेद, रूपक के भेद तथा उपरूपक के अन्य प्रकार। इस प्रकार 'नाट्य लक्षण रत्नकोश' में नाटक के आवश्यक उपकरणों को सरल ढङ्ग से समझाया गया है और उसके अन्य नाट्यग्रन्थों से अनेक वैशिष्ट्य भी हैं तथा सागरनन्दी ने अपनी निजी स्थापनाएँ भी प्रस्तुत की हैं।

रुय्यक—रुय्यक प्राचीन साहित्यशास्त्रियों में विशेष प्रसिद्ध हैं और वह निश्चित रूप से कश्मीर के निवासी थे, क्योंकि उनके नाम के साथ जो 'राजानक' उपाधि सम्मिलित है; वह कश्मीर के ही मान्य विद्वानों को दी जाती था। यद्यपि रुय्यक 'अलंकार सर्वस्व' के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं, पर 'नाटक मीमांसा' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी उनका कहा जाता है लेकिन वह प्राप्त नहीं है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र—रामचन्द्र और गुणचन्द्र की सम्मिलित कृति 'नाटय' दर्पण' भी संस्कृत साहित्य के नाट्शास्त्र के इतिहास में अपना विशेष महत्त्व रखती है। रामचन्द्र का आविर्भाव काल बारहवीं शताब्दी का मध्य भाग है और यह तथा इनके सहयोगी गुणचन्द्र जैन धर्म के मान्य आचार्य हेमचन्द्र के शिष्य थे। गुणचन्द्र की तो किसी अन्य कृति का पता नहीं चलता, पर रामचन्द्र का 'प्रवन्ध शतकर्त्ता जैन साहित्य में विख्यात है और इससे यह भी ज्ञात होता है कि उन्होंने ग्यारह नाटकों की रचना की थी। 'नाट्य दर्पण, में चार विवेक या अध्याय हैं और उनमें नाटक, प्रकरणादि रूपक, वृत्ति, रस, भावाभिनय तथा रूपक के साधारण लक्षणों का क्रमशः वर्णन किया है। यह ग्रन्थ कारिकाबद्ध भी है और इस पर ग्रन्थकारों ने अपनी वृत्तियाँ भी लिखी हैं तथा नाट्य विषयक शास्त्रीय ग्रन्थों में नाट्य दर्पण का निस्संदेह महत्त्वपूर्ण स्थान है।

भोजराज—धारा नरेश भोजराज केवल संस्कृत कवियों के आश्रयदाता ही नहीं थे, बल्कि स्वयं एक प्रगाढ़ पंडित और प्रतिभाशाली आलोचक भी थे उन्होंने ,सरस्वती कण्ठाभरण' और , शृंगार प्रकाश' नामक दो ग्रन्थों की रचना की है जिनमें से 'शृङ्गार प्रकाश' में एक प्रकाश या अध्याय केवल नाट्य विषयक है और 'सरस्वती कण्ठाभरण' में भी एक-एक अध्याय नाट्य-सम्बन्धी हैं पर स्वतन्त्र रूप से भोज ने नाट्यशास्त्र सम्बन्धी कोई ग्रन्थ नहीं लिखा।

विद्यानाथ—विद्यानाथ का समय तेरहवीं शताब्दी के अन्त से चौदहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध का मध्य भाग माना जाता है और उनके ग्रन्थ का नाम ,प्रतापरुद्रयशोभूषण है। इस ग्रन्थ में नौ प्रकरण हैं जिसमें क्रमशः नायक काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दालांकर, अर्थालंकार व मिश्रालंकार आदि का विवेचन किया गया है तथा उनकी अधिकांश मान्यताएँ काव्य प्रकार के रचयिता मम्मट के अनुरूप हैं।

विश्वनाथ कविराज—विश्वनाथ उत्कल—उड़ीसा—के अत्यन्त प्रतिष्ठित पंडित कुल में पैदा हुए थे और उनके पिता चन्द्रशेखर स्वयं कवि एवं विद्वान् और ग्रन्थकार थे तथा वह और विश्वनाथ दोनों ही किसी राजा के संधि विग्रहक (वैदेशिक मन्त्री) थे। विश्वनाथ का समय १३०० ई० से १३५० ई० के मध्य माना जाता है और उनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध व लोकप्रिय रचना 'साहित्य दर्पण' है जिसमें "श्रव्यकाव्य के विपुल वर्णन के साथ-ही-साथ दृश्य काव्य का भी सुन्दर विवाह उपस्थित किया गया है। इस प्रकार काव्य के दोनों भेदों—श्रव्य तथा दृश्य —का वर्णन कर विश्वनाथ ने इसे पूर्ण ग्रन्थ बना दिया है।" साहित्य दर्पण में दस परिच्छेद हैं। छठवें परिच्छेद में नाटक के लक्षण व भेदों का बड़ा ही पूर्ण निरूपण है तथा अपनी रोचक व सुबोध शैली के कारण इस ग्रन्थ को लोकप्रियता भी प्राप्त हुई है।

अन्य उल्लेखनीय आचार्य—विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' के पश्चात् अन्य आचार्य ने भी संस्कृत समीक्षा के विकास में अपना उल्लेखनीय योगदान दिया है पर साहित्य दर्पण की सुवोधता व रोचकता के कारण साहित्यदर्पण को जो लोकप्रियता प्राप्त हुई वह अन्य परवर्ती ग्रन्थों को न प्राप्त हो सकी। यों तेरहवीं शताब्दी के मध्यकाल में शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ की रचना की, जो नाट्य विषयक ग्रन्थों में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कह जाता है क्योंकि प्राचीन नाट्याचार्यों के इतिहास व मत जानने के लिए यह अधिक उपयोगी है। 'भाव प्रकाशन' में दस अध्याय हैं जिनमें

क्रमशः भाव, रस का स्वरूप, रस में भेद, नायक-नायिका, नायिका भेद, शब्दार्थ सम्बन्ध, नाट्य इतिहास तथा शरीर, दश रूपक, नृत्य भेद और नाट्य प्रयोग का विवरण प्रस्तुत किया है। इस ग्रंथ में नाट्य के सैद्धांतिक वर्णन के साथ-ही-साथ नाट्य के व्यावहारिक रूप का भी अत्यन्त सुन्दर विवेचन है और नाट्य सम्बन्धी उपकरणों व उपादेय प्रभेदों का विवरण भी विस्तारपूर्वक दिया गया है।

इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी के मध्यभाग के 'शिंगभूपाल' ने शारङ्गदेव के 'संगीत मकरन्द' की संगीत सुधाकर नामक टीका लिखकर पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त की है, संगीत सुधाकर के साथ-साथ वह 'रसार्णव सुधाकर' नामक ग्रन्थ के भी रचयिता हैं और इस ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र के उपादेय विषयों की विवेचना की गयी है। 'रसार्णव सुधाकर' में रंजकोल्लास, रसिकोल्लास और भावोल्लास नामक तीन विलास या तीन खण्ड हैं तथा इन तीनों में रूपक के तीनों अंगों नेता, रस व वस्तु का सांगोपांग विवेचन है। निस्सन्देह धनंजय के दशरूपक की अपेक्षा यह ग्रन्थ अधिक विस्तृत व विशद है और दक्षिण भारत में अपेक्षाकृत इसका प्रचुरतर प्रचार भी है।

इसके अतिरिक्त पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त और सोलहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में चैतन्य महाप्रभु के शिष्य रूपगोस्वामी ने 'नाटक चन्द्रिका', 'भक्ति-रसामृतसिन्धु' व 'उज्ज्वल नीलमणि' नामक तीन ग्रन्थों की रचना की, जिनमें से नाटक चन्द्रिका में नाटक के स्वरूप का पर्याप्त विवेचन किया गया है। इसके प्रारम्भ में ही रूप गोस्वामी जी ने लिखा है कि "इसकी रचना के लिए इन्होंने भरत शास्त्र और रसासुधाकर (शिंगभूपाल का रसार्णवसुधाकर) का अध्ययन किया है और भरत के सिद्धान्तों से प्रतिकूल होने के कारण इन्होंने साहित्य दर्पण के निरूपण को बिलकुल छोड़ दिया है। इस ग्रथ में निरूपित विषयों का क्रम इस प्रकार है—नाटक का सामान्य लक्षण, नायक, रूपक के अंग संधि आदि के प्रकट अर्थों, प्रवेशक और विष्कंभक आदि इसके भेद, नाटक के अंकों तथा दृश्यों का विभाजन, भाषा विज्ञान, वृत्ति विचार और रसानुसार उनका प्रयोग। यह ग्रंथ छोटा नहीं है। इसके उदाहरण अधिकतर वैष्णव ग्रंथों से लिये गए हैं जो संख्या में अत्यधिक तथा सूक्ष्म हैं।" इस प्रकार संस्कृत साहित्य के नाट्यशास्त्र को ऐतिहासिक परम्परा में नाटक चन्द्रिका का उल्लेखनीय स्थान माना जा सकता है, पर जैसा कि हम अभी-अभी लिख चुके हैं विश्वनाथ के साहित्य दर्पण के पश्चात् अन्य ग्रंथों को उतनी अधिक लोकप्रियता न प्राप्त हो सकी और न उनका सम्यक् प्रचार ही हो सका है।

प्रश्न (४५) संस्कृत रूपक के उद्भव के सम्बन्ध में प्रचलित मतों की समीक्षा करते हुए अपने मत की स्थापना कीजिए।

प्रश्न (४६) नाटकों की उत्पत्ति सम्बन्धी विभिन्न मतों का विवेचन करते हुए अपना मत स्पष्ट कीजिए।

वस्तुतः प्राचीन आचार्यों ने काव्य को श्रव्य और दृश्य नामक दो प्रधान विभागों में विभाजित किया है और जो काव्य केवल सुना जा सके वह श्रव्य काव्य कहलाता है तथा गद्य, पद्य व चम्पू इसके तीन भेद होते हैं। इसी प्रकार देखे सुने जाने (दोनों) की क्षमता वाले काव्य को दृश्य काव्य कहा जाता है। रूपक व उपरूपक इसके दो भेद होते हैं तथा उनके और भी उपविभाग कर रूपक के दस व उपरूपक के अठारह भेद किए जाते हैं। यद्यपि प्राचीन संस्कृत नाट्यशास्त्र में 'रूपक' शब्द ही अधिक प्रयुक्त

हुआ है और रूपक का एक भेद नाटक है, पर हिन्दी भाषा व साहित्य में नाटक शब्द ही अधिक व्यवहृत हुआ है तथा अर्वाचीन संस्कृत साहित्य के इतिहास ग्रंथों में नाटक शब्द का ही प्रयोग दीख पड़ता है, अतः हम भी यहाँ नाटक शब्द का ही उपयोग करेंगे।

निस्संदेह संस्कृत साहित्य में नाटकों की अपनी एक विशिष्ट परम्परा विद्यमान है पर संस्कृत साहित्य नाटकों की उत्पत्ति कब और कैसे हुई यह एक अत्यन्त विवाद-ग्रस्त प्रश्न है। यद्यपि "विद्वानों ने इस विषय की मीमांसा बड़ी छान-बीन के साथ की है। पर उनमें से किसी का मत अभ्रांत या विश्वसनीय नहीं माना जा सकता। इसका कारण स्पष्ट है। नाटक समाज के लिए दर्पण के समान होता है। समाज एक प्रकार से टिकने वाली वस्तु नहीं है। समाज में नई विचारधाराओं का प्रभाव ज्यों-ज्यों जैसे-जैसे आता है, नये भावों की त्यों-त्यों जागृति होती है, नाटक के रूप में भी वैसा ही परिवर्तन होता रहता है। आजकल भारतीय समाज की जो रूपरेखा है, उसके आधार पर जिस प्रकार प्राचीन समाज का स्वरूप निश्चय करना कठिन है, उसी प्रकार नाटक की वर्तमान स्थिति का अध्ययन कर उसके मूल कारणों को खोज निकालना नितान्त दुःसाध्य है। पश्चिमी विद्वानों ने इस विषय को खोज निकालने का पर्याप्त उद्योग किया है। उन्होंने पाश्चात्य नाटक की उत्पत्ति के विषय में प्रचलित भिन्न-भिन्न मतों को भारतीय नाटक की उत्पत्ति के विषय में लागू करने का यत्न किया है। परन्तु हमारी मान्य परम्परा के विरुद्ध होने के कारण वे मत सर्वथा ग्राह्य नहीं किये जा सकते।" इस प्रकार संस्कृत नाट्य साहित्य के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक मतभेद है। उनके विचारों को सरलतापूर्वक निम्नलिखित तीन भागों में विभाजित कर अध्ययन किया जा सकता है—

(क) परम्परागतवाद।
(ख) धार्मिक भावनावाद।
(ग) लौकिक लीलावाद।

अब हम यहाँ उक्त तीनों विचारधाराओं का क्रमशः पृथक्-पृथक् विवेचन करते हुए यह स्पष्ट करने का प्रयास करेंगे कि उनमें से कौन-सा मत अधिक समीचीन जान पड़ता है, पर हम यहाँ पहले ही स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि उक्त सभी मत विद्वानों द्वारा अपनी-अपनी खोज के आधार पर निर्धारित हुए हैं अतः उन्हें सर्वथा उपेक्षणीय भी नहीं माना जा सकता है।

परम्परागतवाद

द्यूलोकवाद या दैविक उत्पत्ति—भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में कहा गया है कि "सांसारिक मनुष्यों को अत्यन्त खिन्न देखकर इन्द्रादि देवताओं ने ब्रह्मा के पास जाकर ऐसे वेद के निर्माण करने की प्रार्थना की, जिससे वेद के अनधिकारी स्त्री-शूद्रादि सभी लोगों का मनोरंजन हो। यह सुनकर ब्रह्मा ने चारों वेदों का ध्यान कर ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गान, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर 'नाट्यवेद' नामक पंचम वेद की रचना की और इन्द्र से कुशल प्रगल्भ देवताओं में इसका प्रचार करने को कहा। इन्द्र ने कहा कि देवता लोग नाट्य कर्म में कुशल नहीं हैं। वेदों के मर्म जानने वाले मुनिजन इसका ग्रहण और प्रयोग करने में समर्थ हैं। अतः ब्रह्मा के कथनानुसार भरतमुनि ने अपने पुत्रों को इसकी शिक्षा दी।

यह प्रयोग भारती, सात्वती, आरभटी वृत्ति में शुरू हुआ। बाद में कैशिकी वृत्ति जोड़ी गई, जिसका प्रदर्शन स्त्री पात्रों के बिना नहीं हो सकता था। अतः उन्होंने अप्सराओं की कल्पना की। भरतमुनि इन सब वस्तुओं से सुसज्जित होकर ब्रह्मा के पास गए और आगे का प्रयोग पूछा। ब्रह्मा के कथनानुसार इन्द्र के ध्वजोत्सव में इस नाटचवेद का सर्वप्रथम प्रयोग किया गया। इस प्रयोग को देखकर देवता लोग अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होने पात्रों को अनेक वस्तुएँ पारितोषिक रूप में दीं। प्रयोग का विषय था इन्द्र विजय। इस प्रयोग में देवी का उत्कर्ष और दैत्यों का अपकर्ष देखकर दैत्य अत्यन्त क्रुद्ध हुए और विघ्न करने लगे। इन्द्र के इन विघ्नों का उत्पात जानकर अपनी ध्वजा से सब विघ्नों को जर्जर कर दिया और उसी से उस ध्वज का नाम जर्जर पड़ गया। इन विघ्नों से बचे रहने के लिए इन्द्र ने विश्वकर्मा की नाटचगृह बनाने की आज्ञा दी। इसके बन जाने पर स्वयं ब्रह्मा ने देवताओं की स्थापना की जिससे पात्रों तथा नाटक के प्रयोग की रक्षा हो। दैत्यों को सम्बोधित कर ब्रह्मा ने कहा कि यह नाटचवेद और दैत्यो दोनों के लिए है। इसमें धर्म, क्रीड़ा, हास्य और युद्ध सभी विषय हैं। ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प विद्या, कला, योग और कर्म नहीं है जो नाटच में न हो। (नाटचशास्त्र १।११३) नाटच तो त्रैलोक्य के भावों का कीर्तन है। ऐसी कौन वस्तु है जिसका प्रदर्शन और प्रयोग इनमें नहीं किया जाता। जिस प्रकार यह है उसी प्रकार अन्य प्रयोगों में देवताओं की पराजय भी दिखाई जा सकती है। इतना समझाने पर किसी प्रकार दैत्य लोग शांत हुए और नाटक निर्विघ्न होने लगा। पहला अभिनीत नाटक त्रिपुरदाह नामक डिम तथा समुद्र मन्थन नामक समवकार थे।"

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय विचारक नाटक के उद्भव सम्बन्ध में मूलतः ब्रह्मा अर्थात् भगवान् का हाथ मानते हैं और नाटच वेद नामक पांचवें वेद को प्रकट करने का श्रेय प्रदान करते हैं। कुछ अर्वाचीन आलोचक इस कथा को किम्वदंती मात्र मानते हैं पर हम इस उपाख्यान को सर्वथा महत्वहीन नहीं समझते; क्योंकि इससे निम्नलिखित बातों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) नाटचवेद की रचना में चारों वेदों का सहयोग है।
(२) प्राचीनतम रूपक धार्मिक थे और वे धार्मिक पर्वों पर खेले गये थे।
(३) इनमें नर और नारी दोनों ने ही भाग लिया।

वैदिक काल में वास्तविक रूपक विद्यमान नहीं था। यही कारण था कि देवताओं को ब्रह्मा से उनके लिए एक नये प्रकार के साहित्य को (अर्थात् रूपक को) पैदा करने की प्रार्थना करनी पड़ी।

धार्मिक भावनावाद

मृतक पूजावाद—डॉ० रिजवे का कहना है कि समस्त संसार में नाटकों का उद्भव मृतात्माओं के प्रति प्रकट की हुई लोगों की श्रद्धा से हुआ है अर्थात् रिजवे श्रद्धा को समस्त धर्मों का मूल भाव मानते हैं और उनका विचार है कि विश्व के सभी प्राचीन देशों में मृतात्माओं की प्रसन्नता के लिए प्राचीनकाल से गीत व अभिनय आदि हुआ करते थे, अतः मृतक पूजा के कारण धीरे-धीरे नृत्य, गान व अभिनय होने लगे और नाटकों का प्रणयन आरम्भ हो गया। कहा जाता है कि रामलीला व कृष्णलीला या रासलीला में भी यही भावना मौजूद रही है क्योंकि अपने पूर्वजों के प्रति श्रद्धा

व्यक्त करने के लिए ही उक्त धार्मिक लीलाएँ होती हैं पर डॉ० रिजवे के मत को तो अब यूरोपीय विचारक ही नहीं मानते। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि राम और कृष्ण आदि की पूजा के पीछे मृतात्माओं के प्रति सम्मान व्यक्त करने की भावना भी अधिकारी विद्वानों के द्वारा मान्य नहीं है क्योंकि हम राम व कृष्ण की पूजा इसलिए करते हैं कि भगवान् के चरित का स्मरण व श्रवण कर हमें सुख, शांति और मुक्ति प्राप्त हो। साथ ही अब तक कोई भी ऐसा प्रमाण उपलब्ध नहीं हुआ जिसके आधार पर यह कहा जा सके कि अमुक नाट्यकृति की रचना भगवान् राम या कृष्ण का सम्मान करने के लिए हुई हो।

पर्ववाद या मे-पोल (May-pole) वाद—इस मत के अनुसार नाटकों की उत्पति मे-पोल (May-pole) नृत्य से हुई मानी जाती है और इसके समर्थकों का कहना है कि पाश्चात्य देशों में मई मास अत्यन्त आनन्दपूर्वक मनाया जाता है तथा वहाँ अनेक उत्सव होते हैं जिनमें लोग नाचते-कूदते और आनन्द मनाते हैं। इतना ही नहीं, लोग एक लम्बा बाँस गाड़कर उसके नीचे एकत्र होते हैं और सभी स्त्री-पुरुष एक साथ मिलकर नृत्य करते हैं। यहाँ यह स्मरणीय है कि भारत में भी इन्द्रध्वज का उत्सव लगभग इसी प्रकार हुआ करता था, अतः इससे यह अनुमान किया जाता है कि नाटकों की उत्पत्ति वसन्त में मनाए जाने वाले त्यौहार या पूर्वों के आधार पर हुई होगी, पर यह मत भी निर्भ्रान्त नहीं है। इसमें सर्वाधिक त्रुटिपूर्ण बात तो यह है कि विचारकों ने मे-पोल उत्सव और इन्द्रध्वज पर्व का पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करते समय इस बात का ध्यान नहीं रखा कि मे-पोल पर्व तो वसंत ऋतु में होता है पर इन्द्र ध्वज पर्व भारत में वर्षा के अन्त में होता है क्योंकि यह इन्द्र की वृत्र (मेघ) विजय का सूचक है।

कृष्णोपासनावाद—इस वाद में भारतीय नाटकों के उद्भव का सम्बन्ध कृष्ण की उपासना के उदय और प्रसार से सम्बद्ध किया जाता है। हम यह मानते हैं कृष्णोपासना के कई अंग इस प्रसंग में अत्यन्त महत्व के कहे जा सकते हैं, जैसे रथ यात्राएँ, नृत्य, वाद्य व गीत और लीलाएँ आदि कई ऐसे उपकरण हैं जिन्होंने संस्कृत नाटकों के निर्माण में अत्यधिक योग दिया है। साथ ही संस्कृत नाट्य साहित्य का विकास कृष्णोपासना के घर शूरसेन देश में ही हुआ है और नाटकों में शौरसेनी प्राकृत का प्राबल्य इस बात का द्योतक है कि नाटक का आविर्भाव भी वहीं हुआ, पर इस वाद में भी कई त्रुटियाँ हैं, जैसे—

(१) सर्वप्रथम तो यह कि अब तक इसका कोई प्रबल पुष्ट प्रमाण नहीं मिला कि कृष्ण सम्बन्धी नाटक ही सबसे प्राचीन हैं।

(२) यह भी न भूलना चाहिए कि राम और शिव आदि अन्य देवताओं की प्रसिद्ध उपासनाओं ने भी भारतीय नाटक के विकास में अवश्य सहयोग दिया होगा, पर इस वाद में इस तथ्य की पूर्ण उपेक्षा की गयी है।

लौकिक लीला

लोकप्रिय स्वांगवाद—प्रो० हिलब्रैंड (Hillebrand) और स्टेन कोनो (Sten Konow) के कथनानुसार प्राचीन भारत में लोकप्रिय स्वांगों का प्रचार था और बाद में इन स्वांगों में रामायण व महाभारत की कथाओं को मिलाकर रूपक का रूप दे दिया गया, पर डॉ० कीथ ने इस सिद्धांत का तीव्र विरोध किया है। उसका कहना है

कि रूपक के प्रचार से पूर्व स्वाँगों के प्रचलित होने के प्रबल उचित प्रमाण भी उपलब्ध नहीं हैं। साथ ही स्टेन कोनो (Sten Konow) ने जो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं सब-के-सब महाभाष्य के समकालीन या उसके बाद के हैं अतः उनसे स्वांगों की प्राचीनता सिद्ध नहीं होती और डॉ० कीथ के मतानुसार प्रारम्भिक स्वांग काल के सम्बन्ध में हमारा समस्त ज्ञान कल्पनाश्रित ही है।

कठपुत्तलिका नृत्यवाद—प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल नाटक की उत्पत्ति कठपुतलियों के नृत्य (पपेट शो) से मानते हैं और उनका विचार है कि नृत्य की उत्पत्ति भारतवर्ष में ही हुई तथा अन्य देशों में इसका प्रचार भारत से ही हुआ। नाटकों में प्रयुक्त सूत्रधार और स्थापक आदि शब्दों का मूल अर्थ इस मत का पोषण भी करता है, क्योंकि सूत्रधार का अर्थ है डोरे को पकड़ने वाला और स्थापक का अर्थ है किसी वस्तु को लाकर रखने वाला तथा यह दोनों शब्द पुत्तलिका नृत्य से सम्बन्ध रखते हैं। यह मत भी निर्भ्रान्त नहीं है और प्रो० हिलब्रैंड का तो यही कहना है कि इस सिद्धांत में सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि कठपुतलियों के नृत्य को इतिहास दृष्टि में रखकर यह मानना पड़ता है कि नाटक इससे पूर्व भी विद्यमान था जो कि इस नृत्य का आधार था।

छायानाटकवाद—प्रो० लूडर्स (Luders) का कहना है कि संस्कृत नाटकों का विकास छाया द्वारा खेल दिखाने की प्रथा से हुआ है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि रूपक शब्द जितना अन्वर्थ इस सिद्धान्त के अनुसार सिद्ध होता है उतना किसी और से नहीं, पर विचारक इसे भी त्रुटिपूर्ण मानते हैं। डॉ० कीथ का तो स्पष्टतया कहना है कि यह सिद्धान्त महाभाष्य के एक प्रसंग के अशुद्ध अर्थ पर आधृत है और यहाँ यह भी न भूलना चाहिये कि इस सिद्धांत के पक्षपाती को भी रूपकों की सत्ता छाया-नाटक के जन्म से पूर्व स्वीकार करनी होगी। साथ ही इसमें एक सबसे बड़ी त्रुटि यह भी है कि इसके आधार पर रूपकों के गद्य-पद्य के मिश्रण और संस्कृत प्राकृत के प्रयोग का कोई कारण नहीं बतलाया जा सकता।

संवाद सूक्तवाद—ऋग्वेद में पन्द्रह से अधिक संवाद सूक्त ऐसे मिलते हैं जिनमें धार्मिक भावनाओं के अतिरिक्त लोक-व्यवहार से सम्बन्ध रखने वाले संवाद हैं। सर्वप्रथम सन् १८६६ में प्रो० मैक्समूलर का ध्यान इन संवाद सूक्तों की ओर गया और उन्होंने इन सूक्तों को नाटकों की उत्पत्ति का मूल स्रोत बतलाया। कुछ समय पश्चात् प्रो० लेवी (Levi) ने प्रो० मैक्समूलर के मत का समर्थन करते हुए कहा कि इन सूक्तों में धार्मिक भावना से पूर्ण नाटकों में दृश्यों के दर्शन होते हैं। इसी प्रकार वॉन श्रोडर (Von Shroeder) ने भी इस सिद्धांत पर सपरिश्रम विचार करके यह प्रमाणित करने का प्रयत्न किया कि इन सूक्तों से रहस्यपूर्ण नाटकों (Mystry-Plays) की सूचना मिलती है। डॉ० हर्टल ने तो एक कदम और आगे बढ़कर यह घोषणा की कि वैदिक नाटक के विकास का मूल रूप सुपर्णाध्याय के अन्दर दृष्टिगोचर होता है पर यह मत भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता। हाँ, इतना अवश्य है कि ऋग्वेद में कई ऐसे संवाद सूक्त हैं जिनमें दो या अधिक वक्ताओं के बीच सम्भाषण प्रस्तुत किया गया है और अर्वाचीन अधिकांश विचारक संवाद को ही नाट्य साहित्य का प्राथमिक रूप मानते हैं।

वैदिकानुष्ठानवाद—ऋग्वेद के मरुत सूक्त के मन्त्र की व्याख्या करते हुए

जर्मन विद्वान् मैक्समूलर ने यह प्रतिपादित किया था कि संस्कृत रूपक की उत्पत्ति वैदिक कर्मकाड से हुई है और अब तो अधिकांश विचारक यह मानते हैं कि रूपक के प्राय: समस्त उत्पादन वैदिक अनुष्ठानों में विद्यमान हैं तथा प्रो० हंसराज अग्रवाल ने इस सम्बन्ध से निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—

(अ) रूपक के आवश्यक घटक हैं—नृत्य, गीत और संवाद। नृत्य का उल्लेख ऋग्वेद में मौजूद है। उदाहरणार्थ, विवाद सूक्त में पुरन्ध्रियाँ नव दम्पत्ति के आयुष्यार्थ नृत्य करती हैं। गीत को तो सामवेद में सभी मानते हैं। ऋग्वेद के संवाद सूक्तों का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

(आ) वैदिक अनुष्ठान छोटी-छोटी अनेक क्रियाओं के सूत्रों से प्रगुम्फित जाल थे। उनमें से कुछ नाटकीय तत्त्व भी विद्यमान थे। यह ठीक है कि यह कोई वास्तविक नाटक नहीं था, क्योंकि नाटक का अभिनय करना ही मुख्य उद्देश्य नहीं था। अभिनेता लोग द्वारा सीधा धार्मिक फल चाहते थे।

(इ) महाव्रत अनुष्ठान वस्तुत: एक प्रकार से नाटक था। इस अनुष्ठान में कुमारियाँ अग्नि के चारों ओर नाचती थीं। शूद्र और वैश्य का प्रकाशार्थ कलह करना वस्तुत: नाटकीय अभिनय है।

(ई) यज्ञ सूत्रों (Sacrificial Sessions) के अन्तरालों यज्ञ मंडप में बैठे हुए यजमानों और याचकों के मनोविनोदार्थ वार्तालापमय सूक्त पढ़े जाते थे। इस धारणा की पुष्टि हरिवंश पुराण से होती है।

(उ) कई विद्वान् कहते हैं कि नाटकों में गद्यमय संवाद महाव्रत अनुष्ठान में प्रयुक्त संवाद को देखकर बढ़ाया गया है। यदि इस विचार को ठीक मान लें तो रूपक के सब उपादान तत्त्व हमें वैदिक अनुष्ठान में मिल जाते हैं।

इस प्रकार भारतीय विचारक वैदिक अनुष्ठानों से ही संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति का समर्थन करते हैं, पर कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं वैदिक संवाद सूक्तों की नाटकीय संवाद सूक्त समझने की त्रुटि न करनी चाहिये क्योंकि प्राचीन भारतीय यज्ञों में जो कर्मकांड होते थे, वह नाटकीय न होकर वैसे ही पौराहित्य कर्म मात्र होते थे जैसे ईसाई गिरजाघरों में हुआ करते हैं; जहाँ पादरी कहते हैं —'अपने हृदय ऊपर उठाओ' और उपस्थित जन-समूह उत्तर देता है —'हम अपने हृदय भगवान् तक उठाते हैं।'

रूपक का यूनानी उद्भव

कतिपय पाश्चात्य विचारक संस्कृत नाटकों की उत्पत्ति यूनानी रूपकों के फलस्वरूप मानते हैं और सर्वप्रथम जर्मन विद्वान् डॉ० वेबर (Weber) ने संस्कृत नाटकों पर ग्रीक प्रभाव पड़ने की बात का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि नाटक के उपादान प्राचीन संस्कृत साहित्य में इतने कम हैं कि उनके आधार पर नाटक जैसी कमनीय कला का उदय नहीं हो सकता और सिकन्दर महान् के आक्रमण के पश्चात् जो कुछ यूनानी भारतीय समुद्री तट पर निवास करने लगे थे वह आमोद-प्रमोद के लिए जिन उपकरणों को जुटाते थे उनमें से नाटक भी एक था, अत: भारतीयों को इन नाटकों का अभिनय देखकर प्रेरणा व स्फूर्ति प्राप्त हुई। डॉ० वेबर की इस भ्रांतिपूर्ण

धारणा का खण्डन एक अन्य जर्मन विद्वान् डॉ० पिशेल ने कुछ दृढ़ता के साथ किया कि बहुत दिनों तक भारतीय नाटकों पर यूनानी प्रभाव पड़ने की चर्चा दबी-सी रही लेकिन कुछ समय पश्चात् विंडिश (Windisch) ने पुनः भारतीय नाटकों व यूनानी नाटकों में सादृश्य दिखाते हुए संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त यवनिका या जवनिका शब्द को यूनानी पद 'यवन' से व्युत्पन्न मानते हुए यूनानी नाटकों को भारतीय नाटकों का मूल स्रोत सिद्ध करने का प्रयास किया।

ऐतिहासिक कसौटी पर कसने से उक्त मत वास्तविकता से नितांत परे जान पड़ता है, क्योंकि न तो इस बात का कोई प्रमाण ही मिलता है कि ग्रीक रूपक भारत में अभिनीत किए गए थे और न यूनानी नाटकों का रचनाकाल ही संस्कृत नाटकों से पूर्ववर्ती सिद्ध हो पाता है। इतिहास ग्रन्थों के अनुसार सिकन्दर ने भारत आक्रमण ३२६ ई० पू० में किया था, पर पाणिनि ने जिनका समय ४८० ई० पूर्व पाश्चात्य विद्वान् भी मानते हैं, अपने 'पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनट सूत्रयोः' नामक सूत्र में नाट्यों सूत्र का उल्लेख किया है, अतः इससे स्पष्ट है कि पाणिनि के समय या उससे पूर्व नाटकों की रचना हो चुकी होगी; क्योंकि लक्षण ग्रन्थों की रचना लक्षण ग्रन्थों के पश्चात् ही होती है। साथ ही संस्कृत रूपकों में प्रयुक्त 'यवनिका' शब्द का प्रयोग केवल इसलिए होता था कि यवन देश से आए वस्त्रों से पर्दे तैयार होते थे पर यूनानी रूपकों में तो पर्दे का प्रयोग ही नहीं है अतः उक्त सिद्धान्त स्वयं ही निराधार सिद्ध हो जाता है। इतना ही नहीं अन्तरात्मा, कथावस्तु, क्रम और निर्माण सिद्धान्त की दृष्टि से भी यूनानी नाटक व संस्कृत एक दूसरे से सर्वथा विपरीत दिशा में चलते हैं अतः भारतीय नाटकों पर यूनानी नाटकों के प्रभाव की बात स्वीकार करना किसी भी दृष्टि से युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

उक्त सभी मतों का अनुशीलन करने के पश्चात् हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत नाटकों के उद्भव के सम्बन्ध में किसी एक वाद-विशेष या मत को ही प्रमुखता प्रदान करना उचित न होगा, क्योंकि उसके विकास में तो शनैः-शनैः सभी तत्त्व सहायक रहे हैं। इस प्रकार हम वैदिक संवाद सूक्तों में संस्कृत नाटकों के उद्भव की प्रारम्भिक झलक भले ही अनुमानित कर लें परन्तु यह भी पूर्ण सत्य है कि संस्कृत नाटकों का विकास शनैः-शनै एक-दो नहीं अनेक शतकों में हो गया होगा। प्रो० हंसराज अग्रवाल के शब्दों में "यह—रूपक का विकास—मानों एक सजीव शरीर था, जिसके रूप में बार-बार परिवर्तन हुए, जिसको जो मिला उसी को हड़प कर लिया और फिर भी अपना स्वरूप अक्षुण्ण कर रक्खा।"

प्रश्न (४७) संस्कृत नाट्य-साहित्य का संक्षिप्त विकास दिखलाते हुए संस्कृत साहित्य के प्रमुख नाटककारों का परिचय दीजिए।

प्रश्न (४८) निम्नलिखित नाटककारों की नाट्यकला का संक्षेप में आलोचनात्मक परिचय दीजिए।

(क) भास (ख) शूद्रक (ग) कालिदास (घ) अश्वघोष (ङ) हर्ष (च) भवभूति (छ) विशाखदत्त (ज) भट्टनारायण (झ) मुरारि (ञ) दामोदर मिश्र (ट) राजशेखर (ठ) कृष्ण मिश्र (ड) जयदेव (ढ) वत्सराज।

प्रवेश

वैदिक काल में नाटक के प्रधान अंग नृत्य, संगीत व संवाद का अस्तित्व विद्यमान था और यही अंग विकसित होकर कालांतर में नाटक के रूप में परिवर्तित हो गये, अतः संस्कृत नाटकों के उद्गम में वेदों के इस महत्त्वपूर्ण योगदान को देखते हुए विश्व साहित्य में भारतीय नाट्य साहित्य को सर्वाधिक प्राचीन समझना चाहिए क्योंकि वेदों को विश्व में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है। इस प्रकार संस्कृत नाट्य साहित्य का विकास क्रमशः वैदिक काल से ही हुआ और इसे स्पष्ट करते हुए प्रो० इन्द्रपाल सिंह 'इन्द्र' ने कहा भी है "वेदों में ऐसे संकेत अवश्य मिलते हैं, जिनसे वैदिक काल में नाटकों की स्थिति सिद्ध होती है। ऋग्वेद के सूक्तों से सोमविक्रय से समय होने वाले अभिनय का पता चलता है। 'महाव्रतस्तोम' के अवसर पर कुमारियाँ नृत्य गान के साथ अग्नि की परिक्रमा करती थीं। शुक्ल यजुर्वेद की वाजसनेय संहिता के तीसवें अध्याय को छठवीं कंडिका में 'शैलूष' शब्द आता है, जिसका अर्थ है अभिनेता। कहा जाता है कि एक सूत का नृत्त के लिए और 'शैलूष' को गाने के लिए नियुक्त किया जाना चाहिए। सामवेद के स्तोत्र तो रागबद्ध हैं ही, जिससे ज्ञात होता है कि वैदिक युग में संगीत पूर्ण विकासावस्था में था। वैदिक यज्ञ प्रधानतः अनुकृति ही थे। कौशीतकी ब्राह्मण में ज्ञय के पुरोहित नृत्य करते हुए वर्णित हैं। उसी ब्राह्मण में संगीत (गान, नृत्य और वाद्य) यज्ञ-योगादि का ही एक भाग कहा गया है। इससे यह सिद्ध हो जाता है कि वैदिक युग में वे सभी उपादान प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं जो नाटक के विकास के लिए अपेक्षित हैं।

वाल्मीकि रामायण में नट, नर्तक, नाटक, नृत्य का उल्लेख अनेक स्थलों पर मिलता है। नृत्य तथा नाटकीय दृश्य उस समय नगरों और प्रासादों में होते थे। मामा के घर दुःस्वप्न देखने से चिन्तित भरत को गीत, नृत्य और आनन्द-प्रदायक नाटकों से ही प्रसन्न करने की चेष्टा की गई थी। महाभारत में भी नट' नाटक, गायक तथा सूत्रधार इत्यादि शब्द आए हैं। हरिवंश पर्व में, जो महाभारत का ही अंग है, स्पष्ट निदेश है कि उस समय रामायण का नाटक के रूप में प्रदर्शन होता था। वज्रनाभ के वध और प्रद्युम्न के विवाह के प्रकरण में रामायण नाटक और कौबेर रम्भाभिसार नामक नाटकों के प्रदर्शन का उल्लेख विस्तार से किया गया है। यह भी कहा गया है कि प्रसिद्ध अभिनेता एक नाटक में विष्णु भगवान् का जन्म उनकी राक्षसों के मारने की इच्छा की पूर्ति के हेतु प्रस्तुत करते हैं।

कतिपय पुराणों में भी नाटकों के अभिनय का उल्लेख है। श्रीमद्भागवत पुराण में अभिनेताओं का उल्लेख है। मार्कण्डेय पुराण में हम राजा शुक्रजीत के पुत्र ऋतुध्वज को नाटकाभिनय में अभिरुचि लेते हुए पाते हैं। वह अपना समय काव्य, संगीत और नाटकों की उन्नति में प्रसन्नतापूर्वक बिताता था।

बौद्ध साहित्य में भी नाटक की प्राचीनता सिद्ध होती है। 'दीर्घनिकाय' में विभिन्न प्रकार के मनोरंजन दृश्यों सम्बन्धी शब्द की सूची मिलती है। 'अवदानशतक' में एक रूपक के रंगमंच पर प्रदर्शित करने का स्पष्ट उल्लेख है।

जैनियों के 'सत्तपसेणीय सुत्त' नामक आगम ग्रन्थ में अम्बसाल वन में महावीर स्वामी की वन्दना करते हुए सूर्याभदेव द्वारा बत्तीस प्रकार के अभिनयात्मक नाटक दिखाने का उल्लेख किया गया है। महावीर स्वामी के लगभग दो सौ वर्ष बाद भद्रबाहु

द्वारा रचित कल्प सूत्र में नाटक देखने से जैन साधुओं को विरत होने का उपदेश दिया गया है ।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नाटक मंडलियों के कार्य तथा उनकी व्यवस्था का पर्याप्त वर्णन है । एक स्थान पर इसमें उल्लेख है कि यदि कोई नाटक मंडली अन्य देश से रंगमंच पर नाटक प्रदर्शित करने के लिए आती थी तो उसे ५ पन राज्य को देने पड़ते थे । एक स्थान पर यह वर्णन है कि राजा का कर्त्तव्य होता था कि वे स्त्रियों के लिए ऐसे अध्यापकों की नियुक्ति करें जो उनको रंगमंच पर अभिनय करना, गाना, नृत्य, अभिनय, लिखना, चित्रकला, वाद्य (विशेषतः वीणा, वेणु और मृदंग), हार बनाना, अपने शरीर को अलंकृत करना सिखा सकें और इस सबका व्यय राज्य को उठाना था । अन्य अभिनेताओं की रक्षा के लिए गणिक पुत्र तथा मुख्य नट नियुक्त किये जाते थे । अर्थशास्त्र में यह भी उल्लेख है कि राजा ऐसे नटों, नर्तकों, गायकों, वादकों, कहानी कहने वालों, अभिनेताओं और ऐन्द्रजालिकों को नियुक्त करते थे जो शत्रु के यहाँ गुप्तचर का कार्य कर सकें ।

वात्स्यायन ने अपने कामसूत्र में अत्यन्त पुरातन युग के नाटककारों का उल्लेख किया है, जिनकी पृष्टियाँ नष्ट हो गई हैं । उसने विदूषक, पीठ मर्द, विट और कुशीलव आदि के कार्यों का उल्लेख किया है । पूर्व युग में राजाओं के द्वारा नियुक्त नटों को सरस्वती मन्दिर में नाटकों का अभिनय करना पड़ता था । अन्य देशीय अभिनेताओं के साथ वही व्यवहार होता था जो अपने देश वालों के साथ ।

पाणिनी ने भी अपने ग्रन्थ अष्टाध्यायी में शिलाली और कृशाश्व के नट सूत्रों का उल्लेख किया है, जिससे यह सिद्ध होता है कि इस समय नाटकों का इतना प्रचार था कि नटों की शिक्षा के लिए स्वतन्त्र सूत्र ग्रन्थों की रचना होने लगी थी ।

पतंजलि ने महाभाष्य में 'कंस वध' और 'वलिवध' के रंगमंच पर प्रदर्शित करने का उल्लेख किया है । महाभाष्य में 'रसिकोनटः' पद सिद्ध करता है कि पतंजलि के समय रस सिद्धान्त का भी पूर्ण ज्ञान था ।

इस विवरण से सिद्ध होता है कि नाटक की उत्पत्ति भारत में ही हुई और वह वैदिक काल से क्रमशः विकसित होता हुआ अपने उत्पन्न स्वरूप को प्राप्त कर सका है ।[1] इतना होते हुए भी यहाँ यह विचारणीय है कि संस्कृत का सर्वप्रथम नाटककार किसे माना जाय और इस सम्बन्ध में हमें यह न भूलना चाहिए कि प्राचीन ग्रन्थों में जिन अनेक नाट्यकृतियों का नामोल्लेख हुआ है उनमें से कोई भी कृति उपलब्ध नहीं है अतः अब अधिकांश अर्वाचीन विचारक भास को ही संस्कृत साहित्य का पहला नाटककार मानते हैं और हम भी इस मत से सहमत हैं ।

भास

परिचय और कृतियाँ—यद्यपि सन् १९०९ ई० के पूर्व विद्वानों का यही कहना था कि महाकवि कालिदास ही संस्कृत साहित्य के सर्वप्रथम नाटककार हैं और प्रो० मेकडॉनेल ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' में यही मत व्यक्त किया है पर सन् १९०९ ई० में त्रावणकोर राज्य के तत्कालीन महराजा की आज्ञा से स्वर्गीय महामहोपाध्याय श्री टी० गणपति शास्त्री को पुराने हस्तलिखित ग्रंथों की

१. संस्कृत नाटक समीक्षा, भू०, पृ० ९-११

खोज करते समय तीन-चार सौ वर्ष पूर्व के लिखे हुए तेरह रूपक मिले जिन्हें कि उन्होंने भास की अमर कृतियों के रूप में घोषित किया। यों तो स्वयं सुप्रसिद्ध महाकवि और नाटककार कालिदास ने भी अपनी नाट्य कृति 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास को विख्यात यश वाला मानते हुए कहा है—

प्रथित यशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादोनां प्रबन्धानतिक्रम्य कथं वर्तमानस्य कवेः कालिदासस्य कृतौ बहुमानः।

इससे यह स्पष्ट है कि कालिदास के समय में भास को पर्याप्त ख्याति प्राप्त हो चुकी थी, पर इतना होते हुए भी सन् १६०६ तक उनकी कृतियों के अभाव में अर्वाचीन साहित्यकारों ने उनकी उपेक्षा ही की और जब उनके तेरह रूपक मिल भी गये तब भी भास विषयक विवाद बना ही रहा। चूंकि भास के इन तेरह रूपकों में कर्त्ता के नाम का उल्लेख नहीं है अतः उनके रचयिता के सम्बन्ध में बहुत दिनों तक विवाद होता रहा और इस सम्बन्ध में विद्वानों में निम्नलिखित तीन दल बन गए—

(१) प्रथम मत के अनुसार उक्त तेरह नाटक निश्चित रूप से भास के ही हैं और उनका रचनाकाल कालिदास से पूर्व का है।

(२) दूसरे मत के अनुसार इन नाटकों का रचयिता या तो 'मत विलास प्रसहन' का रचयिता युवराज विक्रम था या 'आश्चर्य चूडामणि' नाटक का रचयिता शीलभद्र। इस विचारधारा के समर्थक इन तेरह नाटकों को सातवीं-आठवीं शती को किसी दाक्षिणात्य कवि की कृतियाँ मानते हैं। प्रो० सिलवाँ लेवी, प्रो० विंटरनिट्ज और प्रो० सी० आर० देवधर इसी मत के अनुगामी हैं।

(३) तीसरे मत के अनुसार यह तेरह नाटक भास के ही हैं पर यह जिस रूप में प्राप्त हुए हैं वह संक्षिप्त (Abridged) रंगमंचोपयुक्त रूप ही है। डॉ० दास गुप्ता ने इसी मत का प्रतिपादन किया है।

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य विचारधाराएँ भी हैं और कुछ विद्वान् इनमें से 'स्वप्नवासवदत्ता' व 'प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्' को तो भास के ही नाटकों का संक्षिप्त रूप मानते हैं पर 'दरिद्रचारुत्तम्' को शूद्रक के मृच्छकटिक के आरम्भिक चार अंकों का संक्षिप्त रूप, लेकिन अब अधिकांश विद्वानों ने इन नाटकों का रचयिता भास को ही माना है और डॉ० भोलाशंकर व्यास ने इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

(१) ये सभी नाटक 'नान्द्यते ततः प्रविशति सूत्रधारः' से आरम्भ होते हैं। जबकि बाद के संस्कृत नाटकों में—कालिदास में भी—पहले नांदी पाठ होता है, तब वाक्य पाया जाता है, जब बाण भास के नाटकों को 'सूत्रधार कृतारम्भ' कहता है, तो इसी विशेषता का संकेत करता है।

(२) इन नाटकों में प्रस्तावना को इस पारिभाषिक संज्ञा से व्यवहृत न कर 'स्थापना' कहा गया है।

(३) अन्य संस्कृत नाटकों की तरह 'स्थापना' में नाटक तथा नाटककार के नाम का संकते नहीं मिलता, जो शास्त्रीय (Classical) संस्कृत नाटकों की परम्परा है। अतः ये नाटक इस परम्परा से पूर्व के हैं।

(४) प्रत्येक नाटक का भरत वाक्य प्रायः 'इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तुनः' से या इस भाव के अन्य पद्य से समाप्त होता है।

(५) सभी नाटकों के समान संघटना पाई जाती है, तथा कुछ नाटकों के प्रारम्भिक पद्य में मुद्रालंकार पाया जाता है।

(६) इनमें से एक नाटक—स्वप्नवासवदत्तम् का उल्लेख राजशेखर ने किया है और उनका वह संकेत इस नाटक के इतिवृत्त से मिलता है।

(७) भास के नाटकों के कई उल्लेख या उद्धरण अलंकार ग्रन्थ में भी मिलते हैं। वामन ने स्वप्नवासवदत्ता, प्रतिज्ञायौगन्धरायण और चारुदत्त के उदाहरण दिए हैं। भामह ने प्रतिज्ञायौगन्धरायण की आलोचना करते हुए उससे पंक्तियाँ उद्धृत की हैं। दण्डी ने बालचरित तथा चारुदत्त के 'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' आदि पद्य को उदाहृत किया है और अभिनव गुप्त ने अभिनवभारती (नाट्यवेदविवृत्ति) तथा 'लोचन' में स्वप्नवासवदत्तम् का उल्लेख किया है और एक पद्य (लोचन) उद्धृत भी किया है। राजशेखर ने निश्चित रूप से स्वप्नवासवदत्तम् को भास के नाम से उल्लिखित किया है।

(८) इन नाटकों की संस्कृत शुद्ध शास्त्रीय नहीं है, और उनमें कई अपाणिनीय प्रयोग मिलते हैं। उनकी शैली सरल है तथा कालिदास जैसी स्निग्धता (Polish) लेकर नहीं आती। इन नाटकों की प्राकृत कालिदास की प्राकृत से पुरानी है।

(९) इन नाटकों में भरत के नाट्य-शास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः निर्वाह नहीं हुआ है। भरत ने जिन दृश्यों को मंच पर दिखाने का निषेध किया है, उनमें से कई दृश्य इन नाटकों में दिखाए गए हैं। इससे यह स्पष्ट है कि ये नाटक उस काल के हैं, जब भरत के सिद्धान्त पूर्णतः प्रतिष्ठित न हुए थे।

भास का जीवन-वृत्त तिमिराच्छन्न ही है और कुछ विद्वान् उन्हें उज्जयिनी का निवासी मानते हैं क्योंकि उन्होंने उदयन की कथा नाटकों के लिए चुनी थी, तथा कुछ उन्हें किसी क्षत्रप राजा के आश्रित मानते हैं, जिसका संकेत उनके 'भरत वाक्य' के 'राजसिंह' नामक पद से मिलता है पर इन सभी मतों की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती। चूँकि कालिदास ने अपने प्रथम नाटक 'मालविकाग्निमित्र' की प्रस्तावना में भास का सादर उल्लेख किया है। अतः वह निस्संदेह कालिदास से पूर्ववर्ती थे और अब अधिकांश विद्वान् कालिदास का समय प्रथम शताब्दी ई० पू० मानते हैं। अतएव भास इनके पूर्व ही हुए होंगे। श्री गणपति शास्त्री ने साक्ष्य प्रस्तुत करते हुए भास का समय ४०० ई० पू० माना है और यह उचित भी जान पड़ता है।

एक जनश्रुति के अनुसार भास ने तीस से अधिक ग्रन्थों की रचना की, पर अभी तक खोज में केवल तेरह रूपक—नाटक ही उपलब्ध हुए हैं और उन्हें विषय-वस्तु की दृष्टि से निम्नलिखित चार वर्गों में रखा जा सकता है—

१—रामायण की कथा पर आधारित रूपक—प्रतिमा और अभिषेक।

२—महाभारत पर आधारित रूपक—बालचरित, पंचरात्र, मध्यम व्यायोग, दूत वाक्य, दूत घटोत्कच, कर्णभार, उरुभंग।

३—उदयन सम्बन्धी कथा पर आधारित रूपक—स्वप्नवासवदत्तम्' प्रतिज्ञा-यौगंधरायण।

४—कल्पित रूपक—अविमारक और दरिद्रचारुदत्तम् ।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भास के इन तेरह रूपकों में से स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, बालचरित, पंचरात्र, प्रतिमा, अभिषेक, अविमारक व चारुदत्त पूर्ण नाटक हैं और मध्यम व्यायोग, दूतवाक्य, दूत घटोत्कच, कर्णभार व उरुभंग में केवल एक ही अंक हैं अतः इन्हें एकांकी कहा जा सकता है ।

नाट्यकला—समीक्षक एक मत हो यह स्वीकार करते हैं कि "भास कथावस्तु के विन्यास में और पात्रों के चरित्र-चित्रण में प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार हैं" तथा भास के नाटकों का अनुशीलन करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि उनकी नाट्यकृतियों की कथावस्तु का क्षेत्र बहुमुखी है और यह विविधता उनकी प्रतिभा की मौलिकता भी व्यक्त करती है । पर "इतना होते हुए भी भास के सभी नाटकों में एक-सी नाट्य कुशलता नहीं मिलती । रामायण से सम्बद्ध नाटकों का कथा संविधान बहुत शिथिल है तथा भास की नाटकीय कुशलता का परिचायक नहीं कहा जा सकता; जबकि महाभारत से सम्बद्ध नाटकों में भास की प्रतिभा अधिक व्यक्त हुई है । कवि ने महाभारत से सम्बद्ध इतिवृत्तों में विशेष दिलचस्पी दिखाई है । किन्तु भास को सबसे अधिक सफलता उदयन की रोमैंटिक कथा से सम्बद्ध नाटकों में मिली है, तथा स्वप्नवासवदत्तम् एवं प्रतिज्ञायौगंधरायण भास के नाटकों में निश्चित रूप से उच्चकोटि के नाटक हैं ।" इतना होते हुए भी भास के नाटकों की समग्र रूपेण समीक्षा करने के पश्चात् यही मत व्यक्त करना पड़ता है कि घटना ऐक्य, घटना की सार्थकता और घटनाओं की घात-प्रतिघात गति की दृष्टि से वह निस्संदेह सफल रहे हैं ।

चरित्र-चित्रण में अवश्य भास ने अपनी निपुणता का पूर्ण परिचय दिया है और समीक्षक इस सम्बन्ध में यही मत व्यक्त करते हैं "भास के पात्र प्रकार मात्र (टाइप) न होकर वस्तुतः सजीव व्यक्ति हैं । उनका व्यक्तित्व इतना सुस्पष्ट है कि हम उन्हें नहीं भूल सकते । भास के उदयन में गम्भीरता है । धीरोदात्तता है । अपनी प्रियता के नाश की अभव्य बात सुनने पर भी विह्वलचित होकर वह विक्षिप्त नहीं बन जाता । इसकी तुलना में हर्ष का उदयन (प्रियदर्शिका तथा रत्नावली में चित्रित) बिल्कुल फीका, विवर्ण तथा अनाकर्षक पात्र है । नाटिका के लिए उसे धीरललित बनाकर हर्ष ने उसके भव्य चरित्र का अपकर्ष ही दिखलाया है । प्रतिज्ञा नाटक में यौगन्धरायण की बुद्धिमत्ता तथा लोकचातुरी का रुचिर चित्रण कर भास ने उसे एक आदर्श अमात्य के रूप में दिखलाया है । भास की नायिकाएँ भी कम मनोरंजक नहीं हैं । वासवदत्ता के औदार्य का चित्रण पतिव्रता के आदर्श रूप की झाँकी है । वासवदत्ता अपनी वास्तविकता को छिपाकर अपने पतिदेव के कल्याण के निमित्त अपूर्व त्याग का परिचय देती है । पद्मावती के साथ रहने पर उससे किसी प्रकार सपत्नी द्वेष नहीं करती, प्रत्युत् वह स्वयं पद्मावती के साथ उदयन का विवाह होने देती है । इसी प्रकार भास के नाटकों की रस योजना भी सराहनीय है और उनमें विषयानुसार विविध रसों का सन्निवेश होते हुए भी वीर व शृङ्गार की प्रधानता है । साथ ही भास के नाटकीय संवाद चुस्त, संक्षिप्त, सरल व प्रभावोत्पादक हैं और उनकी शैली में क्लिष्टकल्पना, दुरूह समस्त पदावली एवं विकट बंधता का अभाव है तथा भास में अनेक अपाणिनीय प्रयोग होते हुए भी उसे दोषपूर्ण नहीं कहा जा सकता । भावों की स्वाभाविक अभिव्यक्ति के हेतु भास ने उपमा

रूपक व उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों का भी प्रयोग किया है और कुछ पात्रों की मृत्यु को दृश्य रंगमंच पर दिखाते हुए भी उनके नाटकों में अभिनेयता है। अतः नाट्यकला की दृष्टि से भास पूर्ण सफल रहे हैं।

शूद्रक और मृच्छकटिक

परिचय—संस्कृत नाट्य साहित्य में मृच्छकटिक का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है और इसमें कोई संदेह नहीं कि "मृच्छकटिक अपने ढङ्ग का अकेला नाटक है, जिसमें एक साथ प्रणयकथात्मक प्रकरण, धूर्तसंकुल भाण तथा राजनीतिक नाटक का वातावरण दिखाई देता है, पर इसके रचयिता और रचनाकाल का प्रश्न बहुत दिनों तक विवादग्रस्त रहा है। यों तो 'मृच्छकटिक' की प्रस्तावना में कहा गया है कि इसकी रचना द्विजश्रेष्ठ शूद्रक ने की थी, जो ऋग्वेद, सामवेद, हस्तिशिक्षा आदि विद्याओं व कलाओं में पारंगत था। जिसने अपने पुत्र को राजा बनाकर सौ वर्ष से अधिक उम्र में अग्निप्रवेश किया पर कीथ का कहना है कि कोई भी व्यक्ति अपनी मृत्यु को पहले से नहीं जान सकता। अतः वह इस अंश को प्रक्षिप्त मानते हैं और मृच्छकटिक को किसी अन्य व्यक्ति की रचना बतलाते हैं। ठीक इसके विपरीत स्कंद पुराण के कुमारिका खंड, अवंतिसुन्दरी-कथासार आदि ग्रन्थों और राजशेखर व प्रो० स्टेन कोनो आदि के विचारों के आधार पर अब अधिकांश विद्वान् यही मत व्यक्त करते हैं कि शूद्रक कोई काल्पनिक पुरुष न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति हैं तथा मृच्छकटिक उन्हीं की रचना है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि डॉ० सालेहर आदि कुछ विचारक मृच्छकटिक को किसी एक व्यक्ति द्वारा न रची जाकर दो लेखकों द्वारा रची गयी कृति बतलाते हैं पर इस प्रकार के मत समीचीन नहीं जान पड़ते और आज भी अधिकांशतः यही माना जाता है कि शूद्रक कोई काल्पनिक व्यक्ति न होकर ऐतिहासिक व्यक्ति थे तथा वही मृच्छकटिक के रचयिता थे। इसी प्रकार मृच्छकटिक का रचनाकाल भास और कालिदास के समय के मध्य माना जाता है तथा प्रो० चन्द्रशेखर पांडेय ने कई प्रमाण प्रस्तुत करते हुए इसे तृतीय शताब्दी ई० पू० की रचना माना है जो उचित भी जान पड़ता है।

नाट्यकला—जैसा कि प्रो० कान्तिकिशोर भारतीय का कहना है "यह ग्रन्थ दस अंकों का प्रकरण है जिसमें दरिद्र ब्राह्मण चारुदत्त और वेश्या बसंतसेना की प्रणय कथा वर्णित है। चारुदत्त और राजा का साला शकार दोनों ही वसन्तसेना पर अनुरक्त हैं। एक दिन शकार वसन्तसेना का पीछा करता है और रात होने के कारण युक्ति से वसन्तसेना चारुदत्त के घर में प्रविष्ट हो जाती है तथा अपनी बहुमूल्य रत्नावली उसके समीप रख देती है। वसन्तसेना की दासी मदनिका शर्वलिक पर मुग्ध है जो अपनी प्रेमिका को मुक्त कराने के हेतु चारुदत्त के घर में सेंध लगाकर वसन्तसेना के आभूषण चुरा लेता है और उसको वसंतसेना को समर्पित कर मदनिका को उसकी सेवा से मुक्त कर लेता है। चारुदत्त की पतिव्रता पत्नी धूता उन आभूषणों के स्थान पर अपने रत्न वसंतसेना को देती है। इसी अवसर पर चारुदत्त का पुत्र रोहसेन अपनी मिट्टी की गाड़ी लिए हुए वसंतसेना के घर जाता है और वसन्तसेना अपने रत्नों को उसकी मिट्टी की गाड़ी में भर देती है और उससे सोने की गाड़ी खरीदने का आदेश देती है। मृच्छकटिक अर्थात् मिट्टी की गाड़ी इस प्रकरण का नामकरण भी इसी घटना के आधार पर हुआ है।

दूसरे दिन चारुदत्त पुष्पकरंजक नामक उद्यान में जाता है और वसंतसेना भी उसके समीप जाने को उद्यत होती है किन्तु भ्रमवश चारुदत्त की गाड़ी के समीप ही खड़ी हुई शकार की गाड़ी में बैठ जाती है। इसी अवसर पर कुछ ज्योतिषी भविष्यवाणी करते हैं कि तत्कालीन राजा पालक के पश्चात् गोपाल का पुत्र आर्यक राज्यारूढ़ होगा। राजा इस घटना पर विश्वास कर आर्यक को बन्दीगृह का दंड देता है। आर्यक अधिकारियों से बचकर चारुदत्त की गाड़ी में बैठ जाता है। लोहे की बेड़ियों की ध्वनि को सारथी आभूषणों की झनकार समझ कर गाड़ी हाँक देता है। आर्यक चारुदत्त के समीप पहुँचता है और उससे मित्रता कर कहीं छिप जाता है। वसन्तसेना को चारुदत्त के स्थान पर शकार मिलता है जो उससे प्रणय का प्रस्ताव करता है और जिसे वसन्तसेना ठुकरा देती है। शकार क्रुद्ध होकर उसका गला घोंट देता है और संवाहक नामक एक बौद्ध भिक्षु उसका उपचार कर पुनः जीवित करता है।

शकार न्यायालय में उपस्थित होता है और चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या का मिथ्या अभियोग लगाता है जिस कारण उसे प्राणदंड मिलता है। इस अवसर पर चारुदत्त का मित्र आर्यक पालक को मार स्वतः राजा बन जाता है। चारुदत्त के स्थान पर मिथ्या अभियोग लगाने के कारण न्याय के अनुसार शकार को मृत्युदंड देता है। चारुदत्त को क्षमा कर देते हैं और अंत में वसन्तसेना और चारुदत्त दोनों का विवाह हो जाता है।

इस कथावस्तु के निर्वाह में शूद्रक को अपूर्व सफलता प्राप्त हुई है और घटना चक्र की दृष्टि से 'मृच्छकटिक' को संस्कृत नाटकों में अपूर्व माना जाता है तथा सम्पूर्ण नाटक में कार्य व्यापार (Action) को ही प्रधानता प्राप्त है। इस प्रकार मृच्छकटिक की कथा संवादों की अपेक्षा अभिनय द्वारा गतिशील होती है और कथानक विस्तृत होते हुए भी अरोचक नहीं है तथा वस्तु विन्यास प्राच्य नाट्यप्रणाली के साथ-साथ पाश्चात्य नाट्यकला के अनुरूप भी है। यहाँ यह भी न भूलना चाहिए कि अधिकांश संस्कृत नाटकों में इतिहास प्रसिद्ध राजाओं की कथा छोड़ मध्य वर्ग से कथावस्तु का चयन किया है अतः उसे संस्कृत का एकमात्र यथार्थवादी नाटक कहा जाता है।

मृच्छकटिक शुद्ध चरित्र-चित्रण-प्रधान नाटक है और उसमें पात्रों की अधिकताव वैविध्यता के एक साथ दर्शन होते हैं पर चरित्र चित्रण की दृष्टि से लेखक असफल नहीं रहा। सच तो यह है कि इस नाटक में पहली बार समाज के सभी वर्गों से चुने हुए पात्र मिलते हैं और लेखक ने जीवन का आदर्श उपस्थित करने वाले पात्रों के साथ यथार्थ जगत के पात्रों की भी सृष्टि की है। यदि उसमें आदर्श प्रेमी चारुदत्त त्यागमयी गणिका वसंतसेना, पतिपरायण धूता, अभिन्न हृदय मित्र मैत्रेय जैसे, उन्नत पात्र हैं तो उनके साथ ही दुष्ट हृदय शकार, द्यूतकार माथुर, प्रेमी चोर शर्विलक चेट, कठोरी उदार चांडाल जैसे सामान्य पात्र भी हैं। इनके अतिरिक्त इस नाटक का संसार जुआरी बदमाश, भिक्षु, राजसेवक, सेविकाओं राजनीतिक षड्यंत्री, पुलिस कर्मचारी, निठल्ले बेकार पुरुषों आदि से निर्मित हुआ है 'मृच्छकटिक' के पात्रों की विशेषता यह है कि वे किसी वर्ग विशेष के प्रतिनिधि नहीं है, अपितु अपनी व्यक्तिगत सत्ता रखते हैं। पाश्चात्य विचारक रेडर ने मृच्छकटिक के पात्रों को सार्वदेशिक पात्र कहा है और इसमें

कोई संदेह नहीं कि नाटक के पात्र अन्य संस्कृत नाटकों से भिन्न हैं तथा पहली बार मध्यम वर्ग के पात्रों का चरित्र चित्रण करने की ओर किसी नाटककार का ध्यान गया है।

प्राय: अधिकांश समीक्षकों का यही मत है कि मृच्छकटिक ही अकेला ऐसा नाटक है, जो उस काल के मध्यवर्ग की सामाजिक स्थिति को पूर्णत: प्रतिबिम्बित करता है और हम उसके अध्ययन से तत्कालीन सामाजिक दशा का पर्याप्त ज्ञान भी प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही 'मृच्छकटिक' इस योजना और भावाभिव्यक्ति की दृष्टि से भी पूर्ण सफल रहा है तथा शृङ्गार और करुण की अधिकता होते हुए भी उसमें हास्य व शांत के भी कई सरल उदाहरण मिलते हैं। इसी प्रकार लेखक की अंतर्दृष्टि मानव मन में पैठकर उसके सूक्ष्मतम भावों को अंकित करने में पूर्ण सफल रही है और ऐसा जान पड़ता है कि नाटककार को मनोविज्ञान का भी पर्याप्त ज्ञान है क्योंकि छोटे-से छोटे साधारण भावों को व्यंजना में भी वह पूर्ण सफल रहा है। उदाहरणार्थ, वह चोर के शंकालु हृदय का चित्रण भी किस सफलतापूर्वक करता है—

य: कश्चित्त्वरितगतिर्निरीक्षते मां सम्भ्रान्त द्रुतमुपसर्पति स्थितं वा।
तं सर्वं तुलयति दूषितोऽन्तरात्मा स्वैर्दोषैर्भवति हि शङ्कितो मनुष्य: ॥

यद्यपि नाटकों में विस्तृत वर्णनों के लिए समीचीन अवसर नहीं रहता, पर मृच्छकटिक में शूद्रक ने विस्तृत दर्शन भी अंकित किए हैं। लेकिन प्रकृति चित्रण की ओर प्राय; उदासीनता ही दिखाई गयी है। इस नाटक में लम्बे-लम्बे कथोपकथनों के स्थान पर संक्षिप्त व स्वाभाविक कथोपकथनों का समावेश किया गया है और भाषा अत्यन्त सरल व प्रसादगुण युक्त है तथा उसमें पात्रानुकूल प्राकृतों का प्रयोग किया गया है। 'मृच्छकटिक' के प्रसिद्ध टीकाकार पृथ्वीधर का कहना है कि इस नाटक के शौरसेनी, अवंतिका, मागधी, शकारी, चांडाली व ढक्की नामक सात प्राकृतों का प्रयोग हुआ है। साथ ही नाटककार ने जान बूझकर अपनी भाषा को अलंकारों से अलंकृत करने का प्रयत्न नहीं किया ओर समास-प्रधान भाषा भी उसने नहीं अपनाई तथा भावाभिव्यक्ति के लिए नीतिपरक वाक्यावली का ही अधिकाधिक प्रयोग किया है।

इस प्रकार 'मृच्छकटिक' अपनी अपूर्वता के लिए संस्कृत नाटक साहित्य में विशिष्ट स्थान का अधिकारी है और इसके अंग्रेजी अनुवाद का अमेरिका के प्रसिद्ध नगर न्यूयार्क में सन् १६२४ ई० में प्रशंसनीय अभिनय भी हुआ था। तत्कालीन प्रसिद्ध समीक्षक जोसेफ वुड क्रुच ने भी इस नाट्यकृति की अत्यधिक प्रशंसा की है और पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'डिस्कवरी आफ इण्डिया' में उनके विचारों को उद्‌भूत भी किया है जिसका भावार्थ इस प्रकार है—"इस प्रकरण को देखने से हमें नाट्यकला के शुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है जो कि पूर्व की पश्चिम के प्रति एक अमूल्य देन है। इसके रचयिता के समय के विवाद में न पड़ते हुए भी हमें निर्विवाद रूप से स्वीकार करना पड़ता है कि वह एक परम विद्वान् व्यक्ति था जिसने जनता के हृदय का सूक्ष्म गम्भीर अध्ययन किया था। इस प्रकार का रूपक एक बहुत ही उच्च राजनीतिक सभ्यता में निर्मित हुआ, जिसके समक्ष अंग्रेजी के अमर नाटककार शेक्सपियर के मैकबेथ ओर ओथेली जैसे ग्रन्थ भी निम्न ही प्रतीत होते हैं इससे पता चलता है कि विदेशियों को दृष्टि में भी इस ग्रन्थ का समुचित आदर था। भरत मुनि के नाट्यशास्त्र के नियम के अनुसार प्रत्येक रूपक में कोई शृङ्गार अथवा वीर

रस प्रधान होना चाहिए, किन्तु यह ग्रन्थ उस परम्परा का पालन न करते हुए एक घटना प्रधान रूपक है, तब भी इसमें श्रृङ्गार और करुण रस का चित्रण हुआ है। वसन्तसेना के प्रति श्रृङ्गार और न्यायालय में उपस्थित चारुदत्त करुण रस के मूर्तिमान स्वरूप हैं।"

कालिदास का नाट्य-कृतित्व

कृतियाँ—निस्संदेह कालिदास ही संस्कृत साहित्य के ऐसे सर्वविख्यात कवि हैं जिन्होंने काव्य-नाट्य दोनों ही क्षेत्रों में अपनी अनुपम प्रतिभा का प्रदर्शन किया है तथा जिस प्रकार ऋतुसंहार, मेघदूत, कुमारसंभव और रघुवंश नामक महत्त्वपूर्ण काव्य ग्रन्थों की उन्होंने रचना की है, उसी प्रकार मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय एवं अभिज्ञान-शाकुन्तल नामक नाटकों की रचना कर संस्कृत नाट्य-साहित्य में अपना स्थायी स्थान बना लिया है। उनके इन तीनों नाटकों का परिचय आचार्य बलदेव उपाध्याय ने इस प्रकार दिया है—

(१) "**मालविकाग्निमित्र** में शुङ्गवंशीय नरेश अग्निमित्र तथा मालविका के प्रेम का अभिराम चित्रण ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का आश्रय लेकर कमनीयता के साथ अंकित किया गया है। कवि ने राजाओं के अन्तःपुर की चहारदीवारी के भीतर विकसित होने वाले काम, रानियों की परस्पर ईर्ष्या, राजा की कामुकता, महिषी धारिणी की धीरता तथा उदात्तता का चित्रण बड़े अनुभव के साथ किया है।"

(२) **विक्रमोर्वशीय** में कालिदास ने एक वैदिक प्रेमाख्यान को, ऋग्वेद (१०-९५ तथा शतपथ ब्राह्मण (११।५।१) निर्दिष्ट पुरूरवा तथा उर्वशी की प्रेम-कथा को कमनीय नाटक के रूप में प्रस्तुत किया है। इस प्राचीन प्रेमाख्यान ने अपनी प्रौढ़ता तथा चमत्कार के कारण कवि का ध्यान आकृष्ट किया। पुरूरवा नितान्त उपकार-परायण भूपाल है और वह राक्षस से उर्वशी का उद्धार करता है। इसी प्रसंग से उर्वसी उसके अलौकिक रूप पर आशक्त होकर उसकी अनेक शर्तों के साथ रानी बनना स्वीकार करती है। उसके वियोग में पुरूरवा पागल बनकर जंगल में मारा-मारा फिरता है। कवि ने पुरूरवा के उद्दाम प्रेम का, संसार के समस्त बँधनों को तोड़कर बहने वाली कामसरिता का चित्रण बड़ी मार्मिकता के साथ किया है। यहाँ कवित्व का ही विलास अधिक है, नाटकीय कौशल का कम। इस नाटक में कवि ने प्रणय तथा प्रणयोन्माद को ही प्रधान प्रतिपाद्य विषय बनाया है।"

(३) **अभिज्ञान शाकुन्तल**—यह कालिदास का सबसे प्रसिद्ध नाटक है। भारतीय आलोचकों ने तो इस नाटक साहित्य में सबसे श्रेष्ठ बतलाया है—"काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्र रम्या शकुन्तला।' पश्चिमी विद्वानों ने भी अपनी दृष्टि से अत्युत्तम नाटक माना है। इस नाटक में सात अंक हैं। पहले अंक में हस्तिनापुर का राजा दुष्यन्त आखेट करने के लिए वन में जाता है और संयोगवश महर्षि कण्व के आश्रम में शकुन्तला से साक्षात्कार करता है। उसकी जन्मकथा सुन उसके हृदय में शकुन्तला के लिए अनुराग उत्पन्न होता है। द्वितीय अंक में ऋषियों की प्रार्थना पर आश्रम की रक्षा करने के लिए वह स्वयं वहीं रह जाता है। तृतीय अंक में राजा और शकुन्तला का समागम है। चतुर्थ अंक में कण्व तीर्थयात्रा से लौटकर आश्रम में आते हैं और शकुन्तला को आपन्नसत्वा जान गौतमी, शारूद्वत और शारङ्गरव

नामक दो शिष्यों के साथ हस्तिनापुर भेजते हैं। शकुन्तला का आश्रम से जाने का दृश्य बड़ा ही करुणोत्पादक है। पंचम अंक में शकुन्तला हस्तिनापुर पहुँचती है, परन्तु दुर्वासा के अभिशाप के कारण राजा उसे पहचानता नहीं। इस प्रत्याख्यान के बाद ऋषियों के चले जाने पर शकुन्तला को कोई दिव्य-ज्योति आकाश में उठा ले जाती है और मारीच के आश्रम में वह अपनी माता मेनका के साथ निवास करती है। षष्ठ अंक में राजा की नामाङ्कित अंगूठी मछुए के पास से राजा को मिलती है जिसे देखते ही दुष्यन्त को शकुन्तला की स्मृति हो जाती है। वह अपनी प्रियतमा के प्रत्याख्यान से अत्यन्त विह्वल हो उठता है। अंत में इन्द्र की सहायता करने के लिए वह स्वर्गलोक में आता है। सप्तम अंक में दुष्यन्त विजय प्राप्त कर स्वर्ग से लौटता है और मारीच आश्रम में अपने पुत्र तथा प्रियतमा का साक्षात्कार करता है। इसी मिलन तथा मारीच के आशीर्वाद के साथ नाटक समाप्त होता है।"

नाट्यकला—सामान्यतः अधिकांश विचारक कालिदास को संस्कृत साहित्य का सर्वोत्कृष्ट नाटककार मानते हैं और यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो नाटयकला की कसौटी पर उनकी नाट्य-कृतियाँ पूर्ण खरी सिद्ध होती हैं तथा वस्तुयोजना, चरित्र-चित्रण, रसाभिव्यक्ति, शिल्प-विधान व अभिनेयता आदि सभी दृष्टियों में कालिदास के नाटक पूर्ण सफल प्रतीत होते हैं। जहाँ तक कथा संगठन या वस्तु योजना का प्रश्न है कालिदास की तीनों नाट्य कृतियाँ पूर्णतः सुगठित हैं पर यहाँ हमें यह भी निस्संकोच स्वीकार करना पड़ता है कि उनकी वस्तुयोजना क्रमिक रूप से ही सुगठित हुई है। इसीलिए सुगठित वस्तु-योजना और कार्य-व्यापार की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र की अपेक्षा अभिज्ञान-शाकुन्तल अधिक सफल है। वस्तुतः एक कुशल नाटककार की भाँति उन्होंने इस बात का पूरा ध्यान रखा है कि नाटक में छोटी-से-छोटी घटना का अपना अस्तित्व हो और उसमें इतनी शक्ति हो कि मूल कथानक से पृथक् कर देने पर उस सम्पूर्ण नाटक के स्वरूप को ही छिन्न-भिन्न कर दे।

कालिदास की पात्रयोजना एवम् चरित्र-चित्रण भी सराहनीय है और "कालिदास के चरित्रों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का ध्यान रखना होगा कि कालिदास की नाट्यकला का प्रमुख लक्ष्य चरित्र-चित्रण न होकर, रस व्यंजना है। यही कारण है कि शेक्सपियर जैसी चरित्रों की मनोवैज्ञानिक स्थिति, उनके अंतर्द्वन्द्व का संघर्ष यहाँ नहीं मिलेगा। फिर भी कालिदास के चरित्र कहीं बाहर के जीव न होकर इसी जमीन के खाद-पानी से पनपे हुए हैं। यह दूसरी बात है कि वे यथार्थ के मर्त्यलोक और आदर्श के स्वर्ग को जोड़कर इतने सुन्दर ताने-बाने में बुन दिये जाते हैं, कि गेटे के शब्दों में उन्हें भी Heaven and Earth Combined कहा जा सकता है। पुरूरवा वीर है, पर दुष्यन्त की अपेक्षा अधिक कोमल हृदय है। दुष्यन्त जहाँ एक ओर रसिक शिरोमणि है, वहाँ आदर्श राजा भी, जो दुष्टों को शिक्षा देता है, प्रजा के विवाद को शांत करता है तथा प्रजा का सच्चा बन्धु है। वह तपोवन के विघ्नों को मिटाने के लिए देवताओं के शत्रु दानवों का संहार करने के लिए सदा प्रस्तुत रहता है। दुष्यन्त के उदात्तचरित्र की पराकष्ठा में कवि सहज शृङ्गारी नायक का चित्र उपस्थित नहीं करना चाहता, अपितु वर्णाश्रम धर्म के व्यवस्थापक राजा का आदर्श भी रखना चाहता है। उसके चरित्र का एक पहलू शृंगारी रसिकता भी हो सकती है, पर उसके चरित्र का दूसरा पहलू भी कवि की दृष्टि में कम महत्वपूर्ण नहीं दिखाई देता। माल-

विकाग्निमित्र की नायिका धारणी की सेविका बनी भोली राजकुमारी है, तो विक्रमोर्वशीय की नायिका रतिविशारदा उर्वशी। शाकुन्तल की नायिका भोली तो है, पर आरम्भ के तीन अंकों में जिस तेजी से प्रणय व्यापार करती है, उस दोष को तपस्या की आँच में तपाकर कालिदास ने उसके स्वर्णिम चरित्र की भास्वरता को स्पष्ट कर दिया है।''

कालिदास ने नाटकों की रस व्यंजना भी सराहनीय है और उनकी तीनों नाट्य-कृतियों में रस की अत्यन्त हृदयग्राही व सरस व्यंजना है। यों तो तीनों ही नाटकों का अंगीरस शृङ्गार है और उन्होंने शृङ्गार के दोनों पक्षों—संयोग एवं वियोग—के अत्यन्त सरस व हृदयस्पर्शी चित्र अंकित किए हैं पर करुण, वात्सल्य, वीर व भयानक के भी सुन्दर स्थल उनकी नाट्य कृतियों में पाये जाते हैं। इसी प्रकार हास्य रस का समावेश विदूषक के क्रिया-कलापों एवम् उक्तियों के माध्यम से किया गया है, पर सौन्दर्य और प्रेम के कवि कालिदास की मनोवृत्ति बीभत्स आदि रसों के चित्रण में नहीं रमी। साथ ही रंगमंच की दृष्टि से भी कालिदास के नाटक उपयुक्त प्रतीत होते हैं और भले ही आकाश में उड़ते रथ आदि दृश्यों की योजना रंगमंचीय सफलता में बाधक प्रतीत होती हो पर उन्हें कल्पना द्वारा मंच पर व्यक्त किया जा सकता है और आज की विकसित मंचीय प्रक्रिया के लिए तो उन्हें दिखाना संभव भी है। कालिदास के कथोपकथन भी सूक्ष्म और प्रसंगानुकूल हैं तथा भावात्मक पद्य भी कथा-प्रवाह को आगे बढ़ाने में सहायक रहे हैं। उसी प्रकार कालिदास की शैली भी अत्यन्त मनोहारिणी है और वैदर्भी रीति के क्षेत्र में तो उनकी समकक्षता ही असंभव मानी जाती है तथा माधुर्य व प्रसाद गुणों को तो उन्होंने पराकाष्ठा पर पहुँचा दिया है। उनकी भाषा सरल, पात्रानुकूल एवम् व्यंजनापूर्ण है और वर्णन शैली अत्यन्त हृदयस्पर्शी है तथा मानवीय मनोभावनाओं के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म रहस्यों के उद्‌घाटन में वह अद्वितीय हैं। अपनी काव्य कृतियों में तो उन्होंने प्रकृति के अत्यन्त मनोहरी चित्र, अंकित किए ही हैं पर नाटकों में भी कई स्थलों पर प्रकृति-सौन्दर्य की हृदयस्पर्शी झाँकी प्रस्तुत है। इस प्रकार कालिदास को निर्विवाद रूप से प्रथम कोटि का नाटककार माना जा सकता है और कुछ विचारक तो उन्हें भी बाल्मीकि व व्यास की भाँति भारतीय प्रतिभा के अन्यतम पवतार मानते हैं।

अश्वघोष

कृतियाँ और नाट्यकला—अश्वघोष न केवल सुप्रसिद्ध महाकवि हैं अपितु संस्कृत के प्रथम बौद्ध नाटककार भी माने जाते हैं। वस्तुतः सन् १९१० ई० में लूडर्स नामक एक पाश्चात्य विद्वान् को मध्य एशिया के तूरफान नामक स्थान में प्राचीन हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज मे अश्वघोष के तीन नाटक भी प्राप्त हुए। इनमें से दो तो अपूर्ण दशा में प्राप्त हुए हैं और उनके नाम व रचनाक्रम तक का ठीक पता नहीं चलता पर तीसरा शारिपुत्रप्रकरण पूर्ण है और यह अश्वघोष की ही कृति है; क्योंकि—

(१) ग्रंथान्त में सुवर्णाक्षी के पुत्र अश्वघोष का नाम दिया है।
(२) बुद्ध चरित से एक पद्य ज्यों-का-त्यों लिया गया है।
(३) लेखक ने अपने सूत्रालंकार में दो बार इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है।

'शारिपुत्र प्रकरण' अपने नाम के अनुसार है और इससे पता लगता है कि किस प्रकार गौतम बुद्ध ने तरुण मौद्गल्यायन व शारिपुत्र को बौद्ध धर्म का विश्वासी बनाया तथा बौद्ध धर्म में दीक्षित किया। इस प्रकार 'शारिपुत्र प्रकरण' में बौद्ध सिद्धान्तों की

शिक्षा भी दी गयी है और नौ अंकों की इस कृति में नाट्यशास्त्र में वर्णित नाटकों के सभी नियमों का यथाशक्य पूर्ण पालन करते हुए भी 'भरतवाक्य' का प्रयोग नहीं किया। इसी प्रकार 'अश्वघोष' के अन्य दो अपूर्ण नाटकों में एक तो 'प्रबोधचन्द्रोदय' की भाँति रूपकात्मक हैं जिसमें बुद्धि, धृति, कीर्ति व बुद्ध पात्रों के रूप में अंकित किए गए हैं तथा दूसरा 'मृच्छकटिक' की भाँति वेश्यानायिकात्मक नाटक है जिसमें मागधवती नामक वेश्या व कौमुदगन्ध नामक विदूषक आदि पात्र हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अश्वघोष की नाट्य कृतियों में विभिन्न पात्र स्वयोग्यतानुसार संस्कृत या प्राकृत का प्रयोग करते हैं पर उन्होंने जिस संस्कृत का प्रयोग किया है वह प्राकृत भाषाओं के प्रभाव के फलस्वरूप प्रचलित भाषा से भिन्न है और प्राकृत में भी कई अर्थ प्रयोग विद्यमान हैं।

हर्ष

परिचय और नाट्यकला—भारतीय इतिहास में सम्राट् हर्षवर्धन (सन् ६०६-६४८ ई०) का नाम अत्यधिक प्रसिद्ध है पर वह एक देदीप्यमान सम्राट् व कुशल शासक होने के साथ-साथ अद्वितीय साहित्यकार भी थे और उन्हें निम्नलिखित तीन नाट्य-कृतियों का रचयिता कहा जाता है—प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानन्द। यों तो कुछ आलोचकों का कहना है—कि हर्ष जैसे प्रतिभासम्पन्न सम्राट को अतुलित राज्य कार्यों में व्यस्त रहते हुए इतना समय न मिला होगा कि वह इतने उच्चकोटि के नाटकों की रचना में समर्थ हो पाता और इस प्रकार उनका कहना है कि इन्हें हर्ष ने अपने किसी आश्रित कविबाण या धावक—द्वारा लिखवाकर अपने नाम से प्रचलित कर दिया, पर अब अधिकांश विद्वान् इन तीनों नाटकों का रचयिता हर्ष को ही मानते हैं। हमें यह न भूलना चाहिए कि इत्सिंग ने तो अपने यात्रा वर्णन में महाराज हर्ष को स्पष्टतया नागानन्द नाटक का रचयिता कहा है और कई प्रसिद्ध कवियों जैसे बाणभट्ट या जयदेव आदि ने हर्ष की काव्य चातुरी की प्रशंसा भी की है अतः हर्ष को इन तीनों नाटकों का रचयिता मानने में संकोच करना युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता।

हर्ष की तीनों नाट्यकृतियों में से 'रत्नावली' और 'प्रयदर्शिका' नाटिका हैं, दोनों में चार-चार अंक हैं तथा दोनों की कथावस्तु एवं रूपरेखा में भी बहुत अधिक समानता है। दोनों में नायक उदयन और महिषी वासवदत्ता है। रत्नावली में सागरिका (लंका की राजकुमारी रत्नावली) और उदयन के प्रणय तथा अन्त में विवाह हो जाने का वर्णन है। इसका आयोजक यौगन्धरायण था। जहाज के डूबे जाने की विपत्ति आने पर रत्नावली दयनीय दशा में उदयन के दरबार में पहुँची। कुछ काल तक वह महारानी की सेविका बनी रही, परन्तु अन्त में मालूम हो गया कि वह लंका की राजकुमारी है। सच्ची हिन्दू पत्नी के समान, जो पति के सुख के लिए सदा अपने सुखों को बलि देने को तैयार रहती है, वासवदत्ता ने रत्नावली का विवाह उदयन के साथ हो जाना स्वीकार कर लिया। इस कथावस्तु का आधार इतिहास या ऐतिहासिक उपाख्यान है और कुछ बदले हुए रूप में यह कथासरित्सागर में भी आयी है। एक ओर रत्नावली नाटिका कालिदास के मालविकाग्निमित्र से और दूसरी ओर राजशेखर की कर्पूरमंजरी से अत्यन्त मिलती-जुलती हैं।

प्रियदर्शिका नाटिका में उदयन के आरण्यिका प्रियदर्शिका के साथ प्रणय का और अन्त में विवाह बन्धन का वर्णन है। वह अंगदेश के राजा दृढ़वर्मा की दुहिता थी और उदयन से उसकी सगाई हुई थी। अभी प्रियदर्शिका का विवाह नहीं हुआ था।

कलिंग के राजा ने अंग पर आक्रमण करके दृढ़वर्मा को बन्दी बना लिया। प्रियदर्शिका आरण्यिका के नाम से उदयन के अन्तःपुर में पहुँच गई। दीर्घ कालक्रम के पश्चात् उसका रहस्य खुल गया और अन्ततोगत्वा वह उदयन की परिणीता प्रिया बन गयी।

नागानन्द में पाँच अंक हैं। इसमें जीमूतवाहन के आत्मोत्सर्ग की कथा है। इसने सर्प के स्थान पर अपने आपको गरुड़ को खाने के लिए दे दिया था। इसके इस औदार्यकार्य से प्रसन्न होकर गौरीदेवी ने इसे पुनर्जीवित कर दिया। अतः इसके रोते हुए माता-पिता को बड़ा हर्ष हुआ। मृत सर्प भी जीवित कर दिए गए और गरुड़ ने प्रतिज्ञा की कि मैं अब से सर्पहार का परित्याग करता हूँ। रूपक में हिन्दू और बौद्ध विचारों का सुन्दर मिश्रण है तथा जिस काल में यह लिखा गया है उसका प्रतिबिम्ब इसमें खूब झलक रहा है।

संस्कृत साहित्य में हर्ष को नाटिकाओं की परम्परा प्रारम्भ करने का श्रेय दिया गया है, पर नाटकीय गुणों की दृष्टि से भी उनकी कृतियाँ संस्कृत साहित्य की अनुपम कृतियाँ मानी जाती हैं। वस्तु विधान, पात्र योजना, रसाभिव्यक्ति, कथोपकथन, अभिनेयता एवम् भाषाशैली आदि दृष्टियों से भी उनके तीनों नाटक पूर्ण सफल रहे हैं।

भवभूति

परिचय और कृतियाँ—संस्कृत नाट्य साहित्य में कालिदास के पश्चात् भवभूति का ही स्थान माना जाता है और प्रसिद्ध समीक्षक राजेश्वर (सन् ९०० ई०) ने स्वयं को भवभूति का अवतार कहा है। भवभूति ने अपने ग्रन्थों में अपना यत्किञ्चित् परिचय भी प्रस्तुत किया है और वहाँ यथेष्ट नहीं है पर उसके आधार पर उनका जीवन-वृत्त इस प्रकार है। भवभूति विदर्भ प्रान्तन्तवर्ग पदमपुर नगर के निवासी थे और उनका जन्म कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तरीय शाखा को मानने वाले सोमयज्ञ से पवित्र प्रसिद्ध उदुम्बर वंशीय ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उनके पितामह का नाम भट्टगोपाल, पिता का नाम कीलकण्ठ तथा माता का नाम जातुवर्णी था और स्वयं भवभूति का वास्तविक नाम श्रीकण्ठ था, पर वह भवभूति नाम से प्रसिद्ध हुए। यों उनके स्थितिकाल के सम्बन्ध में पहले विचारक पृथक्-पृथक् मत व्यक्त करते थे, पर अब अधिकांश विचारक उनका समय ७०० ई० के लगभग मानते हैं।

सामान्यतः भवभूति के नाम से तीन नाटक प्रसिद्ध हैं—मालतीमाधव, महावीर-चरित और उत्तररामचरित। शारङ्गधर पद्धति व रसिक जीवन जैसे प्राचीन सूक्ति संग्रहों में उनके नाम से कुछ ऐसे पद्य भी मिलते हैं जो उनकी उपलब्ध कृतियों में नहीं हैं, पर उन्हें प्रसिद्धि नाट्यकार के रूप में ही प्राप्त हुई है तथा उनके उत्तररामचरित को तो न केवल उनकी श्रेष्ठतम कृति माना जाता है, अपितु संस्कृत नाट्य साहित्य की सर्वश्रेष्ठ कृतियों में उसका उल्लेख किया जाता है। अब हम यहाँ भवभूति की तीनों नाट्यकृतियों का संक्षिप्त परिचय देंगे।

(1) **मालती माधव**—यह दश अंक का एक विशाल प्रकरण है, पर इसकी कथा काल्पनिक ही है। इसमें मालती व माधव का प्रेम प्रसंग अत्यन्त सुन्दर ढंग से अंकित किया गया है। इसमें कोई संदेह नहीं की मालती माधव में यौवन की उन्मत्तता का अत्यन्त सरस चित्रण किया गया है, पर पूरे नाटक में प्रेम की अत्यन्त ऊँची उदात्त कल्पना ही प्रस्तुत की गयी है और लेखक धर्म विरुद्ध प्रेम को समाज के लिए हानिकारक समझ उसकी सर्वथा उपेक्षा ही करता है।

(२) महावीर चरित—यह रामकथा से सम्बन्धित नाटक है और इस छह अंकों की नाट्यकृति में वीर रस की प्रधानता है तथा कथासंघटन पर पूर्ण ध्यान रखा गया है। लेखक ने राम के नितान्त उदात्त एवम् वीर भावापन्न चरित्र को अंकित करते हुए यह दिखलाना चाहा है कि राम के विरुद्ध जितने भी कार्य किये हैं वह सब रावण की प्रेरणा से। अतः राम को आदर्श पुरुष के रूप में दिखलाने के उद्देश्य से राम की कुछ दुर्बलताओं को भी विभिन्न रूप में प्रदर्शित किया गया है तथा बालिबध की घटना के सम्बन्ध में भवभूति का यही मत है कि वालि रावण का सहायक बनकर राम से लड़ने आया था, अतः राम ने उसका वध कर दिया।

(३) उत्तर रामचरित—इस नाट्यकृति में रामायण का उत्तरार्द्ध अंकित है। यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो "उत्तर रामचरित" नाटक की कथावस्तु अत्यधिक संक्षिप्त है। वाल्मीकि रामायण के उत्तरकांड में एक स्थल पर यह प्रसंग आया है कि एक निराधार लोकोपवाद को सुनकर राम ने सीता का परित्याग कर दिया था। इसी प्रसिद्ध कथा का आधार लेकर ही भवभूति ने उत्तर रामचरित का सृजन किया है किन्तु रामायण के उपाख्यान की अपेक्षा भवभूति के नाटक में कई नवीनताएँ भी हैं जो कि उनकी मौलिकता का परिचय देती हैं। उत्तर रामचरित सात अंकों में समाप्त हुआ है और उसमें नाटककार ने कथावस्तु को इस प्रकार सजाया है—

प्रथम अंक में अन्तःपुर में राम और सीता बैठे हुए हैं, उसी समय अष्टावक्र मुनि वहाँ प्रवेश करते हैं। राम ने प्रजा की भलाई के लिए सीता तक को त्याग देने की प्रतिज्ञा मुनि के सामने की। उधर लक्ष्मण द्वारा लाए हुए राम के विगत जीवन से सम्बन्धित चित्रों को देखते हुए सीता की अभिलाषा तपोवन को देखने की होती है। इधर दुर्मुख नाम के जासूस ने सीता के चरित्र के सम्बन्ध में प्रचलित लोकापवाद की सूचना राम को दी। उसे सुनकर राम ने सीता को त्याग देने का निश्चय कर लिया। द्वितीय अंक में राम पंचवटी वन में प्रवेश और शूद्रक के वध तथा उनके जन्मस्थान के पर्यटन सम्बन्धी घटनाओं को अंकित किया गया है। तृतीय अंक में सीता-वियोग के फलस्वरूप रामचन्द्र, वासन्ती, तमसा और छाया-सीता के सामने विलाप करते हैं। इसी अंक के विष्कंभक में तमसा और मुरली के सम्भाषण द्वारा जान पड़ता है कि राम ने स्वर्ण प्रतिमा निर्मित कराकर उसे सहधर्मिणी मानकर अश्वमेघ यज्ञ किया है। इसी अंक में भवभूति ने यह भी चित्रित किया कि बनवास की दशा में एक दिन प्रसव-वेदना में पीड़ित होकर सीता गंगा में कूद पड़ती हैं किन्तु पृथ्वी तथा गंगा उनको पाताल में ले जाकर रख देती है और उनके दोनों युग्म कुमारों लव और कुश को महर्षि वाल्मीकि को सौंप देती हैं। चतुर्थ अंक में जनक, अरुन्धती और कौशल्या के वर्णन के साथ-साथ नाटककार ने लव के साथ उनकी भेंट करा दी है, तथा पंचम अंक में चन्द्रकेतु और लव के युद्ध का प्रसंग अंकित किया है। षष्टम अंक के विष्कम्भक में विद्याधर और विद्याधरी के पारस्परिक संभाषण द्वारा लव और चन्द्रकेतु के युद्ध का वर्णन किया गया है। राम ने लव, कुश और चन्द्रकेतु की भेंट भी इसी अंक में होती है तथा कुश द्वारा वाल्मीकि कृत रामायण का पाठ भी सुना जाता है: सप्तक अंक में राम-सीता-वनवास का अभिनव देखते हैं। अंत में राम और सीता का पुनर्मिलन हो जाता है।

भवभूति ने वाल्मीकि रामायण के मूल उपाख्यान का बहुत थोड़ा अंश स्वीकार

किया है। 'उत्तर रामचरित' की कथावस्तु में बहुत-सी विभिन्नताएँ और नवीनताएँ भी हैं। वाल्मीकि रामायण में राम ने वंश मर्यादा की रक्षा के हेतु छल से सीता को वन भेजा था, किन्तु रामचरित में राम सीता के सामने ही लोकहित के लिए उन्हें त्याग देने का विचार प्रकट करते हैं—

स्नेहं दया च सौख्यं च यदि वा जानकीमपि।
आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा ॥१४२॥

रामायण की भाँति सीता का त्याग किसी प्रकार के छल-कपट से न कर स्पष्ट रूप से करते हैं। चित्रपट दर्शन का दृश्य; शूद्रक का सिर काटने पर उसका दिव्य मूर्ति बन जाना, जन्म-स्थान में राम का पर्यटन करना, वासंती, तमसा और छाया-सीता के सामने राम का विलाप और वासन्ती के सामने स्पष्ट रूप से उनका सीता के प्रति स्नेह स्वीकार करना, लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, वशिष्ठ और अन्य साधुओं का वाल्मीकि के आश्रम में आना तथा राम के उत्तरचरित का उन्हीं के सामने अभिनय आदि घटनाओं का वाल्मीकि रामायण में तनिक भी उल्लेख नहीं पाया जाता। इससे भी अधिक महत्व पूर्ण घटना तो 'उत्तर रामचरित' में राम और सीता का पुर्नमिलन है जबकि वाल्मीकि रामायण में उनका चित्रण नहीं किया गया। इस प्रकार हम देखते हैं कि उत्तर राम-चरित की कथावस्तु रामायण का आधार लेने पर भी नवीन कही जा सकती है।

नाट्यकला—समीक्षक भवभूति को मूलत: कवि मानते हैं और कुछ तो उसके नाटकों को गीति नाट्य (Lyric drama) ही कहते हैं तथा डॉ० भोलाशंकर व्यास का तो स्पष्टतया यही मत है कि "उनकी कृतियाँ—"विशेषत: उत्तररामचरित जिसके कारण भवभूति को इतना आदर प्राप्त हो सका है—गीति नाट्य की भावप्रवणता को लेकर आती है और उन्हें इसी दृष्टि से देखना चाहिए।" पर भवभूति के तीनों नाटकों में कवित्व की अधिकता होते हुए भी हम उसकी कृतियों को नाटक ही मानते हैं। यहाँ यह भी न भूलना चाहिये कि बंग-साहित्य के प्रसिद्ध नाटककार व समीक्षक श्री द्विवेन्द्रजाल राय ने तो कवित्व को भी नाटक का एक अंग माना है और कई अर्वाचीन समीक्षकों ने भी कवित्त्व को नाट्य तत्त्वों में स्थान दिया है। इस प्रकार कथानक, पात्र और चरित्र-चित्रण नामक तीनों प्रधान नाटक तत्त्वों का भवभूति के नाटकों में सम्यक् निर्वाह हुआ है तथा घटनाओं के संविधान में एकसूत्र भी विद्यमान है। वस्तु योजना की ओर भवभूति ने पूर्ण ध्यान दिया है पर कथावस्तु की अपेक्षा चरित्र-चित्रण पर उनका अधिक ध्यान रहा है और विचारक उन्हें चरित्र-चित्रण में एक सिद्धहस्त नाटककार मानते हैं। उत्तर रामचरित में राम और सीता का जो भव्य एवम् आदर्श चरित्र-चित्रण हुआ है वह भवभूति की नाट्यकला की चरम परिणित ही है पर पात्र योजना की दृष्टि से मालतीमाधव और महावीरचरित्र को भी पूर्ण सफल समझना चाहिये। भवभूति की वर्णन शक्ति भी अद्भुत थी। एक कुशल कवि होने के कारण उन्होंने प्रकृति सौन्दर्य तथा मानवीय सौन्दर्य का अत्यन्त मनोमुग्धकारी चित्रण किया है। इसी प्रकार एक ही नाट्यकृति में उन्हें कई रसों को व्यंजना करने में भी पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और एक ही श्लोक में अनेक रसों का सुन्दर व सहज समन्वय जैसा उन्होंने किया वैसा कदाचित् ही कोई कवि कर सका हो। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि महामुनि भरत के मतानुसार नाटक का प्रधान रस श्रृङ्गार या वीर ही होना चाहिये और कुछ विचारकों

ने तो उत्तर रामचरित का मुख्य रस विप्रलंभ शृङ्गार माना है पर वास्तव में वह करुण रस प्रधान नाटक है, अत इसे भी भवभूति की महत् प्रतिभा का एक लक्षण ही समझना चाहिए। सच तो यह है कि 'कारुण्यं भवभूतिरेव तनुते' के अनुसार करुण रस की व्यंजना करने वाला भवभूति के समकक्ष अन्य कोई कवि नहीं है और स्वयं भवभूति भी करुण रस के ही रसिक थे तथा अन्य सब रसों को उसके अधीन मानते थे—

एको रसः करुण एव निमित्त भेदाद्
भिन्न पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्त्तान्।
आवर्त्तबुद्‌बुद्‌तरङ्गमयाम् विकारान्
अम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समग्रम्॥

जैसा कि भवभूति ने 'उत्तर रामचरित' के प्रारम्भ में ही कहा है—'यं ब्राह्मण मियं देवी वाग् वश्येवानुवर्तते'—वास्तव में संस्कृत भाषा पर उनका व्यापक अधिकार था और देश, काल, पात्र एवम् भावों के अनुरूप ही उन्होंने सर्वत्र शब्दयोजना की है तथा गौड़ी शैली के आचार्य होते हुए भी वह अन्तर्जगत् का चित्रण करते समय वैदर्भी रीति का प्रयोग करते हैं। इसी प्रकार वह अलंकारों की अभिव्यक्ति में भी पूर्ण सफल रहे हैं। शिखरिणी, शार्दूलविक्रीडित तथा वसंततिलका उनके प्रिय छन्द हैं। साथ ही उनकी तीनों नाट्य-कृतियाँ अभिनेय भी हैं और उनके अभिनय में कोई कठिनाई भी नहीं पड़ती है। अतः सभी दृष्टियों से विचार करने पर हम देखते हैं कि उन्होंने अपने कृतित्व के सम्बन्ध में जो गर्वोक्ति की है वह उचित ही है—

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान्प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्म्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥—मालतीमाधवम् १।६

विशाखदत्त और मुद्राराक्षस

इसमें कोई सन्देह नहीं कि "संस्कृत नाटक-साहित्य में मुद्राराक्षस नामक नाटक अपने प्रकार का एक अनुपम एवं अपूर्व नाटक है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता की किसी प्रकार भी उपेक्षा करना सम्भव नहीं है। इसके रचयिता विशाखदत्त नाट्य शास्त्र एवं इसके नियमों के प्रकांड विद्वान् होते हुए भी एक नवीन परम्परा के जन्मदाता सिद्ध हुए हैं। उनकी मौलिकता का बाद में कोई भी नाटककार सफलतापूर्वक तद्वत् अनुसरण नहीं कर पाया है। किसी विख्यात वंश में उत्पन्न व्यक्ति अथवा सम्राट् को प्राचीन परंपरानुसार नायक का नाटक न बनाकर राजनीति में अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, प्रसिद्ध सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु चाणक्य को उन्होंने अपनी रचना का नायक बनाकर एक दिव्य प्रतिभा का उदाहरण प्रस्तुत किया है।" संस्कृत के अधिकांश साहित्यकारों की भाँति विशाखदत्त के जीवन-वृत्त सम्बन्धी बहुत ही अल्प सामग्री प्राप्त होती है और मुद्राराक्षस के कुछ संस्करणों के अनुसार उनके पिता का नाम पृथु तथा कुछ संस्करणों के अनुसार भास्करदत्त था। कीथ ने उनके पितामह का नाम वटेश्वरदत्त बतलाया है। और अधिकांश समीक्षकों ने विशाखदत्त का समय चौथी या पाँचवीं शताब्दी के लगभग माना है।

मुद्राराक्षस सात अंकों का राजनीतिक व सामाजिक नाटक है और "संस्कृत के अन्य नाटकों की भाँति रस-प्रधान न होकर यह एक युद्ध घटना-प्रधान नाटक है।

राजनीति की कुटिल चालों और कूटनीति के दाँव-पेंचों का इसमें बड़ा ही सजीव और सफल चित्रण हुआ है। इसके कथानक का केन्द्र बिन्दु नन्द वंश का महामात्य राक्षस है जिसकी योग्यता और स्वामिभक्ति से प्रभावित होकर चाणक्य चाहता है कि यह किसी प्रकार चन्द्रगुप्त का मन्त्री होना स्वीकार कर ले। चाणक्य यह भली-भाँति जानता है कि यदि राक्षस जैसा राजनीतिक धुरन्धर एवं स्वामिभक्त व्यक्ति चन्द्रगुप्त का प्रधान मन्त्री बनना स्वीकार कर ले तो चन्द्रगुप्त का राज्य अटल हो जायगा। बस, इसी लक्ष्य को लेकर चाणक्य और राक्षस के बीच जो राजनीतिक चालों की चोटें चली हैं, उन्हीं का इस नाटक के घटनाचक्र में रोचक चित्रण हुआ है।'' इस प्रकार मुद्राराक्षस में घटनाओं का वास्तविक एवं सजीव चित्रण हुआ है पर शुद्ध घटना-प्रधान नाटचकृति होते हुए भी वह रस-व्यंजना की दृष्टि से असफल कृति नहीं है क्योंकि उसमें वीर रस का सम्यक् निर्वाह भी हुआ है। साथ ही पात्रों के चरित्र-चित्रण में भी विशाखदत्त ने अपूर्व कौशल दिखाया है और वह पात्रों को कुछ इस तुलनात्मक ढंग से चित्रित करते हैं कि उनकी विशेषताएँ बिलकुल स्पष्ट हो जाती हैं। साथ ही संस्कृत नाट्यकला की दृष्टि से भी 'मुद्राराक्षस' में कई मौलिक नवीनताएँ दीख पड़ती हैं और उसमें अंकों का दृश्यों में विभाजन स्पष्ट प्रतीत होता है तथा स्त्री पात्रों का भी एक प्रकार से सर्वथा अभाव है क्योंकि एक स्थल पर ही चन्दनदास की पत्नी के दर्शन होते हैं और विषकन्या का तो केवल उल्लेख ही हुआ है। मुद्राराक्षस की शैली भी प्रवाह, प्रासादिकता व ओज से पूर्ण और दीर्घ समास बहुल पदावली व अलंकारों का उपयोग उसमें कम ही हुआ है तथा पद्यों की अधिकता भी नहीं है। इसी प्रकार विशाखदत्त का शब्द विन्यास अत्यन्त सशक्त व प्रभावशाली है।

भट्टनारायण और वेणी संहार

संस्कृत के नाट्याचार्यों ने अपने सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए जिन नाटच-कृतियों से उदाहरण चुने हैं उनमें 'वेणीसंहार' नामक भी विशेष उल्लेखनीय है और इस नाटक के रचयिता भट्टनारायण हैं। यों तो दंडी के अनुसार भट्टनारायण ने तीन ग्रन्थों की रचना की थी, पर उनका केवल 'वेणीसंहार' नामक नाटक ही उपलब्ध है। उनका स्थितिकाल व सामान्य परिचय भी प्राप्त नहीं होता। कतिपय बाह्य साक्ष्यों के अनुसार भट्टनारायण का समय 725 ई० के लगभग माना जाता है पर जीवन-वृत्त सम्बन्धी बहुत कम सामग्री प्राप्त होती है। एक प्रख्यात किम्वदन्ती के अनुसार भट्ट-नारायण मूलतः कन्नौज के निवासी थे, पर परिस्थितियोंवश बंगाल जाकर बस गये। उनकी 'भट्ट' और 'मृगराज' नामक दो उपाधियाँ थीं, किन्तु इनसे उनकी जाति के विषय में ठीक-ठीक पता नहीं चलता। हाँ, बंगाल की जनश्रुतियों के अनुसार भट्ट-नारायण उन श्रेष्ठ ब्राह्मणों में थे जिन्हें बंगराज आदिशूर ने उस प्रदेश में आर्य धर्म की प्रतिष्ठा-हेतु बुलाया था।

'वेणीसंहार' की कथा महाभारत की प्रसिद्ध घटना द्रौपदी के वेणी बन्धन से सम्बद्ध है और जैसा कि इसके शीर्षक से स्वयं स्पष्ट हो जाता है कि इसमें द्रौपदी की खुली वेणी के संहार (सँवारे जाने) की घटना से यह सम्बन्धित है। वस्तुतः कौरवों की सभा में दुःशासन ने द्रौपदी का चीर हरण करते हुए उसका घोर निरादर किया, तब द्रौपदी ने प्रतिज्ञा की थी, कि जब तक दुःशासन कृत मेरे अपमान का बदला नहीं चुका

लिया जायगा, तब तक मैं अपने केशों को उन्मुक्त रखूँगी अर्थात् सिर का जूड़ा न बाँधूंगी और वह अपना सिर खुला ही रखती है। इस घटना की पूर्ति में महाभारत की अधिकांश मूल कथा को अत्यन्त कुशलतापूर्वक छह अंकों में विन्यस्त किया गया है।

इस प्रकार वेणीसंहार में महाभारत का युद्ध ही वर्ण्य विषय है। शास्त्रीय दृष्टि से वेणीसंहार में कथावस्तु का विकास युक्तियुक्त है तथा अपनी कृति को लोकप्रिय बनाने के हेतु भट्टनारायण ने महाभारत की कथा में कई लोकप्रिय मौलिक परिवर्तन भी किये हैं, जिससे उनकी नाट्यकुशलता ही व्यक्त होती है। इतना अवश्य है कि महाभारत की आधिकारिक कथावस्तु को अंकित करने के कारण एक ओर तो वेणी संहार में अनेक असम्बद्ध घटनाओं की भी योजना है जो मूल कार्य तथा कथा की गति में बाधक होती हैं और दूसरी घटनाओं की बहुलता के फलस्वरूप नाटककार का उन्हें एक सूत्र में सम्बद्ध करना भी मुश्किल हो गया है। वेणीसंहार की पात्र योजना सराहनीय है और महाभारत के अनेक प्रमुख पात्रों—भीम, दुर्योधन, युधिष्ठिर, कर्ण, अश्वत्थामा, भानुमती द्रौपदी के चरित्र-चित्रण में भट्टनारायण को पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है पर नाट्यकृति के नायकत्त्व का प्रश्न विवादास्पद है तथा विभिन्न विद्वान् अपनी योग्यतानुसार युधिष्ठिर; दुर्योधन व भीम को इस नाटक का नायक मानकर अपना पृथक् तर्क प्रस्तुत करते हैं पर भीमसेन को नायक और दुर्योधन को प्रतिनायक मानना ही उचित जान पड़ता है। साथ ही 'वेणीसंहार' वीर-रस-प्रधान नाटक है और उपयुक्त स्थानों पर करुण, शृङ्गार व शांत रस का उचित प्रयोग कर नाटक की शोभा को द्विगुणित किया गया है। इस वीर रस प्रधान कृति में दुर्योधन भानुमती के प्रेम का चित्रण नितान्त अनुपयुक्त भी जान पड़ता है। भट्टनारायण को प्रकृति के दोनों पक्षों—कोमल और प्रचंड—के वर्णन में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है और भाषा भी प्रभावपूर्ण एवं ओजोगुण विशिष्ट है तथा उनके ओजगुण व गौड़ी रीति की प्रशंसा समीक्षकों ने भी की है, पर संवादों में कठिन भाषा के प्रयुक्त होने से स्वाभाविकता, प्रवाह एवम् प्रासादिकता का ह्रास भी स्पष्ट दीख पड़ता है। साथ ही समीक्षक दृश्य काव्य की कसौटी पर भी वेणीसंहार को पूर्ण सफल नहीं मानते हैं। डॉ० एस० के० डे ने उसे स्पष्टतया निम्नकोटि का नाटक कहा है पर उसमें काव्यात्मक सौंदर्य एवम् रसमयता का अभाव नहीं है। अतः विद्वानों की दृष्टि में उसके रचयिता भट्टनारायण को सम्मान की दृष्टि से देखा जाना चाहिए।

मुरारि

मुरारि मौद्गल्य गोत्र के श्रीवर्धमानक के पुत्र थे और उनकी माता का नाम तंतुमती देवी था। उन्हें 'बाल वाल्मीकि' की उपाधि भी प्राप्त थी। कुछ परीक्षित प्रमाणों व उद्धरणों के आधार पर उनका स्थितिकाल ८०० ई० के लगभग माना जाता है। मुरारि की एकमात्र कृति 'अनर्घराघव' उपलब्ध हुई है। सात अंकों का यह नाटक रामायण के आधार पर लिखा गया है तथा भवभूति के 'महावीर चरित' की उस पर स्पष्ट छाप पड़ी है तथा कथानक भी उसी के समान है। 'अनर्घराघव' में ताड़का वध से लेकर राम राज्याभिषेक तक की घटनाएँ अंकित हैं और 'प्रस्तावना' में सूत्रधार के माध्यम के मुरारि ने यह घोषणा की है कि भयानक व वीभत्स जैसे उग्र रसों के निरन्तर आस्वादन से ऊबे हुए प्रेक्षकों को उन्होंने अद्भुत व वीर रस से युक्त एक उदात्त कृति प्रदान की है। साथ ही वह यह भी कहते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी के

सर्व प्रसिद्ध कथानक का उपयोग न करना भूल है क्योंकि उनके चरित्र से कृति में स्वाभाविकता, उदात्तता एवं सौष्ठव का संचार हो जाता है, पर 'अनर्घराघव' का अनुशीलन करने पर रारि की उक्तियाँ चारितार्थ नहीं होतीं। उन्होंने कथा का न केवल अनावश्यक विस्तार किया है अपितु, भाव-प्रदर्शन में भी अत्युक्तियों का प्रचुरता से प्रयोग किया है और चरित्र-चित्रण में भी कोई भी नवीनता प्रदर्शित नहीं की। इस प्रकार कवित्त्व की प्रौढ़ि व व्याकरण-विषयक पांडित्य की दृष्टि से भले ही अनर्घराघव आदर्श कृति हो, पर नाट्यकला की दृष्टि से उसे विशेष सफल नहीं कहा जा सकता है।

दामोदर मिश्र

दामोदर मिश्र का समय ६वीं शताब्दी ई० का आरम्भ माना जाता है और वह 'हनुमन्नाटक' नामक एक महानाटक के रचियता के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस नाट्यकृति की कथा भी रामायण पर आधारित है और इसमें १४ अंक हैं तथा न केवल आरम्भ में प्रस्तावना का अभाव है बल्कि सम्पूर्ण नाटक में प्राकृत का तनिक भी प्रयोग नहीं हुआ। इस महानाटक के प्राचीन और नवीन दो संस्करण प्राप्त होते हैं जिनमें क्रमशः १४ और ६ अंक पाए जाते हैं तथा प्राचीन के रचयिता दामोदर मिश्र और नवीन के रचयिता मधुसूदनदास कहे जाते हैं। साथ ही एक 'हनुमन्नाटक' स्वयं हनुमान जी का भी बनाया हुआ प्रसिद्ध है और दामोदर मिश्र की इस नाट्यकृति के चौदहवें अंक के एक छन्द से यह भी आभास होता है कि हनुमान जी की वास्तविक कृति तो मिली नहीं पर जो कुछ भी मिली उसके आधार पर दामोदर मिश्र ने इसका संग्रथन किया है। सामान्यतः इस नाटक में अन्य नाटकों की अपेक्षा अनेक विशेषताएँ दृष्टिगोचर होती हैं जिसमें गद्य की न्यूनता, पात्रों की अधिकता और विदूषक का अभाव आदि उल्लेखनीय हैं।

राजशेखर

राजशेखर संस्कृत साहित्य में 'काव्य मीमांसा' नामक शास्त्रीय ग्रंथ के रचयिता के रूप में विख्यात हैं पर वह एक सफल नाटककार और कवि भी थे। बाल रामायण, वालभारत या प्रचंड पांडव, विद्धशालभंजिका और कर्पूरमंजरी उसके चार नाटक हैं तथा 'हरविलास' महाकाव्य है। स्वयं राजशेखर ने अपनी काव्य मीमांसा में अपने भुवनकोश नामक एक भौगोलिक ग्रन्थ का भी उल्लेख किया है, पर हरविलास और भुवनकोश अभी तक उपलब्ध नहीं हो सके। प्राप्त प्रमाणों के आधार पर राजशेखर का समय दसवीं शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है और अपनी कृतियों की प्रस्तावना में उन्होंने जो अपना जीवनवृत्त स्वयं दे दिया है उसके आधार पर उनका पर्याप्त परिचय भी मिल जाता है। उसके आधार पर राजशेखर का जन्म महाराष्ट्र की यायावार नामक क्षत्रिय जाति में हुआ था और उनके पिता का नाम दुर्दुक व माता का शीलवती था। राजशेखर के पिता एक लब्धप्रतिष्ठ व्यक्ति थे और वह 'महाराष्ट्र चूड़ामणि' व 'अकालजलद' जैसी उपाधियों से विभूषित और सम्मानित भी थे तथा उनके पूर्वजों में सुरानन्द, तरल एवम् कविराज जैसे यशस्वी साहित्यकार हो चुके थे। राजशेखर का विवाह चौहान वंश में उत्पन्न अवंतिसुन्दरी नामक एक सुशिक्षित महिला से हुआ था और धन एवं यश प्राप्ति की लालसा से राजशेखर महाराष्ट्र को त्याग कर कान्यकुब्ज (आधुनिक कन्नौज) चले गए।

राजशेखर की चारों नाट्य कृतियों में से बाल रामायण व बाल भारत की रचना

लोकविख्यात ग्रन्थ रामायण और महाभारत के कथानक के आधार पर की गयी है तथा विद्धशालभंजिका व कर्पूरमंजरी की कथा काल्पनिक है। बाल रामायण में दस विशालकाय अंकों में रामकथा को भव्य रूप प्रदान किया गया है और बाल भारत महाभारत का विराट् नाटकीय रूप है, पर इसके केवल आरम्भ के ही दो अंक उपलब्ध होते हैं। विद्धशालभंजिका चार अंकों की नाटिका है और इसमें राजकीय जीवन के प्रेम प्रसंग को मूलाधार बनाया गया है। कर्पूरमंजरी भी चार जवनिकांतरों में समाप्त होनेवाली नाटिका है, पर प्राकृत भाषा में निबद्ध होने के कारण उसे सट्टक कहा जाता है और इनमें चंडपाल व कुंतल देश की राजकुमारी कर्पूरमंजरी का विवाह कौलमतावलम्बी भैरवानन्द को अलौकिक शक्ति से सम्पन्न दिखलाया गया है। यद्यपि समीक्षक 'कर्पूरमंजरी' को कई दृष्टियों से एक उल्लेखनीय नाटक मानते हैं, पर समष्टि रूप से राजशेखर की नाट्य-कला का मूल्यांकन करने पर स्पष्टतया उनके नाटकों में प्रवाह शैथिल्य, हास्य रस की न्यूनता और नाट्य-कला-कौशल का अभाव दीख पड़ता है तथा वह अपने नाटकों में पद्यों को दोहराते हैं।

कृष्ण मिश्र

कृष्ण मिश्र का समय ११०० ई० के लगभग माना जाता है और वह जैजाक-भुक्ति के राजा कीर्तिवर्मा के शासन काल में हुए थे तथा उनका केवल एक ही नाटक 'प्रबोध चन्द्रोदय' प्राप्त हुआ है। यह शान्त-रस प्रधान नाटक है और इसे रूपकात्मक या प्रतीकात्मक (Allegorical) नाटक भी कहा जाता है। इसमें वेदान्त मत के अद्वैतवाद का रोचक ढंग से प्रतिपादन है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' में श्रद्धा, भक्ति, विद्या, ज्ञान, मोह; विवेक, दंभ, बुद्धि इत्यादि अमूर्त्त भावमय पदार्थों को विभिन्न स्त्री और पुरुष पात्रों में विभक्त कर अध्यात्म विद्या का सुन्दर व रोचक उपदेश प्रस्तुत किया है। अतः दार्शनिक दृष्टि से इस नाटक का अत्यन्त महत्व है और इसमें शक्ति व ज्ञान का अपूर्व समन्वय भी किया गया है।

जयदेव

यह 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव से सर्वथा भिन्न हैं। इनका समय लगभग १२०० ई० है। यह विदर्भ प्रांत के कुंडिन नगर के निवासी थे और उनके पिता का नाम महादेव तथा माता का नाम सुमित्रा था। इनकी 'प्रसन्न-राघव' और 'चन्द्रालोक' नामक दो कृतियाँ प्रसिद्ध हैं, जिनमें से चन्द्रालोक अलंकार ग्रन्थ है और प्रसन्न-राघव नाटक है। इसका कथानक रामायण के आधार पर है। सात अंकों की इस नाट्य कृति में सीता स्वयंवर से लेकर रावण वध के उपरान्त राम के अयोध्यागमन तक की कथा दी गयी है पर अपना नाट्य कौशल प्रकट करने के हेतु जयदेव ने अपनी कृति में कुछ मौलिक परिवर्तन भी किये हैं। जयदेव ने परिष्कृत भाषा का प्रयोग किया है और उनकी भाषा में अपूर्व विलास व लालित्य भी है।

वत्सराज

वत्सराज कालंजर नरेश परमर्दिदेव के मन्त्री थे, उनका समय १२०० ई० के लगभग माना जाता है। किरातार्जुनीय व्यायोग कर्पूर चरित, हास्य-चूड़ामणि, रुक्मिणी हरण, त्रिपुरदाह व समुद्रमंथन नामक उनकी छः नाट्य कृतियाँ प्रसिद्ध हैं। इनमें तो कर्पूर चरित एक अंग का भाग है जिसमें द्यूतकार अपने रोचक अनुभवों का

वर्णन करता है और हास्य चूड़ामणि भी एकांकी प्रहसन है। भारवि के प्रसिद्ध महाकाव्य किरातार्जुनीय के आधार पर 'किरातार्जुनीय एकांकी' व्यायोग की रचना की गयी है, शेष तीन नाटकों में 'रुक्मिणीहरण, चार अंकों का ईहामृग है, और 'त्रिपुरदाह' चार अंकों का डिम है जिसमें शिव द्वारा त्रिपुरासुर नगरी के विध्वंस का वर्णन है तथा 'समुद्रमंथन' तीन अंकों का समवकार है। इस प्रकार भास के पश्चात् वत्सराज को ही विविध प्रकार के रूपकों की रचना में सफलता प्राप्त हुई है और उनके नाटकों की क्रियाशीलता, रोचकता व घटनाओं की प्रधानता आदि विशेषताएँ भी हैं तथा उनकी शैली, मधुर, ललित व प्रभावोत्पादक है।

प्रश्न ४६—निम्नलिखित कथनों की विवेचना कीजिए—

(१) काव्येषु नाटकम्, रम्यम् (२) उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते।

उत्तर—प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्रीय मान्यता के अनुसार काव्य-विभाजन के अनेक आधार हैं, इन्द्रिय, आकर और बन्ध। इन्द्रिय के आधार पर काव्य का विभाजन विशेष रूप से मान्यता प्राप्त है; तदनुरूप काव्य दो प्रकार का है—श्रव्यकाव्य तथा दृश्यकाव्य। श्रव्यकाव्य वह काव्य है, जो कानों से सुना जाता है। दृश्यकाव्य वह काव्य है जो अभिनय के द्वारा देखा-सुना जाता है। नाट्यशास्त्र की मान्यता के अनुसार देवताओं ने ब्रह्मा से यह निवेदन किया था कि हम एक ऐसा खेल चाहते हैं जो दृश्यकाव्य हो—' क्रीडनकीयमिच्छामो दृश्यं श्रव्यं च यद् भवेत्।'' नाटक ही एक ऐसा खेल है अथवा काव्य की विधा है जो दृश्य और श्रव्य इन दोनों ही कोटियों में आ जाता है। दृश्यकाव्य के आस्वाद के दो माध्यम होते हैं अतः दर्शक को उसका आनन्द सहज ही मिल जाता है। शिक्षित, अल्प शिक्षित, अशिक्षित एवं बालकों को सूक्ष्म की अपेक्षा मूर्त्त अधिक प्रभावोत्पादक होता है, बुद्धिगम्य होता है; अतः दृश्यकाव्य का महत्त्व स्वयं-सिद्ध है। श्री बलदेव उपाध्याय ने काव्य की विधाओं में सर्वाधिक महत्व नाटकों को दिया है। इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि—"काव्य की अपेक्षा नाटक की प्रतिष्ठा सदा अधिक रही है। काव्य के आनन्द से वंचित रहने वाले भी व्यक्ति नाटक का मनोहर अभिनय देखकर असीम अलौकिक आनन्द की उपलब्धि करते हैं। इसके लिए कारण की खोज में कहीं अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं है। काव्य श्रवण-मार्ग से हृदय को आकृष्ट करता है तथा अपना प्रभाव जमाता है। परन्तु नाटक नेत्र मार्ग से हृदय को चमत्कृत करता है। किसी वस्तु को देखने का आनन्द उसके सुनने की अपेक्षा कहीं अधिक होता है। काव्य में रसानुभूति के लिए अर्थ का समझना नितान्त आवश्यक होता है परन्तु नाटक में इसकी आवश्यकता नहीं। इसीलिए नाटक की समता चित्र से की गई है—"सन्दर्भेषु दशरूपकं श्रेयः। तद्धिचित्रं चित्रपटवद् विशेषसाकल्यात्" जिस प्रकार चित्र भिन्न-भिन्न रङ्गों के सम्मिश्रण से सहृदय दर्शकों के चित्त में रस का स्रोत बहाता है, ठीक उसी प्रकार नाटक की वेश-भूषा, नेपथ्य, आदि उचित संविधानों से दर्शकों के हृदय में आनन्द का उदय कराता है। संस्कृत के प्रसिद्ध आलंकारिक वामन ने इसीलिए काव्यों में रूपक को विशेष महत्व प्रदान किया है। रूपक की श्रेष्ठता का एक और भी कारण है। काव्य की विशद रसानुभूति के लिए जिस कवित्वमय वातावरण की आवश्यकता होती है उसकी सृष्टि सभी नहीं कर सकते। वह तो कल्पना से प्रसूत होती है। इसलिए

काव्य का रसास्वाद सहृदयों को ही हुआ करता है। परन्तु अभिनय में तो रसोपभोग की सकल सामग्री वेशभूषा, नाना प्रकार के पैदों आदि संविधानकों के द्वारा उपस्थित की जाती है। रसानुभूति के लिए वातावरण स्वयं उपस्थित हो जाता है। इसकी कल्पना करने की आवश्यकता नहीं रहती। यही कारण है कि साधारण व्यक्तियों के लिए भी काव्य की अपेक्षा नाटक का आकर्षण विशेष प्रभावशाली होता है। इसी से नाटक कवित्व की चरम सीमा माना जाता है—नाटकान्तं कवित्वम्।

नाटककार भवभूति ने श्रेष्ठ नाटक का लक्षण मालतीमाधव में लिखते हुए बतलाया है कि "विभिन्न रसों का प्रचुर और प्रगाढ़ प्रयोग, सौहार्द पूर्णहृद्यहारी क्रिया-कलापों का अभिनय पराक्रम और प्रणय का चित्रण: विचित्र कथावस्तु तथा विदग्धता-पूर्ण संवादों से युक्त नाटक ही उत्कृष्ट कोटि के माने जाते हैं—

भूम्ना रसानां गहना: प्रयोगा:
सौहार्दहृद्यानि विचेष्टितानि।
औद्धत्यमायोजितकामसूत्रं
चित्रा: कथा वाचि विदग्धता च॥

इस प्रकार नाट्य में रस, अभिनय, कथावस्तु, संवाद, गीत, नृत्य आदि का आनन्द एक स्थान पर ही मिल जाता है, अत: काव्य में नाटक की विधा एक महत्त्व-पूर्ण विधा है—

भरत मुनि ने नाटक का लक्षण लिखते हुए लिखा है कि नाटक तीनों लोकों के भावों का अनुकरण है—

त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यंभावानुकीर्त्तनम्। [3](ना० शा० १ । १०४) तथा नाटक नाना भावों से सम्पन्न लोकवृत्त का अनुकरण है—

नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकम्।

लोकवृत्तानुकरणं नाट्यमेतन्मया कृतम्॥ (ना० शा० १ । १०८-९) इसी प्रकार दशरूपककार धनंजय ने अवस्थानुकृति को नाटक कहा है—अवस्थानु-कृतिर्नाट्यं' (१।७) अवस्था से यहाँ अभिप्राय मन तथा शरीर की वृत्तियों तथा दशा से है। अर्थात् नाटक बच्चों से लेकर वृद्धों को आनन्द प्रदान करता है। नाटक में मानव-जीवन की किसी भी अवस्था एवं भाव का अनुकरण हो सकता है। जहाँ मानव की वाणी मौन हो जाती है उन भावों को भी नाटक में अभिनय के द्वारा प्रदर्शित किया जा सकता है। नाटक में नृत्य, संगीत आदि से युक्त विभावादि का प्रदर्शन होता है—नाट्यं गीतादि रंजितम्' (महिमभट्ट)। नाटक में सुख-दु:ख की अवस्थाओं का अभिनय भी होता है—

अवस्थायातु लोकस्य सुख दु:ख समुद्भवा।
तस्यास्त्वभिनय: प्राज्ञै: नाट्यमित्यभिधीयते॥

इस प्रकार नाटक के लक्षणों से भी स्पष्ट है कि इसमें मानव जीवन के किसी भी भाव का अभिनय के द्वारा प्रदर्शन किया जा सकता है। प्रत्येक अवस्था का व्यक्ति इससे रसास्वादन कर सकता है तथा इसमें नृत्य, गीत, अभिनय, कथा आदि तत्त्वों का समावेश होता है, अत: अन्य विधाओं की तुलना में यह महत्त्वपूर्ण है। उन विधाओं में अभिनय, नृत्य आदि का अभाव होता है। नाटक, महाकाव्य और उपन्यास तीनों ही

मानव की भावनाओं को तुष्ट करते हैं, तीनों ही जीवन की विषमता से त्रस्त मानव को शीतलता प्रदान करते हैं किन्तु तीनों का अपना-अपना महत्त्व होता है। "महाकाव्य में पद्य के आकार के अतिरिक्त जातीय अथवा युग भावनाओं का प्राधान्य रहता है। महाकाव्य संस्कृति का परिचायक होता है। नाटक गद्य-पद्यात्मक होता है, किन्तु उसमें कथोपकथन का प्राधान्य होता है, अतः इसके द्वारा वह शब्दार्थ का अनुकरण अधिक करता है। महाकाव्य की अपेक्षा नाटक में चरित्र-चित्रण का प्राधान्य होता है। उपन्यास एवं नाटक में अभिव्यक्ति का अन्तर होता है। उपन्यास भूतकाल की घटना पर आश्रित रहता है, नाटक की घटना भूतकाल पर आश्रित होते हुए भी वह प्रत्यक्ष घटना के रूप में दर्शक और पाठक के समक्ष आती है। वह अतीत को प्रत्यक्ष कर देता है। उपन्यास की अपेक्षा नाटक में रस का प्राधान्य होता है क्योंकि नाटक के तत्त्वों में वस्तु नेता और रस प्रमुख हैं। नाटक में महाकाव्य और उपन्यास जैसी बाह्यार्थता रहती है किन्तु पात्रों की प्रगीत काव्य जैसी भाव परायणता रहती है। नेत्रों के अनुरंजन के साथ शिक्षा और उपदेश कांता सम्मिततयोपदेशयुजे" की उक्ति को सार्थक करता है। नाटक में उपन्यास के इसी वास्तविकता के साथ महाकाव्य के से आदर्श की व्यंजना रहती है। नाटक एक साथ मनोरंजन और शिक्षा का कारण बन जाता है।"

प्राचीन समय में वेद सार्ववर्णिक नहीं था, शूद्रों को उसे पढ़ने का अधिकार नहीं था, इसलिए नाटक नामक पाँचवाँ सार्ववर्णिक वेद रचा गया—

"तस्मात्सृजापरं वेदं पञ्चमं सार्ववर्णिकम्"। (ना० शा० १।१२)

जिस प्रकार वेद ज्ञान की राशि है, उसे पढ़कर ज्ञान प्राप्त होता है। नाटक एक सर्वसुलभ, ज्ञान की देने वाली मनोरंजक विधा है। नाटक का दूसरा महत्त्व यह है कि वह सम्पूर्ण कलाओं में श्रेष्ठ है, कलाओं में ललित कलाएँ, और ललित कलाओं में भी काव्य, काव्यों में भी नाटक श्रेष्ठ है, भरतमुनि ने स्पष्ट लिखा है कि ऐसा कोई ज्ञान, शिल्प, विद्या, कला, योग अथवा कार्य नहीं है, जिसकी सत्ता नाटक में न हो, सम्पूर्ण शास्त्र, सम्पूर्ण शिल्प और विविध कर्म, नाटक में होते हैं—

"न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला॥
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते।
सर्वशास्त्राणि शिल्पानि कर्माणि विविधानि च॥
अस्मिन्नाट्ये समेतानि तस्मादेतन्मया कृतम्।
(ना० शा० ११११३-११५)

नाटक के लिए रंगमंच, नाट्यशाला, स्थापत्य, शिल्प तथा यवनिका के लिए चित्रकला की आवश्यकता होती है। अभिनय में नृत्य, संगीत और काव्य की आवश्यकता होती है। अतः हम कह सकते हैं कि नाटक में अनेक कलाओं की समवेत अभिव्यक्ति होती है, जो कि अन्यत्र दुर्लभ है। अतः नाटक अन्य कलाओं में श्रेष्ठ है।

नाटक में आनन्द एवं विश्रामदायक तत्त्व भी होते हैं। नाटक धर्म, अर्थ, काम का साधन होता है, वह दुर्विनीतों का संस्कार करने वाला, नपुंसक, भीरु-कायरों का बल प्रदाता, शूरों का उत्साहवर्द्धक होता है, अज्ञानियों का ज्ञानदाता, पंडितों को पांडित्य, विलासियों को विलास, दुखियों को स्थिरता और शान्ति देने वाला होता है—

दु:खार्त्तानां श्रमार्त्तानां शोकार्त्तानां तपस्विनाम् ॥१।१११।
विश्रामजननं लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥१।११२।
धर्मो धर्मप्रवृत्तानां काम: कामोपसेविनाम् ॥१।१०५।
निग्रहो दुर्विनीतानां मत्तानां दमनक्रिया ॥
क्लीवानां धाष्ट्र्यंकरणमुत्साह: शूरमानिनाम् ॥१।१०६।
अबुधानां विबोधश्च वैदुष्यं विदुषामपि च ॥
ईश्वरानां विलासश्च स्थैर्यं दु:खार्दितस्य च ॥१।१०७॥
अर्थोपजीविनामर्थो वृत्तिरुद्विग्नचेतसाम् ॥१।१०८।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि काव्य की सम्पूर्ण विधाओं में नाटक महत्वपूर्ण है, इसलिए यह कथन सर्वथा उचित ही है कि काव्य की सम्पूर्ण विधाओं में नाटक सर्वाधिक रम्य है—

काव्येषु नाटकं रम्यम् ।

(२) उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते

नाटककार भवभूति संस्कृत साहित्य के महान् कलाकार हैं, उनकी कलात्मक प्रतिभा इतनी महान् है कि वे सहज ही कालिदास की तुलना में आ जाते हैं। कालिदास ने केवल तीन नाटक लिखे हैं और भवभूति ने भी तीन नाटकों का सृजन किया है। भवभूति का मालती माधव 'प्रकरण' रूपक है, शेष 'महावीर चरित' तथा 'उत्तररामचरित' नाटक हैं। भवभूति के इन नाटकों में सर्वश्रेष्ठ नाटक 'उत्तर रामचरित' है। महाकवि के तीनों नाटकों में तीन दिशाओं का प्रतिनिधित्व हुआ है। इन कृतियों में भवभूति की वाग्वश्या सरस्वती मानो अपनी तीन धाराओं में प्रवाहित हुई है। कुरुक्षेत्र के समीप सरस्वती एक-सी धारा में कुछ दूर बहकर लुप्त हो गई है किन्तु भवभूति की प्रतिभा में वह अविच्छिन्न मालती माधव में शृंगार रस के रूप में, महावीर चरित में वीर रस के रूप में और उत्तर रामचरित में करुण रस के प्रवाह में आप्यायित एवं आप्लावित कर रसिक जनों के हृदयों को आकृष्ट करती है।"

'उत्तर रामचरित' सात अंकों का एक विशाल नाटक है। इसमें नाटककार ने बाल्मीकि रामायण की कथा को रूपान्तरित कर अनेक मौलिक कल्पनाओं के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरण के लिए—

(१) रामायण की कथा दुखान्त है, सीता भूमि में समा जाती हैं, किन्तु भवभूति ने भारतीय नाट्यशास्त्र के आदर्शों के अनुकूल उसे सुखान्त बनाया है। नाटक के अन्त में राम, सीता, लव, कुश आदि का मिलन होता है। (२) प्रथम अङ्क की 'चित्रवीथी' की कल्पना कवि की नवीन कल्पना है। इसमें राम-सीता के जीवन की पूर्वार्द्ध में घटित घटनाओं को चित्रित कर भावनाओं की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। (३) राम को पुन: पंचवटी ले जाने और विगत घटना को स्मरण कराने के शम्बूक प्रसङ्ग की अवतारणा मौलिकता लिये हुए है। (४) तृतीय अंक की 'छाया' सीता की कल्पना अपूर्व है, मौलिक है, नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण है। इसी अंक में वासन्ती से राम का मिलन भी रास की भावनाओं को दर्शकों के समक्ष प्रस्तुत करने के लिए कवि की मौलिक देन है। यहाँ राम अपना भग्न हृदय खोल कर रख देते हैं। (५) यज्ञ के

अश्व की चोरी, लव और चन्द्रकेतु का युद्ध, राम को रङ्गमंच पर लाने के लिए मौलिक कल्पना होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसके द्वारा नाटककार ने अपने नायक के मन की रक्षा भी की है। (६) सातवें अंक में गर्भाङ्क की योजना भी कवि की मौलिक किन्तु नूतन कल्पना है। (७) नाटक में करुण रस का प्राधान्य है किन्तु अन्य रसों में हास्य, रौद्र, वीर और शृङ्गार का भी चित्रण है। (८) भाषा की दृष्टि से भी भवभूति अपूर्व हैं। उनका भाषा पर एकाधिकार है भाव और पात्र के अनुरूप उनकी भाषा चलती है। (९) जिस पावन प्रेम की उदात्त कल्पना भवभूति ने की है, वह भी ध्यान देने योग्य है। (१०) गद्य-पद्य में अलंकारों का प्रचुर प्रयोग नहीं है, वह सामान्य भाषा से ही, प्रभावान्विति उत्पन्न करता है। फिर भी कहीं-कहीं स्वाभाविक रूप में अलंकारों ने आकर भवभूति की कविता का शृङ्गार किया है। (११) उत्तर रामचरित का नाटकीय चक्र प्रकृति की गोद में घटित होता है। भवभूति की प्रकृति संश्लिष्ट और स्वतन्त्र आलम्बन रूप में चित्रित हुई है। चतुर्थ अंक की प्रकृति अवश्य ही उद्दीपनकारी है। "कवि सामान्य चिरपरिचित मधुर दृश्यों की अपेक्षा प्रचण्ड एवं घोर दृश्यों का वर्णन अधिक पसन्द करता है। जहाँ कालिदास केवल प्रकृति के रम्य चित्रों को ही लेते हैं, वहाँ भवभूति कोमल, कठोर दोनों रूपों को लेते हैं।...इनके प्रकृति-चित्र पूर्णतः दृश्य को नेत्रों के सामने लाकर, स्पष्ट रूप में रख देते हैं। भवभूति के समान प्रकृति निरीक्षण की सूक्ष्मता अन्य कवियों में नहीं मिलती है। प्रकृति में कवि का अनन्य अनुराग है।" (१२) कवि ने राम-सीता के दाम्पत्य प्रेम (Conjugal love) का इस नाटक में अपूर्व चित्रण किया है। संसार में सच्चा प्रेम यदि देखना है, तो उत्तर रामचरित में देखिए—"यह सीता घर में लक्ष्मी हैं, यह नेत्रों में अमृतशलाका है, इसका यह स्पर्श शरीर में प्रचुर चन्दन का रस है और यह गले पर शीतल और कोमल मुक्ताहार हैं। इसकी कथावस्तु प्रियतर नहीं है? परन्तु इसका वियोग तो बहुत ही असहनीय है" :—

> इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो:
> रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः,
> अयं बाहुः कण्ठे शिशिरमसृणो मौक्तिकसरः
> किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तुविरहः। (१। ३८)

सीता का यह स्पर्श "जो सुख और दुःख में एकरूप है और सभी अवस्थाओं में अनुगत है, जिसमें हृदय का विश्राम है, जिसमें प्रीति बुढ़ापे से भी नहीं हट सकती है जो कि समय से विवाह से लेकर मरण-पर्यन्त, परिपक्व और उत्कृष्ट प्रेम में अवस्थित है, उस दाम्पत्य का वह एक कल्याण बड़े पुण्य से पाया जाता है"—

> अद्वतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्वस्थासु—
> यद्विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः
> कालेनावरणात्ययात्परिणते यत्स्नेहसारे स्थित
> भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्राप्यते। (१। ४०)

नाटककार ने नाटक में पत्थरों तक को रुलाया है। इस रोदन में भी नाटककार की विशेषता परिलक्षित होती है। "भवभूति ने राम के नेत्रों से इतने आँसू व्यर्थ ही नहीं बहवाये हैं। सच पूछा जाय तो इन्हीं आँसुओं से राम और सीता के उस मिलन

वृक्ष की जड़ें सींची गई हैं, जिसकी सुखद छाया में अन्त में दर्शकों को अपूर्व विश्रान्ति मिलती है। इन्हीं आँसुओं से कवि ने सीता के परित्यागजन्य परिताप का पूर्णतया प्रक्षालन किया है।" (१३) नाटककार ने नाटकीय दृष्टि से भी इसे पूर्ण नाटक बनाया है। इसका नायक धीरोदात्त है, नायिका स्वकीया है। इसमें प्रतिनायक-नायिका का अभाव है। अर्थ प्रकृतियों, कार्य की अवस्थाओं और उनके समन्वय से सन्धियों का पूर्ण निर्वाह किया है। इसमें करुण और विप्रलम्भ शृङ्गार रस की प्रधानता है। वीर, अद्भुत आदि अङ्गीरस हैं। इसके अतिरिक्त कथा-सूत्रों के सफल निर्वाह के लिए विष्कम्भकों का सफल प्रयोग, पताकास्थानक (Dramatic irony) का प्रयोग, छाया सीता, गर्भाङ्क आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जिनके प्रयोग में निस्सन्देह भवभूति अद्वितीय हैं। इस दृष्टि से भवभूति का उत्तर रामचरित' नाटक प्रतिनिधि नाटक है।

भवभूति की अनेक विशेषताओं का उल्लेख करते हुए श्री इन्द्रपालसिंह ने 'संस्कृत नाटक-समीक्षा' पुस्तक के पृष्ठ २२६ पर लिखा है कि—

"कवि की जिस भाव प्रवणता ने उसको कालिदास के बाद स्थान दिलाया है, उसी के कारण उसकी गति में शिथिलता आ गई है। व्यापार-प्रधान दृश्यों की अपेक्षा वर्णनात्मक दृश्यों की प्रचुरता के कारण मेक्डॉनल ने उत्तर रामचरित को नाट्य-ग्रन्थ काव्य कहा है तथा डॉ० भोलाशंकर व्यास ने भी अपने ग्रन्थ 'संस्कृत दर्शन' में कवि की भावुकता और नाटकीय व्यापारों की कमी के कारण इसे गीतिनाट्य (Lyric drama) कहा है। इसमें सन्देह नहीं कि 'उत्तर रामचरित' में भवभूति का कवि अधिक मुखर है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उसने उनके नाटककार को प्रभावहीन बना दिया है। वास्तव में उत्तर रामचरित में भवभूति के द्वितीय अंक के प्रकृतिवर्णन और तृतीय अंक के करुण चित्रण में उसका कवि मुखर हो उठा है, वहाँ चित्रशाला-प्रसंग, छाया सीता-प्रच्छन्न सीता की अवतारणा, गर्भाङ्क में रामायण नाटक की योजना एवं विभिन्न अंकों के विष्कम्भकों के द्वारा भावी एवं विगत घटनाओं की सूचना देने इत्यादि के विधान में उसके नाटककार की अपूर्व प्रतिभा एवं मनोमुग्धकारी कल्पना का परिचय मिलता है। कथानक के इसी के वैशिष्ट्य के कारण किसी ने कहा है—"उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते।"

प्रश्न (५०) नाटककार कालिदास एवं भवभूति की तुलना कीजिए।

उत्तर—संस्कृत साहित्य-कानून में यों तो सर्वत्र ही रस-राग, पराग-सौरभ समन्वित प्रसूनों के दर्शन होते हैं, तथापि उनमें से दो अपनी विशिष्टताओं के कारण हमारा ध्यान सबसे अधिक अपनी ओर आकर्षित करते हैं। ये कुसुम-द्वय हैं कालिदास एवं भवभूति। यदि एक ओर कविकुल गुरु कालिदास विश्वख्याति को अर्जित कर देदीप्यमान नक्षत्र की भाँति चमक रहे हैं तो दूसरी ओर करुण रस के आचार्य भवभूति भी अपनी कीर्ति की विपुल रश्मि-माला से आभासित हो रहे हैं। यदि एक ओर प्रेम और सौन्दर्य के क्षेत्र में कालिदास का एकाधिपत्य है तो दूसरी ओर प्रकृति-चित्रण के प्रांगण में भवभूति भी सर्वोच्च पद पर आसीन हैं। दोनों ही साहित्यकार महिमामण्डित हैं, अद्वितीय हैं, अपने-अपने क्षेत्र में अप्रतिम हैं। फिर भी इन दोनों में अधिक महान् कौन है, साहित्य-समीक्षक इस सम्बन्ध में एकमत नहीं हो सके हैं। कुछ कालिदास को सर्वश्रेष्ठ मानते हैं, तो कुछ भवभूति को यह गौरव प्रदान करने के पक्ष में हैं। दोनों ही पक्षों के समालोचक अपने-अपने मत की पुष्टि में विविध प्रमाण देते

है। कलिदास के समर्थकों के अनुसार अनादिकाल से ही कवियों की काव्य-प्रतिभा का तुलनात्मक मूल्यांकन होता आ रहा है किन्तु कालिदास की समकक्षता में कोई भी कवि नहीं आ सकता है। यही भाव इस श्लोक में मिलता है—

"पुरा कवीनां गणनाप्रसङ्गे कनिष्ठिकऽधिष्ठिल कालिदासः ॥
अद्याऽपि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका साऽर्थवती बभूव ॥"

किन्तु दूसरी ओर हैं भवभूति के समर्थक जो कि इस विचारधारा से सहमत नहीं हैं और कहते हैं कि—

"सुकविद्वित्रयं मन्ये निखलेऽपि महीतले
भवभूतिः शुकश्चाय वाल्मीकिस्तु तृतीयकः।

अर्थात् सम्पूर्ण वसुन्धरा पर दो-तीन ही सुकवि हैं जो कि भवभूति, शुक एवं वाल्मीकि हैं। यही नहीं, भवभूति के समर्थकों का यह भी कहना है कि कालिदास केवल कवियों की पंक्ति में परिगणित हैं जबकि भवभूति 'महाकवि' के गौरवशाली आसन पर आसीन हैं—

"कवय कालिदासाद्या भवभूतिर्महाकविः।"

इसके उत्तर में कालिदास के समर्थक अपना यह कथन प्रस्तुत करते हैं—

"तरव. पारिजाताद्याः स्नुहीवृक्षो महातरुः।"

अर्थात् ठीक है, स्वर्ग के पारिजात आदि भी तो केवल वृक्ष हैं तथा सेंहुड़ अवश्य ही महावृक्ष है। उनके कथन का अभिप्राय यह है कि भले ही भवभूति को 'महाकवि' की संज्ञा से विभूषित कर दिया जाये किन्तु श्रेष्ठ कालिदास ही सिद्ध होंगे क्योंकि जिस प्रकार स्वर्ग का पारिजात केवल वृक्ष ही है परन्तु उसकी महिमा सर्वविदित है जबकि कांटेदार सेंहुड़ को आयुर्वेद में महावृक्ष कहा गया है और पारिजात की तुलना में वह अत्यन्त हीन है, उसी प्रकार कवि कालिदास महाकवि भवभूति की अपेक्षा श्रेष्ठतर है।

अस्तु यह स्पष्ट है कि कालिदास एवं भवभूति को लेकर साहित्य-समीक्षकों ने अपने-अपने मत प्रस्तुत किये हैं। वस्तुतः सत्य यह है कि दोनों ही काव्य एवं नाटक रचना के क्षेत्र में चरमोत्कर्ष पर पहुँचे हुए हैं। यदि हम इन दोनों साहित्य-मनीषियों का तुलनात्मक अध्ययन करें तो निम्न निष्कर्षों पर पहुँच सकते हैं—

(1) कालिदास के काव्य में व्यंजना वृत्ति का आधिक्य है एवं भवभूति की रचना में वाच्यार्थ की प्रधानता है। गागर में सागर भरने की प्रवृत्ति कालिदास में प्रायः सर्वत्र ही दृष्टिगत होती है। उन्होंने स्वल्प शब्दों के माध्यम से अधिकतम भावों को मूर्तिमान किया है। गिने-चुने शब्दों की आधारशिला पर भावों की विशाल अट्टालिका खड़ी की है। व्यंजना शक्ति के प्रति उनका मोह बहुत अधिक है। पाठक को कल्पनाशक्ति को अधिक-से-अधिक उड़ानें भरने का अवसर वे प्रदान करते हैं। इसके विपरीत भव-भूति के काव्य में वाच्यार्थ की प्रधानता है। कवि ने भावाभिव्यक्ति के लिए अधिक-से अधिक शब्दों का प्रयोग किया है। पाठक को अर्थ-ग्रहण करने में कल्पना का सम्बल नहीं लेना पड़ता है, सब कुछ स्वयं कहने की अपेक्षा बहुत कुछ पाठक पर समझने के लिए छोड़ दिया है वहाँ भवभूति ने पाठक को किसी प्रकार का कष्ट देना उचित नहीं समझा और विविध प्रकार से विषय को वर्णित कर सब कुछ अधिकाधिक स्पष्ट कर दिया है। उदाहरण के लिए हम शकुन्तला के सौन्दर्यावलोकन के उपरान्त दुष्यन्त का यह कथन देख सकते हैं—"अये लब्धं नेत्र निर्वाणम्" यहाँ पर नेत्र-

निर्माण (आनन्द) जन्य रसास्वाद सामाजिक के लिए अनुभवगम्य है पर भवभूति के श्लोक में मालती के विषय में माधव की उक्ति इस प्रकार है—

"अविरलमिवदाम्न पौण्डरीकेण नद्धः
स्नपित इव च दुग्ध स्रोतसानिर्भरेण।
कवलित इव कृत्स्नश्चक्षुषा स्फारितेन,
प्रसभममृतवर्षेनेव सान्द्रेण सिक्तः ॥"

यहाँ पर माधव के नेत्रों ने मालती को देखकर जो अनुभव प्राप्त किया है उसे कवि ने स्वयं पूर्णरूपेण वर्णित कर दिया है। माधव कहता है कि मानों श्वेत कमल की माला ने मुझे नीचे से ऊपर तक ढँक रखा है। मानों दुग्ध-धारा में मुझे स्नान कराया जा रहा है। कानों तक विस्तृत विशाल मालती के नेत्र मानों मेरा पान कर रहे हैं। इसके साथ ही यह भी प्रतीत हो रहा है कि मेरे ऊपर अमृत की वर्षा हो रही है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कालिदास ने व्यंजना प्रधान और भवभूति ने वाच्यार्थ प्रधान साहित्य की सर्जना की है।

(२) "उपमा कालिदासस्य"—यह उक्ति प्रसिद्ध है। इससे कालिदास का उपमाओं के क्षेत्र का एकछत्र सम्राट होना प्रकट है। निःसन्देह इस क्षेत्र में कालिदास अपनी समता नहीं रखते। उनकी उपमाओं की विशेषता यह है कि वे मूर्त्त की उपमा मूर्त्त से देते हैं। इसके विपरीत भवभूति मूर्त्त की उपमा अमूर्त्त से देते हैं। उदाहरण-स्वरूप कालिदास वल्कलधारिणी शकुन्तला की उपमा सिवार से व्याप्त कमल पुष्प से देते हैं। जबकि भवभूति दग्ध सीता की उपमा मूर्तिमती करुणा या विरह व्यथा से देते हैं। कालिदास की उपमाओं में नायिका के शरीर के अङ्ग-प्रत्यङ्गों का उपमा के माध्यम से वर्णन किया गया है परन्तु भवभूति ने केवल गुणों का विवेचना ही किया है।

(३) कालिदास भवभूति के नायिका-वर्णन में भी भिन्नता है। कालिदास ने नायिका वर्णन के अवसर पर नायिका के बाह्य सौंदर्य का मनोहारी चित्रण किया है जब कि भवभूति ने ऐसे अवसर पर नायिका के अन्तःसौंदर्य पर ही प्रकाश डाला है। कालिदास रूप और यौवन के चतुर चितेरे हैं। उन्होंने अपनी लेखनी से यौवन-भाराक्रान्त कामिनी के ऐसे सरस और सजीव चित्र अंकित किये हैं जो दृष्टि-पथ के समक्ष आते ही पाठक को अपने आकर्षण-पाश में आबद्ध कर लेते हैं। नारी का मांसल सौंदर्य उन्हें भाया है और अपने कवि-कौशल से उन्होंने उसे अत्यन्त मनोरम रूप में पाठकों के समक्ष प्रस्तुत किया है, शकुन्तला को उन्होंने 'श्रोणीभारादलसगमना', 'तुङ्गस्तनी', 'पक्वबिम्बाधरोष्ठी' कहकर वर्णित किया है, नारी के आङ्गिक सौंदर्य की ओर कवि ने अपनी सजग दृष्टि रखी है और बाह्य सौंदर्य का चित्रण अत्यन्त भव्य एवं कलात्मक रूप में किया। दूसरी ओर भवभूति की दृष्टि नारी के बाह्य कलेवर के स्थान पर उनके आन्तरिक गुणों पर पड़ी है। भवभूति के काव्य में अन्तःसौंदर्य का ही प्रस्फुटन है। उदाहरण के लिए—सीता "इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्ति नयनयोः", "एतानितानि वचनानि सरोरुहाक्ष्याः कर्णामृतानि मनसश्च रसायनानि", "विनिश्चेतु शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा।" वस्तुतः भवभूति का यह रूप-वर्णन उचित ही है। उन्होंने सीता के प्रति मातृ दृष्टि रखी थी, अतएव वे शारीरिक सौन्दर्य को देख भी कैसे सकते थे ? उन्होंने सदैव सीता के गुणों को ही देखा और उन्हीं का विवेचन किया। इस प्रकार कालिदास और भवभूति का नायिका-चित्रण पर दृष्टिभेद है। इतना

कहा जा सकता है कि कालिदास के रूप-वर्णन की धारा स्वाभाविक एवं यथार्थ के दोनों कूलों का स्पर्श करती हुई प्रवहमान हुई है तो भवभूति के रूप-वर्णन की सरिता में आदर्श एवं गाम्भीर्य की उत्ताल तरंगें समाविष्ट हैं।

(४) भाषा की दृष्टि से यदि कालिदास एवं भवभूति का तुलनात्मक विवेचन किया जाये तो विदित होगा कि कलिदास की भाषा यदि सरल, कोमल, स्वाभाविक एवं ललित पदावली से युक्त है तो भवभूति की भाषा श्रमसाध्य, सामाजिक, प्रगल्भ एवं प्रौढ़ है। कालिदास ने सरल एवं लोकप्रचलित शब्दों का ही अधिकांशतः प्रयोग किया है जबकि भवभूति पाण्डित्य-प्रदर्शन के प्रेमी हैं। फलस्वरूप भाषा का चरम परिपाक भवभूति की रचनाओं में ही दृष्टिगत होता है। कालिदास की कविता में यदि सरल भाषा का ही प्रयोग है तो भवभूति की कविता-कामिनी भाषा के वैभवपूर्ण स्वरूप को लेकर अवतरित हुई है।

(५) कालिदास के प्रकृति-चित्रण की विशेषता यह है कि प्रकृति को निष्प्राण अथवा चेतनाहीन न मानकर जीवित एवं सप्राण माना गया है और प्रकृति का मानवीकरण किया गया है। प्रकृति-वर्णन में यदि एक ओर कवि की कल्पना की कमनीयता विद्यमान है तो साथ ी सूक्ष्म निरीक्षण एवं नवीनता आदि विशेषताएँ भी उसमें यत्र-तत्र परिलक्षित होती हैं। कालिदास के मेघदूत में प्रकृति का सर्वाङ्गीण चित्रण हुआ है। प्रकृति को कवि ने प्रेमिका के रूप में अंकित किया है और बाह्य प्रकृति का अन्तः प्रकृति के साथ सुन्दर सामंजस्य प्रस्तुत किया है। भवभूति का प्रकृति-चित्रण भी विविध विशेषताओं से आपूर्ण होने के कारण अत्यन्त अद्वितीय कोटि का है। इन्होंने प्रकृति का चित्रण आलम्बन विभाव के रूप में किया है। कवि ने प्रकृति के कोमल-मधुर स्वरूप के अंकन के साथ ही उसके भयंकर स्वरूप का भी चित्रण किया है। प्रकृति के कठोर पक्ष के चित्रांकन पर उनका विशेष अनुराग है, जबकि कालिदास की रुचि प्रकृति के कोमलतम स्वरूप पर है। कालिदास ने पर्वतीय सुषमा, मृग, भ्रमर, हाथी आदि के वर्णनों में ही उत्साह दिखाया है किन्तु भवभूति ने समान उत्साह से प्रचण्ड ग्रीष्म में अजगर के स्वेदद्रव का पान करते हुए गिरगिटों को भी वर्णित किया है।

(६) कालिदास के काव्य में कल्पना का प्रचुर वैभव विद्यमान है। और रचनाओं का एक विहंगम पर्यवेक्षण ही यह प्रकट कर देता है कि कवि का कल्पना पर एकछत्र अधिकार है। इसके विपरीत भवभूति के काव्य में मानव धर्म के विविध स्वरूपों का अंकन ही अधिक कौशल एवं पटुता के साथ हुआ है।

(७) कालिदास की कविता कामिनी ने शृंगार सरिता में आकण्ठ निमग्न होकर निमज्जन किया है। फलतः शृगार भावना का अत्यन्त सफल परिपाक कवि के काव्य में है। दूसरी ओर भवभूति वीर एवं करुण रस के आचार्य हैं और दोनों रसों का जीताजागता चित्र उपस्थित करने में सिद्धहस्त हैं। शृङ्गार रस पर भी उन्होंने अपनी सफल लेखनी चलाई है। फिर भी कालिदास और भवभूति के शृङ्गार-निरूपण में एक अन्तर है। कालिदास के काव्य में कहीं-कहीं शृङ्गार का प्रादुर्भाव शुद्ध सात्विक प्रेम के स्थान पर काम-वासना से हुआ जबकि भवभूति ने सर्वत्र ही पवित्र एवं आदर्शोन्मुखी शृङ्गार की उद्‌भावना की है।

(८) पुरुष के रूप-चित्रण में भवभूति को कालिदास की अपेक्षा अधिक सफलता मिली है। उन्होंने पुरुष का रूप-वर्णन अपनी समर्थ लेखनी द्वारा इस प्रकार किया है कि

पाठक के समक्ष वर्णित पुरुष का चित्र उपस्थित हो जाता है। कालिदास के वर्णन इतने उत्कृष्ट कोटि के नहीं हैं।

(९) शिशु-वर्णन की दृष्टि से यदि कालिदास और भवभूति का अध्ययन किया जाये तो इस क्षेत्र में भवभूति अधिक श्रेष्ठ कहे जायेंगे। उन्होंने लव और कुश का चित्रण इस प्रकार से किया है कि पाठकों को वे अपने समक्ष प्रत्यक्ष से दिखाई देते हैं। कालिदास को सर्वदमन के वर्णन में यह सफलता नहीं मिली है।

(१०) मृग, अश्व आदि का वर्णन कालिदास ने भवभूति की अपेक्षा अधिक श्रेष्ठता से किया है। उसके 'ग्रीवाभंगाभिराम' में मृग का तथा 'मुक्तशररश्मिषु निरायत पूर्वकाया' में अश्व का सुंदर चित्र उपस्थित है जबकि भवभूति के 'पश्चात्पुच्छं वहति विपुल' में अश्व के चित्रोपम रूप के स्थान पर अश्व के गुणों की सूची मात्र है।

भवभूति एवं कालिदास के कृतित्व का एक विहंगम पर्यवेक्षण यह प्रकट करता है कि भवभूति ने कालिदास से प्रेरणा प्राप्त की। ऐसा होना स्वाभाविक भी है क्योंकि कालिदास पूर्ववर्ती एवं भवभूति परवर्ती थे।

कालिदास के शाकुन्तल एवं भवभूति के उत्तर रामचरित में कुछ मौलिक समानताएँ भी दृष्टिगत होती हैं। दोनों ही नाटकों के नायकों ने अपनी-अपनी गर्भवती पत्नियों का परित्याग किया है। दुष्यन्त का यह कृत्य शाप के भय से है और राक का लोकापवाद बचाने के लिए है। परित्यक्त होने के पश्चात् दोनों ही नायिकाओं का पालन-पोषण महर्षियों के आश्रमों में होता है। नायिकात्याग के उपरान्त दोनों नायक अपनी नायिकाओं के विरह में व्यथित भी होते हैं। दुष्यन्त का मनोविनोद तो फिर भी यथासम्भव उपायों से होता रहता है किन्तु राम के विरहोद्गार अधिक मार्मिक हो गए हैं।

शुक्ल-बन्धुओं ने दोनों महाकवियों की तुलना करते हुए लिखा है कि "उन दोनों कवियों की अभिव्यक्ति में बहुत अन्तर है। भवभूति अभिधा से अधिक-से-अधिक भाव-प्रकाश करते हैं, किन्तु कालिदास व्यंजना-वृत्ति से अपने भावों को व्यक्त करते हैं। भवभूति विशद वर्णन करते हैं किन्तु कालिदास बहुत कुछ सहृदयों के लिए छोड़ देते हैं। कालिदास के पात्र वियोग दशा को आँसू बहाकर ही समाप्त कर देते हैं किंतु भवभूति के फूट कर रोते हैं। कालिदास की भाषा सरसता, वैदर्भी रीति और प्रसाद युक्त होती है, किन्तु भवभूति की शैली आडम्बर-युक्त, प्रौढ़ और दीर्घ समास वाली होती है। कालिदास ने प्रकृति के ललित एवं कोमल पक्ष को ही छुआ है परन्तु भवभूति ने उसके सुकुमार और भयावह दोनों ही रूपों का चित्रण किया है। कालिदास बहुधा मूर्त की उपमा मूर्त से देते हैं जबकि भवभूति मूर्त की उपमा अमूर्त से। कालिदास ने शृङ्गार का वर्णन किया है, भवभूति करुण का वर्णन करते हैं। कालिदास की दृष्टि बहुधा नारी के बाह्य सौन्दर्य पर रही है जबकि भवभूति ने उसके अंतः सौन्दर्य का उद्घाटन किया है। कालिदास में यौवन की उद्दाम भावनाओं का ही प्रचुरता से वर्णन है जबकि भवभूति में दाम्पत्य-प्रेम का ही आधिक्य है। कालिदास के नाटकों में विदूषकों का होना उनकी विनोदी प्रकृति का सूचक है जबकि भवभूति की रचनाओं में उसका अभाव उनकी गम्भीरता का सूचक है।"

स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय इन दोनों नाटककारों की तुलना करते हुए लिखते हैं कि "विश्वास की महिमा में, प्रेम की पवित्रता में, भाव की तरंग क्रीड़ा में, भाव

गाम्भीर्य में और हृदय के महामात्य में 'उत्तर रामचरित' श्रेष्ठ है और घटनाओं की विचित्रता में, कल्पना के कोमलत्व में, मानव चरित्र के सूक्ष्म विश्लेषण में, भाषा की सरलता और लालित्य में अभिज्ञान शाकुन्तल श्रेष्ठ है। संस्कृत साहित्य में ये दोनों नाटक परस्पर प्रतिद्वन्द्वी नहीं। ये दोनों एक दूसरे के साथी हैं। अभिज्ञान शाकुन्तल शरद् ऋतु की पूर्ण चाँदनी है, उत्तर रामचरित नक्षत्र खचित नील आकाश है। एक बाग का गुलाब है, दूसरा वन मालती है। एक व्यंजन है, दूसरा हविष्यान्न है, एक बसन्त है, दूसरा वर्षा है। एक नृत्य है, दूसरा अश्रु है। एक उपभोग है, दूसरा पूजन है।"

अन्ततः हम यही कह सकते हैं कि अपने-अपने क्षेत्र में दोनों ही अद्वितीय हैं। यदि एक ओर "काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला", तो दूसरी ओर "नाटंकेषु वयं श्रेष्ठा वय वा वयमेव वा उत्तरे रामचरिते तु भवभूतिर्विशिष्यते।" की घोषणा की गई है।

प्रश्न ५१—निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—

(१) नान्दी, (२) सूत्रधार, (३) प्रस्तावना—उद्घातक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक, अवगलित, (४) नेपथ्य, (५) अक, (६) वस्तुविवेचन—अधिकारिक, प्रासंगिक—प्रख्यात, उत्पाद्य, मिश्र, पताका, प्रकरी, (७) सूच्य, अपवारित, जनान्तिक, (८) आकाशभाषित, (९) अर्थोपक्षेपक—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार, अंकास्य, अंकमुख, (१०) स्वगतकथन, (११) विदूषक, (१२) भरतवाक्य, (१३) नियतश्राव्य, (१४) पताकास्थनक, (१५) अर्थप्रकृतियाँ–(बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी, कार्य), (१६) कार्यावस्थाएँ—(आरम्भ, यत्न, प्राप्याशा, नियताप्ति, (फलागम), (१७) नाट्य सन्धियाँ—(मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, निर्वहरण)।

नान्दी

नन्दी पूर्वरङ्ग के बाईस अंकों में से एक है। इसे नाटक का मङ्गलाचरण भी कहा जाता है। नान्दी की व्युत्पत्ति विद्वान् इस प्रकार करते हैं—**'नन्दन्ति देवता अस्याम्' अथवा 'नन्दयति-आनन्दयति लोकान इति नान्दी। शुभाशंसनेन लोकानन्द जननात्।** अर्थात् यह नाटक के आरम्भ का एक अंश है, जिसे पढ़ या सुनकर आनन्द प्राप्त होता है, इससे लोग आनन्दित होते हैं। इसमें शंख, चक्र, चन्द्र, चक्रवाक और कुमुदादिक मांगल्यजनक वस्तुओं का वर्णन या उल्लेख होता है, अथवा उल्लेख करना आवश्यक है। नाटक में आने वाले विषय की सूचना भी इसमें रहती है। वास्तव में रङ्गद्वार के पूर्व ही जो मंगलार्थक सामूहिक स्तुति होती है, वही नान्दी कहलाती है। इसे नान्दीपाठ या मंगलपाठ भी कहा जाता है। विभिन्न ग्रन्थों के अनुसार इसका स्वरूप और लक्षण इस प्रकार है—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते।
देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता॥
माङ्गल्यशंखचन्द्राब्ज कोककैरवशंसिनी।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत॥ (साहित्यदर्पण)

अथवा

देवद्विजनृपादीनामाशीर्वादपरायणा।
नन्दन्ति देवताः यस्मात्तस्मान्नान्दी प्रकीर्तिता॥

अथवा

आशीर्नमस्क्रियारूप: श्लोक: काव्यार्थसूचक, ।
नान्दी पदैर्द्वादशभिरष्टाभिवाप्यलङ्कृता ।।

नान्दी प्राय: आठ, बारह, अठारह या बाईस पदों वाली होती है । 'पद' का अर्थ पाद या चरण से है अर्थात् दो-तीन श्लोकों के द्वारा नान्दी की जाती है ।

नान्दी दो प्रकार की होती : एक नटकल्पित, दूसरी नाटककार द्वारा रचित । नटकल्पित नान्दी पूर्वरङ्गनान्दी कहलाती है और नाटककार रचित नान्दी रंगनान्दी कहलाती है । उदाहरण के लिये मुद्राराक्षस में नाटककार रचित रङ्गनान्दी है तथा नांदी के भेद के अनुसार इसे 'पत्रावली' नांदी कहा जा सकता है, क्योंकि जिसमें अभिधेय वस्तु के बीज का विन्यास होता है, तथा श्लेष या समासोक्ति के माध्यम से व्यक्त होती है, वह पत्रावली नांदी होती है ।

नांदी के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह है कि नांदी कौन करे, इस विषय में नाटकों में कोई सूचना नहीं मिलती है । भरतमुनि के अनुसार नांदी का पाठ सूत्रधार को करना चाहिये—"सूत्रधार: पठेन्नान्दीं मध्यमं स्वरमाश्रित: ।" श्री शेषराज शर्मा ने इस विषय में लिखा है कि—"उपलब्ध संस्कृत नाटकों में एक ही सूत्रधार सब कुछ करता है । साहित्यदर्पण में भी कहा—"इदानीं पूर्वङ्गस्य सम्यक् प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधार: सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहार: ।" नांदी पद्य से पूर्व सूत्रधार का नाम न लिखने का मूल कारण यह प्रतीत होता है कि ग्रन्थ के आरम्भ में मंगलसूचक शब्दों के अतिरिक्त कुछ लिख दिया गया तो अशुभ होगा ।"

सूत्रधार

रङ्गशाला के व्यवस्थापक को सूत्रधार कहते हैं । इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—"सूत्रं-नाटयसूत्रं धारयतीति सूत्रधार: ।" अथवा "नाट्योपकरणादीनि सूत्रमित्यभिधीयते । सूत्रं धारयतीत्यर्थे सूत्रधारो निगद्यते ।" इसे आधुनिक शब्दावली में 'निर्देशक' कहा जा सकता है । नाटक में नांदी के अनन्तर जो पात्र आता है, उसे सूत्रधार कहते हैं । इसका कार्य कथावस्तु या नाट्यवस्तु की सूचना देना होता है । इसके साथी का नाम पारिपार्श्विक होता था । नट या नटी नामक अभिनेता भी इसके सहायक होते थे । कहीं-कहीं नट और सूत्रधार एक ही देखे जाते हैं । और वास्तव में प्रधान नट (अभिनेता) ही सूत्रधार होता भी है । यह केवल नाटक के आमुख या प्रस्तावना में आता है । इसका शास्त्रीय लक्षण इस प्रकार है—

नाटकीयकथासूत्रं प्रथमं येन सूच्यते ।
रङ्गभूमिसमाक्रम्य सूत्रधार: स उच्यते ।।
नाट्यप्रयोगनिपुणो नानाशिल्प कलान्वित: ।
छन्दो विधान तत्वज्ञस्सर्वशास्त्रविचक्षण: ।।
तत्तद् गीतानुगलयकलातालावधारण: ।
अवधार्य प्रयोक्ता च योक्तृणामुपदेशक: ।।
एवं गुणगणोपेतस्सूत्रधारोऽभिधीयते ।

इस प्रकार नाटक का निर्देशक ही सूत्रधार कहलाता है, जैसे मुद्राराक्षस नाटक में सूत्रधार आकर सूचना देता है कि आज विशाखदत्त रचित मुद्राराक्षस का अभिनय होगा । सम्पूर्ण प्रस्तावना में स्थिर रहकर वह स्पष्टत: नाटकीय वस्तु का उल्लेख करता है—

"सूत्रधारः—अलमतिप्रसङ्गेन । आज्ञापितोऽस्मि परिषदा यथा—अद्यत्वया सामन्तवटेश्वरदत्तपौत्रस्य महाराजभास्करदत्तसूनोः कवेर्विशाखदत्तस्य कृतिः अभिनवं मुद्राराक्षसं नाम नाटकं नाटयितव्यमिति······।

प्रस्तावना

प्रस्तावना नाटक वह अंश कहलाता है, जिसमें नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक नाम का नट सूत्रधार से बातें करता है। इसी प्रस्तावना में नाटक का नाम, उसका रचयिता और उसका कथावस्तु की सूचना दी जाती है। इसे आमुख भी कहते हैं। स्थापना भी कहा जाता है।

प्रस्तावना का शास्त्रीय लक्षण यह है—

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते॥
चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनाऽपि सा॥

अथवा

सूत्रधारो नटीं ब्रूते मार्षं वाथ विदूषकम्।
स्वकार्यं प्रस्तुताक्षेपि चित्रोक्त्या यत्तदामुखम् (प्रस्तावना वा)॥ (दश रूपक)

प्रस्तावना पांच प्रकार की होती हैं—उद्घात्यक, कथोद्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्त्तक और अवगलित—

उद्घात (त्य) कः कथोद्घात प्रयोगातिशयस्तथा।
प्रवर्त्तकावगलिते पञ्च प्रस्तावनाभिदाः॥

उद्घातक प्रस्तावना में अप्रीतार्थक पदों के अर्थ की प्रतीति कराने के लिए जहाँ और पद साथ में जोड़ दिये जायँ वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। साहित्य दर्पणकार ने मुद्राराक्षस में इसकी सत्ता मानी है, जबकि निरूपण विद्यालंकार दशरूपक के आधार पर उसमें कथोद्घात प्रस्तावना मानते हैं।

कथोद्घात नामक प्रस्तावना—जहाँ सूत्रधार का वाक्य या वाक्यार्थ लेकर कोई पात्र प्रवेश करे वहाँ कथोद्घात नामक प्रस्तावना होती है। इस प्रस्तावना के उदाहरण के रूप में रत्नावली नाटिका में 'द्वीपात्' पद्य को पढ़ने पर नेपथ्य से 'एवम्' कहते हुए यौगन्धरायण का प्रवेश होता है। वाक्यार्थ को लेकर वेणीसंहार में 'आःदुरात्मन्', के साथ भीम का प्रवेश होता है।

यदि एक ही प्रयोग प्रारम्भ हो जाय और उसी के पात्र का प्रवेश हो उसे प्रयोगातिशय प्रस्तावना कहते हैं। उत्तर रामचरित और कुन्दमाला में इसका प्रयोग हुआ है।

जहाँ सूत्रधार उपस्थित समय (ऋतु) का वर्णन करे और उसी के आश्रय से पात्र का प्रवेश हो, उसे प्रवर्त्तक कहते हैं।

जहाँ एक प्रयोग में सादृश्यादि के द्वारा समावेश करके किसी पात्र का अन्य कार्य सिद्ध किया जाय उसका नाम अवगलित है, जैसे अभिज्ञान शाकुन्तल में 'तवास्मि गीतरागेण' के बाद ही राजा का प्रवेश होता है।

नेपथ्य

नेपथ्य पर्दे के पीछे का स्थान होता है, जहाँ नट वेश-भूषा धारण करते हैं; इसके तीन अर्थ किये जाते हैं—

(१) रङ्गभूमि,
(२) पर्दा—नेपथ्यं स्याज्जवनिका,
(३) नट की वेशभूषा।

रामादिव्यञ्जको वेषो नटे नेपथ्यमुच्यते।

अङ्क

नाटक के प्रमुख विभाग को अंक कहते हैं। संस्कृत नाटकों में इनकी संख्या पाँच से आठ-दस तक मानी गयी है। अङ्कों में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। भरतमुनि ने अङ्क का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

अङ्क इतिरूढ़िशब्दो, भावैश्च रसैश्च रोहयत्यर्थान्।
नानाविधानयुक्तो यस्मात्तस्माद् भवेदङ्कः॥

राजशेखर के अनुसार अङ्क की कथावस्तु एक दिन की हो होनी चाहिए—

"एक दिवसप्रवृत्तः कार्याङ्कं सप्रयोगमधिकृत्य।"

साहित्यदर्पणकार तथा अन्य काव्यशास्त्री आचार्यों ने अङ्क में 'वर्णित विषय में लिखा है कि "अङ्क में नायक का चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए। वह रसभाव-युक्त हो और शब्द गूढ़ न हों। गद्य सरल हो। अवांतर कार्य पूरा हो जाए पर प्रधान कथा वहीं। पद्य कम हो। नायक निकट ही रहे और तीन-चार पात्र हों। अनेक दिनों की कथा अंक में न हो। संध्या आदि के समय का उल्लंघन न हो। दूर से बुलाना, वध, युद्ध राज्य विप्लव, विवाह, भोजन, शाप, मल-त्याग, मृत्यु, रमण, दंतक्षत, नखक्षत, शयन, चंदन-लेप आदि क्रियाएँ अंक में मंच पर दिखाई जायें—

प्रत्यक्षनेतृचरितो रसभाव समुज्ज्वलः।
भवेदगूढ़शब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः॥
विच्छिन्नावन्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान्।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा॥
दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यु रतं तथा॥
दन्तच्छेद्यनखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत्
शयनाधरपानादि नगरांद्यवरोधनम्॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः।
देवी परिजना दीनाममात्य वणिजामपि॥
प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः।
अन्तनिष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इतिकीर्तितः।

सा० द० ६। १२-२९

पाश्चात्य काव्यशास्त्र के प्रभाव के कारण आधुनिक हिन्दी नाटकों में उपर्युक्त मान्यताओं का पूरा-पूरा पालन नहीं किया जा रहा है।

वस्तु विवेचन

नाटक में वर्णित कथानक 'वस्तु' कहलाता है। इस कथावस्तु का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। नाटक में लोक की अवस्थाओं का अनुकरण किया जाता है और ये अवस्थाएँ विभिन्न प्रकार की होती हैं। इन अवस्थाओं के विविध रूप हमें दृष्टिगत होते हैं परन्तु सबसे अधिक हमारी दृष्टि सुखात्मक एवं दुःखात्मक रूपों पर पड़ती है। नाटक में इन दोनों अवस्थाओं का समान महत्त्व है और इनका चित्रण किया जाता है। नाटक की कथावस्तु के व्यापक क्षेत्र का प्रमाण हमें नाट्यशास्त्र के निम्न उद्धरणों से प्राप्त होता है—

"एतद् रसेषु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च।
सर्वोपदेशजननं नाट्यमेतद्भविष्यति ॥" १/११०-१११
× × ×
"अवस्थायातु लोकस्य सुख दुःख समुद्भवा।
नाना पुरुष सञ्चारा नाटके सम्भवेदिह।"
× × ×
"सर्वभावैः सर्वरसैः सर्वकर्म प्रवृत्तिभिः।
नानावस्थानन्तरोपेतं याटक संविधीयते॥"

रूपकों का प्रथम भेदक धर्म वस्तु ही है। इस वस्तु के ही कथा इतिवृत्त, कथावस्तु, Plot आदि नामान्तर हैं। साहित्य के लक्षण ग्रन्थों में वस्तु दो प्रकार की निर्दिष्ट की गई है—

वस्तु च द्विधा

एक प्रासङ्गिक द्वितीय आधिकारिक—तत्राधिकारिकं मुख्यमङ्गं प्रासङ्गिकं विदुः।

नाटकादि में प्रधानभूत कथा को आधिकारिक कहते हैं जैसे रामायण काव्य में राम-सीता वृत्तान्त तथा आधिकारिक कथा के अङ्ग रूप में प्राप्त उपकथाएँ प्रासङ्गिक कही जाती हैं। रामायण कथा में विभीषण वृत्तान्त, सुग्रीव वृत्तान्तादि।

धनञ्जय आधिकारिक कथा का निरूपण इस प्रकार करते हैं—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तन्निर्वृत्त्वमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥१ | १२

फल पर स्वामित्व प्राप्त करना अधिकार कहलाता है तथा उस फल का स्वामी अधिकारी कहलाता है। उस फल या फलभोक्ता के द्वारा फलप्राप्ति तक निर्वाहित वृत्त या कथा आधिकारिक कथावस्तु कहलाती है—

धनञ्जय ने प्रासङ्गिक कथा निर्देश इस प्रकार किया है—

प्रासङ्गिकं परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः ।१ | १३.१

जो कथा या वृत्त दूसरे (आधिकारिक के) प्रयोजन के लिए होती है किन्तु प्रसङ्ग से जिसका स्वयं का फल भी हो जाय वह प्रासङ्गिक वृत्त है।

आधिकारिक वस्तु महासरिता के समान है जो निश्चित रूप से फलप्राप्ति की

ओर बढ़ती है तथा प्रासङ्गिक कथाएँ क्षुद्र नदी-नालों की भाँति उस महासरिता को आगे बढ़ने में अपना योग देती हैं।

प्रासङ्गिक वस्तु के भी दो भेद किये जाते हैं—पताका तथा प्रकरी।

"सानुबन्धं पताकाख्यं प्रकरी च प्रदेश भाक्।" १/१३.२

जो कथा काव्य या रूपक में दूर तक बराबर चलती है वह सानुबन्ध होती है उसे 'पताका' कहते हैं तथा जो केवल एक प्रदेश में ही सीमित रहती है वह 'प्रकरी' कहलाती है।

रामायण की कथा में सुग्रीव, विभीषण आदि की कथाएँ 'पताका' नाम से अभिहित की जाती हैं तथा श्रमणा, शबरी आदि के कथावृत्त 'प्रकरी' कहे जाते हैं। 'पताका' कथा का नायक मूल नायक से भिन्न होता है, यह पताका नायक कहलाता है।

मूल अर्थात् उत्पत्ति की दृष्टि से कथावस्तु तीन तरह की होती हैं—प्रथम प्रख्यात, द्वितीय उत्पाद्य, तृतीय मिश्र—

प्रख्यातोत्पाद्यमिश्रत्वभेदात्त्रेधाऽपि तत्त्रिधा।
प्रख्यातमितिहासादेरुत्पाद्यं कविकाल्पतम्॥ द० रू० १।१५
मिश्रं च सङ्करात्ताभ्यां दिव्यमर्त्यादिभेदतः॥

प्रख्यात कथावस्तु इतिहास पुराण आदि से गृहीत होती है। उत्पाद्य कवि की स्वयं की कल्पना होती है तथा मिश्र में दोनों की खिचड़ी रहती है। यह वृत्त साथ ही दिव्य, मर्त्य, दिव्यादिव्य होता है। भवभूति के उत्तर रामचरित तथा मुरारी के अनर्घ राघव की कथा रामायण से गृहीत है। कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तल की कथा महाभारत तथा पद्मपुराण से गृहीत है। भास के स्वप्नवासवदत्त, प्रतिज्ञा यौगन्धरायण, विशाखदत्त का मुद्राराक्षस ऐतिहासिक इतिवृत्त से सम्बद्ध हैं। उपर्युक्त कथाएँ प्रख्यात हैं, लोक प्रसिद्ध हैं।

उत्पाद्य इतिवृत्त कवि का स्वयं कल्पित होता है—"उत्पाद्यं कवि कल्पितम्।" इस इतिवृत्त का प्रयोग कई प्रकार के रूपकों में देखा जाता है यथा—प्रकरण, भाण, प्रहसन। मृच्छकटिक तथा मालती माधव की कथा उत्पाद्य है।

नाट्य कथावस्तु के दो अन्य भेद भी हैं—एक सूच्य—जिसकी सूचना रङ्गमंच पर पाँच अर्थोपक्षेपकों के द्वारा दी जाती है। दूसरी कथावस्तु दृश्य तथा श्रव्य है—इसका रङ्गमंच पर अभिनय किया जाता है—

द्वेधा विभागः कर्त्तव्यः सर्वस्यापीह वस्तुनः।
सूच्यमेव भवेत्किञ्चिद्दृश्यश्रव्यमथापरम्॥ द० रू० १/५६

जो वस्तु नीरस हो, अनुचित हो, तथा अतिविस्तृत हो, उसकी सूचना दी जाती है, उसे 'सूच्य' कहते हैं; दूसरी सरस, रसभाव सम्पन्न होती है, उसका रङ्गमंच पर प्रदर्शन किया जाता है—

नीरसोऽनुचितस्तत्र संसूच्यो वस्तुविस्तरः।
दृश्यस्तु मधुरोदात्तरसभावनिरन्तरः॥ द० रू० १/५७

धनञ्जय नाट्य प्रकृति के आधार वस्तु का विभाजन करते हुए लिखते हैं कि वस्तु तीन प्रकार की—सर्वश्राव्य, अश्राव्य और नियतश्राव्य होती है। सर्व श्राव्य को प्रकाश तथा अश्राव्य को स्वगत कहते हैं—

सर्वश्राव्यं प्रकाशं स्यादश्राव्यं स्वगतं मतम् । १/६४

नियतश्राव्य कथा के जनान्तिक और अपवारित दो अन्य भेद भी होते हैं—

द्विधान्यन्नाट्यधर्माख्यं जनान्तमपवारितम् । द० रु० १/६५

'जनान्तिक' उसे कहते हैं— जब मंच पर दो पात्र परस्पर वार्त्तालाप करते समय दूसरी ओर हाथ की सम्पूर्ण उँगलियाँ उठाकर अनामिका उँगली को टेढ़ा करते हैं—यह 'त्रिपताकाकर' कहलाता है। इस प्रकार दूसरों का बचाव करते हुए वार्तालाप करने के ढंग को 'जनान्तिक' कहते हैं—

त्रिपताकाकरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं मत्स्याज्जनान्ते तज्जनान्तिकम् । द० रु० १/६५

और जब मुख को दूसरी ओर कर कोई पात्र दूसरे व्यक्ति की गुप्त बात कहता है, उसे 'अपवारित' कहते हैं—

रहस्यं कथ्यतेऽयस्य परावृत्यापवारितम् । द० रु० १/६६

उपर्युक्त कथा का विभाजन धनञ्जय के आधार पर है, जो कि काफी स्पष्ट और सुलझा हुआ है।

इस तीन प्रकार की कथावस्तु के अतिरिक्त एक 'आकाशभाषित' तत्त्व और भी होता है। इसका विवेचन अन्यत्र किया गया है। 'आकाशभाषित' का सामान्य लक्षण इस प्रकार है—"जब पात्र आकाश की ओर देखता हुआ सुनने का उपक्रम करता है और स्वयं प्रश्नों को दुहराता है और स्वयं ही प्रश्नों का उत्तर भी दे देता है, तब उसे 'आकाशभाषित' कहते हैं।"

अर्थोपक्षेपक

अर्थोपक्षेपक का शाब्दिक अर्थ है अर्थ का उपक्षेपण (सूचना) देने वाला। "नाटक में रसहीन वस्तुओं की केवल सूचना दी जाती है। सूच्य वस्तुओं की सूचना देना ही अर्थोपक्षेपक है।" नाटकों में अर्थ, कार्य, संसूच्य या इस बीच बीती हुई कहानी की सूचना देने के साधन पाँच हैं—जिन्हें—विष्कम्भक, प्रवेशक, चूलिका, अंकावतार और अंकमुख कहते हैं—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाङ्काऽवतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ सा० द० ६/५४

विष्कम्भक

विगत घटनाओं के सूचनार्थ प्रयोग में आने वाले अर्थोपक्षेपक का नाम विष्कम्भक होता है। यह अङ्क के प्रारम्भ में जोड़ा जाता है। यह नाटक के प्रथम, अङ्क में भी प्रयुक्त हो सकता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध तथा सङ्कीर्ण। "जिस विष्कम्भक में एक अथवा एक से अधिक मध्यम श्रेणी के पात्र होते हैं और संस्कृत में संभाषण करते हैं, उसे शुद्ध विष्कम्भक कहते हैं। जिसमें कुछ मध्यम और कुछ अधम श्रेणी के पात्र होते हैं और संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में संभाषण करते हैं उसे सङ्कीर्ण विष्कम्भक कहते हैं।" साहित्यदर्पणकार ने लिखा है कि—

मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां सम्प्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु सङ्कीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥

दशरूपककार के अनुसार विष्कम्भक का लक्षण यह है—

वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शक:।
संक्षेपार्थस्तु विष्कम्भो मध्यपात्रप्रयोजित:॥ द० रू० रू० १५/६

अर्थात् "रूपक में विष्कम्भक भूत और भविष्य की घटनाओं का सूचक होता है। इसमें मध्यम पात्रों द्वारा संक्षेप में कथाओं की सूचना दी जाती है।"

विष्कम्भक में मध्यम श्रेणी के पात्रों का होना नितान्त आवश्यक है, यदि किसी भी शुद्ध या संकीर्ण विष्कम्भक में केवल अधम कोटि के पात्र होंगे तो वह 'प्रवेशक' नामक अर्थोपक्षेपक हो जायगा।

प्रवेशक

प्रवेशक भी विष्कम्भक की भाँति भूत और भविष्य की कथाओं का सूचक होता है। इसमें औदात्यपूर्ण उक्ति का प्रयोग नहीं होता है। इसकी भाषा प्राकृत तथा पात्र नीच वर्ग के होते हैं। प्रवेशक का प्रयोग प्राय: दो अङ्कों के मध्य में होता है। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार उसका लक्षण निम्न है—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचा-पात्रप्रयोजित:।
अङ्कस्यान्तर्विज्ञेय: शेषं विष्कम्भके यथा॥

दशरूपककार ने निम्न लक्षण लिखा है—

तद्वदेवानुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजित:।
प्रवेशकोऽङ्कद्वयस्यान्त: शेषार्थस्योपसूचक:॥

द० रू० १/६०-६१

विष्कम्भक एवं प्रवेशक का अन्तर इस प्रकार है—"यद्यपि दोनों ही भूत और भविष्य के कथांशों के सूचक हैं तथा रूपक में इनके स्थान, इनकी भाषा; पात्रों के प्रयोग की दृष्टि से इनमें पर्याप्त अन्तर दिखाई पड़ता है। प्रवेशक का प्रयोग दो अंकों के बीच में हो सकता है। रूपक के प्रथम अङ्क के आदि में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता। प्रथम अंक में इसये लिए कोई स्थान नहीं है। पर विष्कम्भक का प्रयोग रूपक के प्रथम अङ्क के प्रारम्भ में भी हो सकता है और दो अङ्कों के बीच में भी। जैसे शाकुन्तल के चौथे अङ्क के आदि में हुआ है। भाषा की दृष्टि से प्रवेशक में संस्कृत का प्रयोग वर्जित है। इसमें निम्न श्रेणी की प्राकृत, मागधी, पैशाची आदि के प्रयोग का विधान है, जबकि विष्कम्भक में संस्कृत और शौरसेनी का। विष्कम्भक के पात्र मध्यम श्रेणी के होने आवश्यक हैं। प्रवेशक के समस्त पात्र निम्न श्रेणी के होते हैं।"

चूलिका

यह अर्थोपक्षेपक का तीसरा भेद है—

जब नेपथ्य में स्थित पात्र के द्वारा कोई सूचना दी जाती है उसे चूलिका कहते हैं—

'अन्तर्यवनिकासंस्थैश्चूलिकार्थस्य सूचना'। द० रू० १।६१

तथा साहित्यदर्पणकार के अनुसार—

'अन्तर्यवनिकासंस्थै: सूचनार्थस्य चूलिका'। सा० द० ६।५८।

उदाहरणार्थ महावीर चरित में नेपथ्य के द्वारा यह सूचना दी जाती है कि राम ने परशुराम को जीत लिया है।

अङ्कावतार

यह अर्थोपक्षेपक का चौथा भेद है। दसरूपकार के अनुसार पूर्व अङ्क के अन्त में उसी के पात्रों द्वारा सूचित किया गया जो अगला अङ्क अवतीर्ण होता है उसे अङ्कावतार कहते हैं—

अङ्कावतारस्त्वङ्कान्ते पात्राङ्कस्याविभागतः। द० रू० १। ६२

उदाहरण के लिए—

शाकुन्तलम् के पंचम अङ्क के अन्त में उसके पात्रों द्वारा सूचित किया गया षष्ठ अङ्क उसी का अङ्क जैसा अवतीर्ण हुआ है।

अङ्कास्य

यह अर्थोपक्षेपक का एक भेद है। जब एक अङ्क के अनन्तर उसी अंक में प्रयुक्त पात्रों द्वारा किसी छूटे हुए अर्थ की सूचना दी जाती है, तब अङ्कास्य अर्थोपक्षेपक होता है। विश्वनाथ ने इसे अङ्कावतार के अन्तर्गत माना है किन्तु धनिक इसे उससे भिन्न मानते हैं। विश्वनाथ ने धनिक के मतानुसार अङ्कास्य की परिभाषा देते हुए लिखा है--**एतच्च धनिकमतानुसारेणाक्तम्। अन्ये तु—अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम् इत्याहुः।** अन्ये' के नाम पर इसे विश्वनाथ का मत समझना चाहिए। यद्यपि पूर्व में कह चुके हैं—**अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कास्यार्थचनात्॥**

अङ्कमुख

यह अर्थोपक्षेपक का पाँचवाँ भेद है। जहाँ एक ही अङ्क में नाटक के सारे अंकों की सूचना दे दी जाये, ऐसे बीजभूत अर्थसूचक को अंकुमुख कहते हैं—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नानां सूचनाऽखिला।
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत्॥

उदाहरण के लिए मालती माधव के प्रथम अङ्क को देखना चाहिए; जहाँ अङ्क के आरम्भ में ही कामन्दकी और अवलोकिता ने अगली सब बातों की सूचना दे दी है।

अश्राव्य—स्वागतकथन

संस्कृत नाटककार पात्र के चरित्र एवं आशय को स्पष्ट करने के लिए इसका प्रयोग करते रहे हैं। इस स्वागतकथन का अश्राव्य के द्वारा कोई पात्र आप-ही-आप कुछ कहकर अपनी बात दूरस्थ श्रोताओं के निकट स्पष्ट कर देता था और निकटस्थ अन्य पात्रों से छिपा लेता था। "संवाद के विचार से कथावस्तु के तीन भेदों में से यह एक है। यदि कहने वाले पात्र के अतिरिक्त अन्य कोई पात्र उसकी युक्ति न सुन सके तो वह अश्राव्य [किसी भी अन्य पात्र के सुनने लायक नहीं] है। इसे स्वगत भी कहते हैं।"

विदूषक

नाटक में हास्य रस के लिए विदूषक नामक पात्र का प्रयोग किया जाता रहा है। संस्कृत नाटकों में प्रायः पेटू ब्राह्मण, कायर आदि के द्वारा हास्य को उत्पन्न किया गया है। साहित्य दर्पण के अनुसार किसी फूल अथवा वसन्तादिक पर जिसका नाम हो और जो अपनी क्रिया, देह, वेश और भाषा आदि से हँसाने वाला हो, दूसरों को लड़ाने में प्रसन्न रहता हो और अपने मतलब का पूरा हो अर्थात् अपने खाने-पीने की बात कभी भी न भूले वह पुरुष विदूषक कहलाता है—

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात्स्वकर्मज्ञः ॥ सा० द० ३।४२

भरतवाक्य

नाटक की समाप्ति पर प्रयुक्त आशीर्वादयुक्त पद्य भरतवाक्य कहलाता है। यह उस समय स्थित पात्रों में सर्वश्रेष्ठ पात्र द्वारा नायक को फल प्राप्ति के साथ-साथ दिए गए आशीर्वाद के रूप में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार अन्तिम मंगल कामना का नाम भरतवाक्य है। श्री निरूपण विद्यालंकार ने अपनी मुद्राराक्षस की टीका में लिखा है कि—"नाटक की समाप्ति पर प्रमुख पात्र के द्वारा यह पढ़ा जाता है। 'भरतवाक्य' में अभिनय करने वाले पात्रों की ओर से एक सर्वसाधारण समृद्धि की कामना होती है। भरत का अर्थ नट है। नट के द्वारा कहा हुआ वाक्य नटवाक्य—भरतवाक्य। वस्तुतः नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरत ने यह सोचकर कि प्रस्तावना और समाप्ति दोनों ही स्थलों पर नट का उल्लेख करना अनुचित होगा, अतः यहाँ पर नट पद को छोड़कर भरत पद का उपादान किया है। इस प्रकार यह श्लोक नट के द्वारा ही पढ़ा जाना चाहिए। अभिनेताओं में 'भरत' प्रमुख अभिनेता कहलाता है।"

जनान्तिक—नियतश्राव्य

जब रंगमंच पर अन्य पात्रों के उपस्थित रहने पर भी दो पात्र इस तरह बातें करें, मानो वे अन्य किसी को अपनी सुनना नहीं चाहते और अन्य पात्रों की ओर 'त्रिपताकार' के द्वारा संकेत कर सामाजिकों को इस बात की सूचना दें कि उनका वारण किया जा रहा है, वहाँ 'जनतान्त्रिक नियतश्राव्य' होता है।

आकाशभाषित

प्राचीन नाटकों में प्रयुक्त एक विशिष्ट संवाद का रूप। अन्य पात्रों के अभाव में जब कोई पात्र यदि "क्या कहा ?" प्रश्न पूछ कर उत्तर देने के लिए उसी बात की पुनरावृत्ति करता है तब वह "आकाशभाषित" कहा जाता है अथवा आकाश की ओर मुख कर पात्र बिना किसी लक्ष्य के बोलता है वह आकाशभाषित कहलाता है—

साहित्यदर्पण एवं दशरूपक के अनुसार 'आकाशभाषित' का लक्षण इस प्रकार है—

किं ब्रवीषीत यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ सा० द०

तथा

किं ब्रवीष्येवमित्यादि विना पात्रं ब्रवीति यत् ।
श्रुत्वेनानुक्तमप्येकस्तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ द० रू० १।६७

आशय यह है कि "जब पात्र आकाश की ओर देखता हुआ कुछ सुनने का उपक्रम करता है और स्वयं प्रश्नों को दुहराता है और स्वयं ही प्रश्नों का उत्तर भी दे देता है, तब उसे 'आकाशभाषित कहते हैं।"

पताकास्थानक

प्रासंगिक कथाओं के विवेचन के अवसर पर दशरूपककार ने पताका एवं पताकास्थानक का स्पष्ट अन्तर सिद्ध करने के लिए पताकास्थानक का विवेचन किया है। वे लिखते हैं कि "जहाँ किसी प्रसंग द्वारा आगे की कथा सूचित की जाती है वहाँ

पताकास्नातक होता है।'' कहीं तो यह अन्योक्ति-पद्धति पर होता है, कहीं समासोक्ति-पद्धति पर—

प्रस्तुतागन्तुभावस्य वस्तुनोऽन्योक्तिसूचकम्।
पताकास्थानकं तुल्यसंविधानविशेषणम्॥ द० रू० १/१४

धनिक ने अपनी टीका में और भी स्पष्ट करते हुए लिखा है कि जो वस्तु अंश भावी कथांश को ठीक प्रकार से सूचित करे, जिस प्रकार पताका राजा के आगमन की सूचना देती है, उसी को पताकास्थानक कहते हैं। यह सूचना दो प्रकार से दी जाती है—एक तो घटनाओं की समानता के आधार पर और दूसरी प्रस्तुत और भावी घटनाओं के वर्णन में प्रयुक्त समान विश्लेषणों के आधार पर। प्रथम में अन्योक्ति या अप्रस्तुत प्रशंसा के आधार पर लिया जाता है और दूसरी में समासोक्ति का। उदाहरण के लिए अन्योक्ति के आधार 'रत्नावली' में सूर्य-पद्मिनी के अन्योक्तिमय कथन से उदयन-रत्नाबली वृत्तांत को व्यंजित किया गया है। दूसरे प्रकार के समान विशेषण पर आधृत पताकास्थानक का उदाहरण में रत्नावली भी है जहाँ लता का (उद्दामोत्कलिका०) वर्णन करते हुए समान विशेषणों के आधार पर नायिका की सूचना दी गई है।

भारत एवं विश्वनाथ ने धनंजय से भिन्न चार भेद इसके माने हैं। विश्वनाथ का विवेचन भरत के अनुरूप ही है। भरत के अनुसार चार पताकास्थानक निम्न हैं—(१) जहाँ अकस्मात प्रेमानुकूल उपचार के कारण उत्कृष्ट प्रयोजन सिद्ध हो, (२) जहाँ श्लिष्ट शब्दों द्वारा नायिकादि के मंगल की सूचना प्राप्त हो, (३) जहाँ वक्ता का अर्थ तो अव्यक्त हो, पर श्लेषत्वेन एक निश्चय की सूचना देता हो, (४) जहाँ दो अर्थों वाले श्लिष्ट वचन-विन्यास की योजना हो और प्रधानेतर अर्थ की प्रतीति होती हो।

ना० शा० २१/३१-३५

विश्वनाथ ने उपर्युक्त चार भेदों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि। ६।४४
यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्॥ ६।४५
सहसैवार्थसम्पत्तिर्गुणवत्युपचारतः।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम्॥ ६।४६
वचः सातिशयंश्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम्।
पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्तितम्॥ ६।४७
अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत्।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते॥ ६।४८
द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः।
प्रधानार्थान्तराक्षेपी पताकास्थानकं परम्॥ ६।४९

विश्वनाथ के अनुसार इनके उदाहरण इस प्रकार हैं—

''पहले में उपचार द्वारा झट अधिक गुणयुक्त अर्थ सम्पत्ति पैदा हो जाती है, जैसे रत्नावली में सागरिका को वासवदत्ता समझ उपचार करके फाँसी से बचाते समय राजा को पता लगता है कि यह नागरिका है और पहले से अधिक अभीष्ट हो जाता

है। दूसरे में अनेक बन्धों में आश्रित अत्यन्त श्लिष्ट बात कही जाती है। जैसे वेणी संहार में कौरवों के स्वस्थ (सर्गस्थ या हृष्ट-पुष्ट) होने की बात कही गई है (रक्त-प्रसाधितभुवः०)। तीसरे में दूसरे अर्थ को बताने वाली अव्यक्त अर्थ वाली विशेष निश्चययुक्त बात भी होती है और उसका वैसा उत्तर भी, जैसे वेणीसंहार में कंचुकी और राजा दुर्योधन की 'भग्न-भग्न' वाली बातचीत, जिसमें कंचुकी तो भीषण पवन द्वारा पताका गिरने की बात कहता है, पर दुर्योधन और दर्शकों के निकट भीम द्वारा दुर्योधन की जाँघ टूटने का अर्थ निकलता है। चौथे में भी सुन्दर, श्लिष्ट और द्वयर्थक वचन-विन्यास द्वारा प्रधान अर्थ की सूचना होती है जैसे—रत्नावली में राजा के सागरिका पर अनुराग और वासवदत्ता का मुख क्रोध में लाल होने की सूचना लता को देखते हुए वासवदत्ता को चिढ़ाने वाली राजा की कल्पना में है।"

अर्थ प्रकृतियाँ

अर्थ प्रकृतियाँ पाँच होती हैं—जिन्हें बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य कहते हैं। ये अर्थ प्रकृतियाँ नाटक के प्रयोजन और फल की गतिविधि की सूचना देती हैं—"अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः।" नाट्यशास्त्र के अनुसार उनके नाम निम्न हैं—

अर्थं प्रकृतयश्चसां पञ्चबीजादिका अपि।
बीजं बिन्दुः पताकाश्च प्रकरी कार्यमेव च।
अर्थप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि।

इन भेदों को साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ भी स्वीकार करते हैं।

बीज

बीज थोड़े ही शब्दों में कहे गये फल को विकास की ओर ले जाने वाले साधन का नाम है—"स्तोकोदिष्ट कार्यसाधकः।" यह साधन आगे चलकर काफी विस्तार ग्रहण करता है—'पुरस्तात् अनेक प्रकारं विस्तारी भवति।' यद्यपि प्रारम्भ में इसका उल्लेख थोड़े ही शब्दों में किया जाता है—साहित्य-दर्पणकार के अनुसार इसका लक्षण निम्न है—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति।
फलस्य प्रथमोहेतुर्बीजं तदभिधीयते॥

अर्थात् जिस "नाटक-प्रयोजन को पहले अत्यल्प कहा जाय, पर पीछे जिसका विपुल विस्तार हो जाय, वह बीज है।"

बिन्दु

जब मुख्य कथा के प्रभाव के कारण अवान्तर कथा क्षीण होने लगती है, उस समय उस क्षीण कथा को पुनर्जीवित करने वाले फल का हेतु बिन्दु कहलाता है—"अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम्"। साहित्य दर्पणकार ने भी बिन्दु का यही लक्षण माना है—"प्रासंगिक प्रयोजन के समाप्त या विच्छिन्न हो जाने पर भी प्रधान प्रयोजन के अविच्छेद का निमित्त बिन्दु है।" धनिक ने बिन्दु नाम की सार्थकता व्यक्त करते हुए लिखा है कि "जैसे तेल की बिन्दु जल में फैल जाती है, वैसे ही बिन्दु भी प्रसारित होती है—बिन्दुर्जले तैल बिन्दुवत्प्रसारित्वात्"।

नाट्य दर्पणकार ने माली के उदाहरण से इसका स्पष्टीकरण किया है। उनके

अनुसार "जिस प्रकार बीजारोपण के बाद माली उसको विकसित करने के लिए जल-बिन्दु निक्षेप करता है वैसे ही फल का बीजारोपण करने के पश्चात् नाटककार बिन्दु के द्वारा उसको विकसित करने का प्रयास करता है।" इन दोनों आचार्यों का आशय एक ही है।

पताका एवं प्रकरी

भी अर्थ प्रकृतियाँ हैं, इनका विवेचन कथावस्तु के प्रसङ्ग में किया जा चुका है।

कार्य

नाटक का प्रधान-साध्य कार्य होता है, इसी साध्य की सिद्धि के लिए सम्पूर्ण प्रयत्न और उसका समारम्भ किया जाता है। इसी कार्य की सिद्धि ही उसकी समाप्ति बनती है—

"समापनं तु तत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्"

कार्यावस्था

कार्य की पाँच अवस्थाएँ होती हैं, जिनके नाम—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम हैं। ये पाँचों अवस्थाएँ कार्य का क्रमिक विकास सूचित करती हैं।

आरम्भ

आरम्भ नाटक के कार्य की वह अवस्था है, जहाँ नायक की तीव्र इच्छा किसी फल विशेष के लिए व्यक्त होती है—"औत्सुक्यमात्रमारम्भः फललाभाय भूयसे।" धनिक ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि नायक 'जब मैं यह कार्य करूँगा इस प्रकार की कामना व्यक्त करता है, उसी समय कार्य का आरम्भ माना जाता है'—"इदमहं सम्पादयामीत्यध्यवसायमात्रमारम्भ इत्युच्यते।" साहित्यदर्पणकार का मत भी इसी का समर्थन करता है—"भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये।" अर्थात् मुख्य फल की सिद्धि के हेतु नायक की उत्सुकता जहाँ व्यक्त होती है, वहीं से कार्य की प्रारम्भ अवस्था माननी चाहिए। नाट्य-शास्त्रकार भरत मुनि की परिभाषा भी उपर्युक्त परिभाषाओं से मिलती-जुलती है—औत्सुक्यमात्रबन्धस्तु यद्बीजस्य निबध्यते। महतः फलयोगस्य स खल्वारम्भ इष्यते।"

प्रयत्न

फल प्राप्ति के लिए धीरे-धीरे किया जाने वाला व्यापार प्रयत्न है। दशरूपककार ने प्रयत्न का लक्षण इस प्रकार लिखा है—"प्रयत्नस्तु तदप्राप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः" अर्थात् जब कार्य से उत्पन्न फल की प्राप्ति मे देर-सी प्रतीत हो, उस विलम्ब को दूर करने के लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, उनका नाम प्रयत्न की अवस्था है। उपर्युक्त दशरूपक की पंक्ति को स्पष्ट करते हुए धनिक ने लिखा है कि जब कार्य के फल की प्राप्ति में विलम्ब हो, अथवा वह प्राप्त न हो तो उसे प्राप्त करने के लिए जो उपाय होते हैं, उन्हीं का नाम 'प्रयत्न' है—"तस्य फलस्याप्राप्तावुपाययोजनादिरूपश्चेष्टा विशेषः प्रयत्नः।" साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ के अनुसार प्रयत्न का लक्षण इस प्रकार है—"प्रयत्नस्तुफलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः।"

प्राप्त्याशा

जब नाटक में अपेक्षित फल की प्राप्ति में कभी आशा हो और कभी निराशा, इन दोनों के संघर्ष के बाद जब फल प्राप्ति की सम्भावना बढ़ जाय, उस कार्य की

अवस्था का नाम प्राप्त्याशा है—"उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।" विश्वनाथ के अनुसार प्राप्त्याशा का लक्षण भी लगभग यही है—"आशंका और आशा जहाँ दोनों ही उपाय या अपाय के बल पर चलें, वह प्राप्त्याशा है—उपायापाय-शङ्काभ्या प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः।"

नियताप्ति

विघ्नों के देर होने पर प्राप्ति की सम्भावना निश्चित हो जाय, वहाँ नियताप्ति होती है—" अपायाभावत: प्राप्तिनियताप्तिस्तुतिनिश्चिता।" अर्थात् "विघ्नों की अनुपस्थिति के कारण फल प्राप्ति का निश्चित होना ही नियताप्ति है।"

फलागम

जहाँ फल मिल जाय, वह फलागम नामक कार्य की अवस्था है।—"साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः।" यह कार्य की अवस्था प्रायः स्पष्ट एवं नाटक के अन्त में ही होती है। "पाश्चात्य नाट्य-सिद्धान्तों के अनुसार किसी नाटक में घटनाओं की शृंखला को कार्य या कार्य-व्यापार कहते हैं। अरस्तू के मतानुसार कार्य-व्यापार नाटक में अनिवार्य है। किन्तु ड्राइडन का कथन है कि कथानक का नाटक में न्यूनतम महत्त्व है। वेनब्रेके इस विरोधी धारणा को और भी स्पष्ट करता है "मुझे विश्वास है कि मैं यह सिद्ध कर सकता हूँ कि मुख्य मनोरंजन एवं नैतिक संदेश, घटना-क्रम अथवा कार्य-व्यापार की अपेक्षा चरित्र एवं वाग्वैदग्ध्य पर अधिक निर्भर होता है।" किन्तु वास्तव में यदि देखा जाय तो कार्य का महत्व किसी प्रकार भी कम नहीं किया जा सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि शरीर के किसी अंग के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि कौन-सा आवश्यक है और कौन-सा कम और कौन-सा अनावश्यक।

कार्य-व्यापार की अवस्थाओं के विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्य नाट्याचार्यों के मत प्रायः मिलते हुए ही हैं। दोनों ही कथानक के पाँच भाग करते हैं। दोनों ही उद्देश्य के अनुसार उतार-चढ़ाव का निर्देश करते हैं। उनके अनुसार कथानक के पाँच विभाग निम्न हैं—(१) आरम्भ, (२) कार्य विकास, (३) चरमसीमा, (४) निगति और (५) समाप्ति। भारतीय आचार्यों ने सुखकारी फल को महत्त्व दिया है अतः वे आरम्भ, प्रयत्न, प्रात्याशा, नियताप्ति और फलागम नामक अवस्थाएँ मानते हैं।

अर्थप्रकृति एवं कार्यावस्थाओं के भेद का निरूपण करते हुए श्री बच्चन सिंह ने लिखा है कि "अर्थप्रकृति में वस्तु को ध्यान में रखते हुए स्थितियों को विभाजित किया गया है और अवस्था में नायक के कार्य को दृष्टि में रखा गया है।" अर्थप्रकृति एवं कार्य की अवस्था के मिलन से सन्धियों का निर्माण होता है।

नाटक की सन्धियाँ

संस्कृत नाट्य-रचना में सन्धियों का विशेष महत्त्व है। धनंजय ने सन्धि को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'कथावस्तु के अंगों को अन्वित करने वाली स्थिति को सन्धि कहते हैं—अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति।' धनिक इस लक्षण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि—"एक प्रयोजन से सम्बद्ध कथावस्तु को दूसरे प्रयोजन से सम्बद्ध कथावस्तु के अंश से जोड़ने वाली विशेषता का नाम सन्धि है—एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानाम् अवान्तरैर्थकप्रयोजन सम्बन्धः सन्धिः।" रूपक की प्रकृति तथा अवस्थाओं के मिलन से सन्धियों का आविर्भाव होता है। बीज, बिन्दु,

पताका, प्रकरी तथा कार्य, ये पाँच अर्थ-प्रकृतियाँ जब क्रमशः आरम्भ, यत्न, प्रत्याशा, नियताप्ति और फलागम अवस्थाओं से मिलती है, तब मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहृति (निर्वहण) सन्धियों का आविर्भाव होता है—

अर्थप्रकृतयः पंच पंचावस्थासमन्विताः ।
यथासंख्येन जायन्ते मुखाद्याः पंचसन्धयः ॥ द० रू० १/२२
'मुखप्रतिमुखे गर्भः सावमर्शोपसंहृतिः ।' द० रू० १/२४

भरत के नाट्यशास्त्र में इसका उल्लेख इस प्रकार हुआ है—

'मुखं प्रतिमुखं गर्भोऽविमर्शस्तथा हि ।'
तथा निर्वहणं चैवसन्ध्यो नाटके स्मृताः ।

मुखसन्धि

यह नाटक की प्रथम सन्धि है। यह बीज अर्थप्रकृति और आरम्भ नामक कार्यावस्था के संयोग से बनती है। यह स्थान नाटक की कथावस्तु का प्रथम विभाग होता है। फल की प्रथम अर्थप्रकृति बीज की उत्पत्ति इसी भाग में होती है। इसमें नाना रसों और अर्थों की सम्भावना समाविष्ट रहती है। दशरूपककार के अनुसार मुख सन्धि नाटक की कथा का वह स्थल है जहाँ से अनेक उपकथाओं, रसों की उद्‌भावना होती है।

मुखं बीजसमुत्पत्तिर्नार्थरससम्भवा ।
·········तस्य बीजारम्भसमन्वयात् ॥ द० रू० १/२४

साहित्यदर्पण के अनुसार—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ।
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्तितम् ॥ ६/७६-७७

अभिनवभारती में मुखसन्धि के स्वरूप का विवेचन करते हुए अभिनव ने लिखा है कि "मुखसन्धि का अभिप्राय रस और भावप्रधान रस-अर्थराशि से है जिससे किसी रूपक का उपक्रम किया जाता है। उसी आधार पर रूपक के उस भाग को जिसमें वह अर्थराशि प्रतिष्ठित रहती है, 'मुखसन्धि कहा जाने लगा—"प्रारम्भोपयोगी यावानर्थराशिः प्रसक्ताप्रसक्ततया विचित्रस्वादः आपतितः तावान मुखसन्धि तदभिधायी च रूपकैकदेशः ।" उदाहरण के लिए रत्नावली का प्रथम अंक देखा जा सकता है।

प्रतिमुख सन्धि

रूपक की यह दूसरी सन्धि है। इसमें बिन्दु नामक अर्थ-प्रकृति तथा प्रयत्न नामक अवस्था का मिश्रण होता है—कथा का वह अंश जहाँ पर बीज कुछ स्पष्ट (लक्ष्य) है और कुछ अस्पष्ट (अलक्ष्य), प्रतिमुख सन्धि से सम्बन्धित माना जाता है—

"लक्ष्यालक्ष्यतयोद्‌ भेदस्तस्य प्रतिमुखं भवेत् ॥"

"उस बीज का जो मुखसन्धि में बोया जाता है। किंचित लक्ष्य और किंचित अलक्ष्य रहकर, उद्‌भिन्न होना प्रतिमुखसन्धि है। जिस तरह पहले निकलने वाला, उगने वाला बीजांकुर कुछ अस्पष्ट अवस्था में रहता है, उसी तरह मुखसन्धि में बीज बोया जाता है और प्रतिमुखसन्धि में वह अंकुरित होता हुआ भी अस्पष्टावस्था में ही रहता है।" साहित्यदर्पणकार ने प्रतिमुख संधि का लक्षण लिखते हुए लिखा है कि मुख

सन्धि में निवेशित फलप्रधान उपाय का कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य विकास जहाँ हो उसे प्रतिमुख सन्धि कहते हैं—

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ।
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्‌भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ॥

उदाहरण के लिए—रत्नावली में वत्सराज और सागरिका के समागम का हेतु, इन दोनों का परस्पर अनुराग, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया था उसे सुसंगता और विदूषक ने जान लिया, अतः वह कुछ अलक्ष्य है और वासवदत्ता ने चित्र के वृत्तांत से कुछ-कुछ ऊहा की, अतः अलक्ष्यता भी रही ।

गर्भ सन्धि

रूपक की संधियों में तृतीय सन्धि गर्भ सन्धि है । दशरूपककार के अनुसार जब बीज दिखाई पड़ जाने के अनन्तर पुनः नष्ट हो जाय, लेकिन उसका अन्वेषण बार-बार किया जाय तब गर्भ सन्धि होती है—

"गर्भस्तु दृष्टनष्टस्य बीजस्यान्वेषणं मुहुः ।
द्वादशांगः पताकास्यान्न वा स्यात्प्राप्तिसम्भवः ॥" १/३६

इस सन्धि में बीज पूर्णतः नष्ट नहीं होता अपितु वह धूमिल हो जाता है । उसके अन्वेषण में बीज का और भी विकास करना पड़ता है । फल के गर्भस्थ होने के कारण इसे गर्भ सन्धि कहते हैं । साहित्यदर्पणकार का लक्षण इस प्रकार है—

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्‌भिन्नस्य किञ्चन ।
गर्भो यत्र समुद्‌भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ॥

उदाहरण के लिए—रत्नावली के द्वितीय और तृतीय अंक की कथा ली जा सकती है । इस सन्धि में पताका नामक अर्थप्रकृति और प्रात्याशा नामक कार्य की अवस्था का मिश्रण रहता है किन्तु पताका का रहना नितान्त आवश्यक नहीं है, उसके बिना भी कार्य चल सकता है । "जिस बीज को प्रतिमुख संधि में लक्ष्यालक्ष्यरूप में देखा गया है, वही यहाँ आकर विशेष रूप से प्रस्फुट हो जाता है, किन्तु फिर भी फल प्राप्ति का निश्चय सन्दिग्ध हो उठता है, क्योंकि इसमें कभी विघ्न आ उपस्थित होता है तो कभी अन्य व्यवधान । इस प्रकार बार-बार बीज की खोज की जाती है । "यहाँ फल या प्राप्ति की सम्भावना तो रहती है, पर उसका ऐकान्तिक निश्चय नहीं हो पाता ।"

अवमर्श सन्धि (विमर्श)

रूपक की चतुर्थ सन्धि का नाम अवमर्श या विमर्श है । दशरूपककार इसका लक्षण इस प्रकार लिखते हैं—'जहाँ क्रोध, व्यसन या लोभ से फल-प्राप्ति के सम्बन्ध में पर्यालोचन किया जाय और जहाँ गर्भसन्धि के द्वारा बीज को प्रकट कर दिया गया हो, वहाँ अवमर्श सन्धि होती है"

क्रोधेनावमृशेद्यत्र व्यसनाद्वा विलोभनात् ।
गर्भनिर्भिन्न बीजार्थः सोऽवमर्शोऽङ्गसंग्रहः ॥१/४३

साहित्यदर्पणकार के अनुसार—जहाँ मुख्य फल का उपाय गर्भसन्धि की अपेक्षा अधिक उद्‌भिन्न हो, किन्तु शापादि के कारण विघ्नयुक्त हो उसे विमर्श (अवमर्श) सन्धि कहते हैं—

यत्र मुख्यफलोपाय उद्भिन्नो गर्भतोऽधिकः ।
शापाद्यैः सान्तरायश्च स विमर्श इति स्मृतिः ।। ६/७६-८०

उदाहरणार्थं शाकुन्तल में अनुसूया के इस कथन से कि 'प्रियवदे' यद्यपि गान्धर्वेण विवाहेन निर्वृत्तकल्याणा प्रियसखी शकुन्तला, अनुरूपभर्तृभागिनी संवृत्तेति निर्वृत्तम्, मे हृदयम् तथापि एतावच्चिन्तनीयम्" से लेकर सातवें अंक के प्रत्यभिज्ञान पर्यन्त सम्पूर्ण कथा विस्मरण रूप विघ्न से युक्त है अतः यहाँ विमर्श सन्धि है । इसमें नियताप्ति और प्रकरी का सम्मिश्रण रहता है, किन्तु प्रकरी की योजना वैकल्पिक होती हैं ।

निर्वहण सन्धि

रूपक की पाँचवीं सन्धि निर्वहण है । दशरूपककार ने लिखा है कि 'जहाँ एक ही प्रमुख प्रयोजन में कार्य और फलागम के साथ ही अन्याय अर्थों का पर्यवसान हो जाता है वहाँ निर्वहण सन्धि होती है—

बीजवन्तो मुखाद्यर्था विप्रकीर्णा यथायथम् ।
ऐकार्थ्यमुपनीयन्ते यत्र निर्वहणं हि तत् ।। १/४८

यहाँ पर प्रधान अर्थ की परिसमाप्ति होती है, अतः इसे निर्वहण सन्धि कहा जाता है । यह नाटक का उपसंहार होता है, अतः नाटक के समग्र प्रयोजन यहाँ मिल जाते हैं । साहित्यदर्पणकार ने ठीक ही लिखा है कि—बीज से युक्त मुखादि सन्धियों में बिखरे हुए अर्थों का जहाँ एक प्रधान प्रयोजन में यथावत् समन्वय साधित किया जाय उसे निर्वहण सन्धि कहते हैं । साहित्यदर्पण का लक्षण (६/८०-८१) शब्दशः दशरूपक से मिलता है, अतः यहाँ उसे लिख नहीं रहे हैं । निर्वहरण सन्धि का उदाहरण शाकुन्तल के सातवें अंक में शकुन्तला के परिज्ञान के अनन्तर की कथा में विद्यमान है ।

अध्याय | ९

कौटिल्य का अर्थशास्त्र

प्रश्न (५२) कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए ।

प्रश्न (५३) अर्थशास्त्र का महत्त्व स्पष्ट करते हुए उसके रचनाकाल, रचयिता एवम् उसकी विषयवस्तु का विवेचनात्मक परिचय दीजिए ।

उत्तर—कौटिल्य का अर्थशास्त्र वास्तव में राजनीति का ग्रन्थ है । "इसमें अर्थ का तात्पर्य है राजा और प्रजा का अर्थ । इस प्रकार अर्थशास्त्र की अभिव्यक्ति है वह विद्या, जो राजा और राष्ट्र को अर्थवान व समृद्धिशाली बना सके । अर्थशास्त्र में राजा की विश्वात्मक प्रगति और अभ्युदय की योजनाएँ प्रस्तुत की गयी हैं ।" इस प्रकार

अर्थशास्त्र एक अनुपम कृति है और उसमें छोटे से बड़े सभी राजोचित क्रियाकलापों की विवरणात्मक आलोचना है तथा उसके कुछ प्रमुख विषयों की तालिक अधिकरण-क्रम से इस प्रकार है—

विनयाधिकारिक—राजवृत्ति; वार्त्ता, राजर्षि का व्यवहार, अमात्य, गुप्तचर, मंत्राधिकार, राजदूतों की नियुक्ति, राजभवन-निर्माण।

अध्यक्ष प्रचार—जनपदनिवेश, दुर्गविधान, समाहर्त्ता के कार्य, आय-व्यय के स्थान, सुवर्णाध्यक्ष के कार्य, आयुधागाराध्यक्ष के कार्य, सूत्राध्यक्ष, शुल्काध्यक्ष, सीताध्यक्ष, सुराध्यक्ष।

धर्मस्थीय (न्याय-विभाग)—दीवानी और फौजदारी सम्बन्धी विवादों पर विचार, विवाह के कानून, वस्तु विक्रय, ऋण के कानून, धरोहर, मजदूरों के नियम, डाका, मारपीट।

योगवृत्त—राजकर्मचारियों को प्रजा को पीड़ा पहुँचाने से रोकना, राजकोष बढ़ाने के उपाय, भृत्यों के भरण-पोषण की विधि।

मण्डलोनि—राजा, मंत्री आदि के गुणों के वर्णन।

षाड्गुण्य—वृद्धि और क्षय, शत्रु के साथ युद्ध और संधि, पराजित राजा के साथ व्यवहार।

व्यसनाधिकारक—राजा पर आने वाली विपत्तियों का वर्णन, राज्य पर आने वाले संकट, पुरुषों पर विपत्तियाँ।

अभियास्यत्कर्म—सेना की तैयारी, सेना का नाश, प्रयाण, बाहरी और भीतरी आपत्तियाँ।

सांग्रामिक—सेना की छावनी, सेना को प्रोत्साहन, व्यूह और प्रतिव्यूह, युद्ध के योग्य भूमि, हाथी, रथ आदि।

संघवृत्त—भेद के प्रयोग और विषादि के द्वारा शत्रुओं को मारना।

आबलीयस—राजदूत के कर्मों का वर्णन, बुद्धिमत्ता से युद्ध करने के उपाय, शत्रु के सेनापतियों के वध का ढंग, शत्रु-सेना को अनेक उपायों से वश में करना।

दुर्गलम्भोपाय—शत्रु के दुर्गों को प्राप्त करने के उपाय, जीते हुए प्रान्तों में शान्ति स्थापित करना।

औपनिषदिक—शत्रु के विनाश के लिए औषधियों के प्रयोगों का वर्णन, अद्भुत औषधियों और मंत्रों का वर्णन, औषधियों से भूख-प्यास मिटाना।

तन्त्र युक्ति—अर्थशास्त्रीय शब्दों की परिभाषा।

इस प्रकार अर्थशास्त्र राजनीति-विषयक प्राचीन ग्रन्थों का निचोड़ जान पड़ता है और उसके आरम्भ में ही कहा गया है—"पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानिसंहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।" कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्व वैदिक साहित्य, महाभारत व स्मृति ग्रंथों में भी राजनीतिक, शासन-व्यवस्था से सम्बन्धित विषयों पर विचार किया गया है तथा प्रत्येक विचारक अपने पूर्ववर्ती विचारकों के विचारों से लाभ अवश्य उठाता है अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र पर भी पूर्ववर्ती, अर्थशास्त्र-लेखकों के विचारों का प्रभाव पड़ा है पर यह कहना

कि अर्थशास्त्र भी स्वयं कौटिल्य ने नहीं लिखा अपितु उनके अपितु उनके अनुयायियों ने परवर्ती-युग में कौटिल्य के सिद्धान्तों का संकलन किया है दुस्साहस ही कहा जायगा। यों तो अर्थशास्त्र के रचयिता के सम्बन्ध में स्वयं ग्रन्थ में आभ्यंतरिक प्रमाण प्राप्त हैं और ग्रन्थ के अन्त में यह श्लोक आया है।

येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः।
अमर्षणोद्धृतान्याशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥

इसके पश्चात् स्पष्टतया कहा गया है—

'स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च'

अर्थात्—'शास्त्रों पर टीका लिखने वालों में कई प्रकार का व्याघात दोष देखकर विष्णुगुप्त ने स्वयं (यह) शास्त्र और (इस पर) भाष्य लिखा है।

इस सम्बन्ध में कुछ अन्य उद्धरण कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विद्यमान हैं जिनसे कौटिल्य ही इस अर्थशास्त्र का रचयिता सिद्ध होता है तथा यह भी स्पष्ट हो जाता है कि कौटिल्य और विष्णुगुप्त एक ही व्यक्ति के वाचक हैं—

कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तग्रन्थविस्तरम्। १/१/१६४

और भी—

कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः। २/१०/६५

इसी प्रकार अनेक बाह्य प्रमाण भी प्राप्त होते हैं जिनके आधार पर कौटिल्य ही अर्थशास्त्र का रचयिता सिद्ध होता है और इन बाह्य प्रमाणों में से कुछ उल्लेखनीय मत यहाँ प्रस्तुत किए जा रहे हैं—

(१) कामन्दक ने अपने 'नीतिसार' का प्रयोजन कौटिल्य अर्थशास्त्र का संक्षेप करना बतलाया है और अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में विष्णुगुप्त को प्रणाम भी किया है।

(२) 'दशकुमार चरित' के आठवें उच्छ्‌वास में दंडी ने भी कहा है—

इयमिदानीमाचार्यविष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोकसहस्त्रैः संक्षिप्ता

इसी प्रकार राजा के दैनिक कर्त्तव्यों का निरूपण करते हुए दंडी ने कौटिल्य अर्थशास्त्र के कुछ स्थलों को ज्यों-का-ज्यों उद्धृत कर दिया है तथा सोमदत्त के चरित्र में उसने पुनः कौटिल्य के अर्थशास्त्र का उल्लेख करते हुए कहा है—

कौटिल्य-कामन्दकीयादि नीतिपटलकौशल······

(३) जैन धर्म के नन्दिसूत्र, पंचतंत्र, सोमदेव की नीति वाक्यावृत्त और कालिदास कृत ग्रन्थों पर मल्लिनाथ की टीका में भी चाणक्य के अर्थशास्त्र के उल्लेख या उद्धरण प्राप्त होते हैं।

(४) चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य के सम्बन्ध की पुष्टि में भी अनेक प्रमाण उपलब्ध हैं जिनमें से कुछ यहाँ प्रस्तुत हैं—

(क) विष्णु-पुराण में कहा गया है—

नवैव तान् नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणः समुद्धरिष्यात।
······कौटिल्य एवं चन्द्रगुप्तं राज्येऽभिषेक्ष्यति ॥

(ख) श्रीमद्भागवत पुराण में भी कहा गया है—

नवनन्दान् द्विजः कश्चित् प्रपन्नानुद्धरिष्यति।
स एव चन्द्रगुप्तं वै द्विजो राज्येभिषेक्ष्यति ॥

(ग) स्थविरावली चरित, नन्दिसूत्र और ऋषिमंडल प्रकरणवृत्ति नामक जैन ग्रन्थों तथा बुद्धघोष कृत समन्तेपशादिक नामक बौद्ध ग्रन्थों में भी अनेक स्थलों पर चाणक्य-चन्द्रगुप्त के सम्बन्धों का उल्लेख हुआ है।

(घ) विशाखदत्त की मुद्राराक्षस नामक नाट्यकृति में भी नौ नन्दों का वध करा चुकने के पश्चात् चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन को सुदृढ़ करने के लिए किए गए चाणक्य के प्रयत्नों का वर्णन है।

(५) साथ ही अभिधान चिन्तामणि नामक कोष के निम्नलिखित श्लोक से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि चाणक्य के कई नाम प्रसिद्ध थे—

वात्स्यायने मल्लनागः कुटिलश्चणकात्मजः।
द्रमिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽगबश्च सः॥

इससे प्रतीत होता है कि चाणक्य का वास्तविक नाम विष्णुगुप्त था और वह चणक का पुत्र होने के कारण चाणक्य तथा शायद कुटिल गोत्र से सम्बन्धित होने के कारण कौटिल्य कहलाया। यों वह कुटिल नीति का पक्षपाती था अतएव उसे कौटिल्य कहा जाता था, पर उसके अन्य नाम प्रसिद्ध नहीं हैं।

(६) कुछ पाश्चात्य विद्वान् इस ग्रन्थ को एक ही व्यक्ति की रचना नहीं मानते। अर्थशास्त्र के मूल के लगभग बहत्तर बार 'इति चाणक्यः' इस कथन का आधार लेकर प्रो० हिलब्रैण्ड (Hillbrand) न तो इसे एक व्यक्ति की कृति मानते हैं और न ही चाणक्य को रचयिता ही स्वीकार करते हैं। उनका विचार है कि यह एक ही मत (School) के कई लेखकों द्वारा लिखा गया ग्रन्थ है क्योंकि यास्क के निरुक्त और पतंजलि में महाभाष्य में भी इसी प्रकार 'इति यास्कः' तथा 'इति पतंजलि' जैसे कथन कहीं भी नहीं मिलते हैं। प्रो० जैकोबी (Jacobi) उक्त मत के विरोधी हैं और हमें कई ऐसे उदाहरण मिलते हैं जहाँ कि लेखकों ने अपनी कृतियों में अपने नाम का प्रयोग प्रथम (अन्य) पुरुष में किया है तथा यह सिद्ध करने के लिए भी पर्याप्त प्रमाण है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र द्वारा एक विशिष्ट मत (School) की स्थापना हुई है; जैसे—

[अ] कामन्दक ने इस ग्रन्थ के रचयिता का उल्लेख स्पष्ट तथा एक व्यक्ति के रूप में किया है और उनकी कृति में ऐसे किसी सम्प्रदाय या मत (School) का उल्लेख नहीं मिलता।

[ब] स्वयं कौटिल्य ने यह ग्रन्थ एक विशेष उद्देश्य को ध्यान में रखकर लिखा है और उन्होंने ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही कहा है—

पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम्।

[स] कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कहीं भी व्याघात दोष के दर्शन नहीं होते।

[द] यदि चाणक्य के पश्चात् कोई लेखक इस ग्रन्थ का रचयिता होता तो 'इति चाणक्यः', 'नेति चाणक्यः' और 'इत्याचार्यः' आदि शब्दों का कुछ अर्थ ही नहीं है।

[य] स्वयं कौटिल्य ने एक सौ चौदह बार पूर्वाचार्यों का उल्लेख कर उनके विचारों की तीव्र आलोचना भी की है।

[फ] मूल ग्रन्थ में लेखक के नाम का उल्लेख सर्वत्र एक वचन में हुआ है।

[ज] ग्रन्थ के प्रारम्भ में अत्यन्त सावधानीपूर्वक तैयार की गयी विषयानुक्रमणी है जिसमें रूपरेखा और निर्माण की असाधारण समानता स्पष्ट हो जाती है।

उक्त प्रमाणों के आधार पर यही मत व्यक्त करना उचित है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र का रचयिता मूलतः कौटिल्य ही है और यह बात स्वयं इस ग्रन्थ के मूल पाठ से भी सिद्ध होती है। यह तो हम भी मानते हैं कि इस ग्रन्थ के लिखे जाने के पूर्व अर्थशास्त्र विषयक अनेक ग्रन्थ विद्यमान थे और कौटिल्य ने उनमें से अधिकाधिक सामग्री ग्रहण करके अपने ग्रन्थ का निर्माण किया है पर यह ग्रन्थ उसकी निजी रचना नहीं है इसे सिद्ध करने वाला कोई पुष्ट प्रमाण नहीं है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि अर्थशास्त्र और उसके निर्माता कौटिल्य के सम्बन्ध में जितना विवाद रहा उससे अधिक भ्रमपूर्ण धारणाएँ इस ग्रन्थ के रचनाकाल के सम्बन्ध में प्रचारित हुई हैं। प्रो० हंसराज अग्रवाल ने इसके सम्बन्ध में उपलब्ध सामग्री को अत्यन्त परिश्रमपूर्वक एकत्र कर उसकी विश्लेषणात्मक समीक्षा भी की है और इस सम्बन्ध में निम्नलिखित विचार व्यक्त किए हैं—

(१) डॉ० शाम शास्त्री के द्वारा किए हुए इस ग्रन्थ के अनुवाद के लिए लिखी हुई अपनी संक्षिप्त भूमिका में डॉ० फ्लीट ने इस ग्रन्थ का सम्भाव्यमान निर्माणकाल ३२१,२९६ ईसा पूर्व माना है। प्रो० जैकोबी, डॉ० थामस (Thomas) तथा कई अन्य विद्वान् भी इस विचार से सहमत हैं।

(२) प्रो० जाली (Jolly) के विचार से यह ग्रन्थ कामसूत्र से मिलता-जुलता है, और कामसूत्र ईसा की चौथी शताब्दी में लिखा गया था, अतः यह भी प्रायः उसी समय का हो सकता है। उक्त प्रोफेसर ने मुख्यतया इस बात पर विश्वास किया है कि मेगस्थनीज (Megasthenese) ने चाणक्य के नाम का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु आधुनिक अनुसंधानों के आधारों पर माना जाता है कि मेगस्थनीज का साक्ष्य अधिक विश्वसनीय नहीं है। उदाहरणार्थ; उसने लिखा है कि भारतीय लोग लिपि कला नहीं जानते हैं; परन्तु आजकल इस बात पर कोई भी विद्वान् विश्वास नहीं कर सकता है। प्रो० जाली स्वयं स्वीकार करते हैं कि मेगस्थनीज भारतीय भाषाओं और साहित्य से परिचित नहीं था, अतः उसका साक्ष्य अलबेरूनी के साक्ष्य से बहुत कम मूल्य रखता है। सच तो यह है कि चाणक्य के अर्थशास्त्र में मौर्यकाल से पूर्व के भारत का चित्र देखने को मिलता है। यदि मेगस्थनीज अत्यन्त सूक्ष्म पर्यवेक्षक होता तब भी उसकी और चाणक्य की बातों में अनैक्य स्वाभाविक था। "चाणक्य के विषय में मेगस्थनीज चुप है" यह कोई युक्ति नहीं। मेगस्थनीज ने तो कहीं नन्दों का भी नाम नहीं लिया; फिर चाणक्य का नाम लेने की क्या आशा हो सकती है।

(३) प्रो० विंटरनिट्ज (Winternitz) और प्रो० कीथ (Keith) ने इस ग्रंथ का निर्माणकाल ईसा की चौथी शताब्दी माना है। विंटरनिट्ज के मत में से इसका रचयिता कोई राजनीतिज्ञ नहीं, बल्कि कोई पंडित है। परन्तु इस मत में इस तत्व के ऊपर ध्यान नहीं दिया गया कि भारतवर्ष में एक ही व्यक्ति पंडित और राजनीतिज्ञ दोनों का कार्य कर सकता है; माधव और सायण दोनों भाई बड़े योग्य अमात्य, साथ ही वेदों और भारतीय दर्शन के धुरंधर विद्वान् भी थे।

(४) कुछ विद्वानों ने बड़ा कल्पनापूर्ण विचार प्रकट करने का साहस किया है

उनका कथन है कि कौटिल्य (कुटिल बाबू) कोई ऐतिहासिक पुरुष नहीं था। परन्तु हम ऊपर कह चुके हैं कि उसका असली नाम विष्णुगुप्त था, कौटिल्य उसका उपनाम है जो उसके कुटिल नीति का पक्षपाती होने के कारण प्रसिद्ध हो गया है।

चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ चाणक्य का भारी सम्बन्ध यह सिद्ध करता है कि वह ई० पू० चौथी शताब्दी में हुआ था, और 'नरेन्द्रार्थे', 'मौयोर्थे' इत्यादि वाक्यों से भी विश्वास करना पड़ता है कि यह ग्रन्थ चन्द्रगुप्त मौर्य के जीवन-काल में लिखा गया था।

(६) युता, राजुका, पाषंडेषु, समाज, महामाता इत्यादि पारिभाषिक शब्द कौटिलीय अर्थशास्त्र के समान अशोक के शासन लेखों में भी पाए जाते हैं। कुछ शब्द ऐसे भी हैं जो किसी विशिष्ट अर्थ में प्रयोग में लाये गए हैं और बाद में 'अप्रयुक्त' हो गए हैं।

(७) चाणक्य के अर्थशास्त्र में और अशोक के शासन लेखों में कुछ एक जैसे विधान पाये जाते हैं। उदाहरण के लिए चक्रवाक, शुक और सारिका इत्यादि पक्षियों की हत्या करना वर्जित है, दवाइयों के काम में आने वाले पौधों का बोना और सड़कों तथा पगडंडियों के किनारे कुओं का खुदवाना वर्जित है।

इस प्रकार हम कौटिल्य अर्थशास्त्र का रचनाकाल ईसा पूर्व चौथी शताब्दी से पूर्व ही मानने के पक्ष में हैं और इसके साथ-ही-साथ हम उसका रचयिता कौटिल्य को ही मानते हैं, जिसका नाम चाणक्य तथा विष्णुदत्त भी था। साथ ही इस महान् ग्रन्थ—अर्थशास्त्र—में समाज कल्याण और वैयक्तिक त्याग की योजना ही प्रस्तुत की गयी है तथा राजा के सम्बन्ध में कौटिल्य का स्पष्टतया कहना है—

विद्याविनीतो राजा हि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथ्वी भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥ १/५/१८

अर्थात् राजा को समस्त प्राणियों के हित में रत रहना है तभी वह अभ्युदय कर सकेगा।

हम यहाँ भी स्पष्ट कर दें कि कौटिल्य ने यदि कहीं धोखाधड़ी के द्वारा शत्रु पर विजय प्राप्त करने की योजना भी प्रस्तुत की है तो वहाँ भी उनका केवल यही उद्देश्य था कि जन-कल्याण के लिए सदा सीधे बने रहने से भी काम नहीं चलता, अतः कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सुदृढ़ राज्य की ही पूर्ण कल्पना की गयी है।

●

अध्याय | १०

आयुर्वेद साहित्य

प्रश्न (५४) संस्कृत भाषा में प्राप्त प्रमुख चिकित्सा ग्रन्थों और उनके निर्माताओं का उल्लेख करते हुए भारतीय आयुर्वेद सम्बन्धी कार्यों का विवरण प्रस्तुत कीजिए।

वस्तुतः एक जीवनोपयोगी विषय के रूप में अत्यन्त प्राचीन काल में आयुर्वेद को सम्मान प्राप्त होता रहा है और चारों वैदिक संहिताओं—ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद व अथर्ववेद के क्रमशः चार उपवेद कहे गए हैं—आयुर्वेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद एवं अर्थ-वेद (अर्थशास्त्र)। इस प्रकार आयुर्वेद की आयु सहस्रों वर्ष प्राचीन मानी जाती है और ऋग्वेद में न केवल आयुर्वेद के जन्मदाता दिवोदास, भारद्वाज व अश्विनीकुमार आदि आचार्यों एवं ऋषियों का उल्लेख किया गया है अपितु ऋग्वैदिक काल में जल-चिकित्सा व सूर्य रश्मि चिकित्सा के प्रचार के उल्लेख भी मिलते हैं; जैसे

अप्स्वन्तरामृतमप्सु भेषजमपामुत प्रशस्तये।
अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा॥
अग्निं च विश्व सम्भवमापश्च विश्वभेषजीः।
आपः प्रणीत भेषजं वरूथं तन्वे मम।

इसी प्रकार उस समय अनेक प्रकार की औषधियों का ज्ञान भी था—

याः फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्चपुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥

आयुर्वेद की उत्पत्ति के विषय में परम्परा से प्रसिद्ध है कि 'आयुर्वेद शास्त्र के पहले उपदेष्टा सृष्टिकर्त्ता ब्रह्मा हुए। बहुत समय तक यह उपयोगी ज्ञान देवलोक तक ही सीमित रहा। बाद में इन्द्रादि देवों से उपकारी ऋषियों ने इस विद्या की दीक्षा प्राप्त कर उसे मर्त्यलोक में फैलाया। इस तरह भारद्वाज नामक ऋषि को आयुर्वेद का प्रथम आचार्य माना जाता है पर जैसा पहले ही कह चुके हैं उनसे पूर्व हमारे देश में आयुर्वेद और औषधि विज्ञान का सम्यक् प्रचार था। न केवल ऋग्वेद अपितु अन्य वैदिक संहिताओं में भी इस सम्बन्ध में अनेक प्रामाणिक साक्ष्य मिलते हैं और डॉ० राम-जी उपाध्याय के कथनानुसार "अथर्ववेद में अनेक रोगों के लक्षण, निदान और चिकित्सा सूक्ष्म विवेचन है। विभिन्न रोगों के निवारण के लिए विविध द्रव्यों का उपयोग किया जाता था, जैसे—कुष्ठ के द्वारा तक्म ज्वर नष्ट किया जाता था। नितन्नी के प्रयोग से केश बढ़ाये जाते थे। रजनी के प्रयोग से कुष्ठ का निदान होता था। सूर्य रश्मियों की कृमिनाशक शक्ति का ज्ञान उस समय था। वैद्य जानते थे कि शरीर के अनेक अंग और जंगली औषधियाँ कृमियों के आश्रय स्थान हैं और कृमि अनेक प्रकार के होते है। रोहिणी के प्रयोग से टूटी हुई हड्डी को जोड़ दिया जाता था। मच्छरों का वाध

करने के लिए किसी वनस्पति का प्रयोग होता था। अपामार्ग, पिप्पली और अरुन्धती औषधियों के उपयोग से अनेक रोगों का निदान और उपचार किया जाता था।" इस प्रकार हमारे देश में वैदिक युग में ही आयुर्वेद की समृद्ध परम्परा विद्यमान थी और कीथ ने तो स्पष्टतया अथर्ववेद में ही आयुर्वेद के निम्नलिखित आठ प्रतिपाद्य विषयों का होना स्वीकार किया है।

(१) शल्य (Major Surgery)
(२) शालक्य (Minor Surgery)
(३) कार्य-चिकित्सा (Heal:ng of Discase)
(४) भूत विद्या (Demonology)
(५) कौमार भृत्य (Children Diseuse)
(६) अगद तंत्र (Toxieology)
(७) रसायन तंत्र (Elixivs)
(८) वाजीकरण तंत्र (Aphrodisias)

कीथ का यह भी कहना है कि पतंजलि ने वेदांगों, इतिहास, पुराण और आप्तोवाक्य के साथ-साथ वैद्यक का भी निर्देश करते हुए आयुर्वेद शास्त्र की प्राचीनता सिद्ध की है तथा आत्रेय, काश्यप, हारीत, अग्निवेश आदि अनेक प्राचीन ऋषि-मुनियों के नाम भी मिलते हैं जिन्होंने इस विषय की शिक्षा दी थी। आत्रेय को तो इस विद्या का बहुधा प्रवर्तक भी कहा जाता है और चाणक्य के सम्बन्ध में भी यह प्रसिद्ध है कि उसने आयुर्वेद पर रचना की। बौद्ध परम्परा में जीवक का उल्लेख है जिसने तक्षशिला विश्वविद्यालय में सात वर्ष तक चिकित्सा शास्त्र का अध्ययन किया था और 'महावग्ग' में तो यह भी कहा गया है कि उसने किसी सेठ के उदर विकार को दूर करने के लिए उसके उदर का शल्यकर्म (आपरेशन) कर आँतों को पुनः यथास्थित कर दिया था। साथ ही बौद्ध ग्रन्थों में जीवक द्वारा वैशाली, साकेत, काशी उज्जयिनी आदि प्रदेशों में जाकर महाजनों के रोगों की चिकित्सा करने के प्रमाण भी मिले हैं। इसी प्रकार बौद्धों के 'विनयपिटक' ग्रंथ में बौद्धों की प्रारम्भिक चिकित्सा-प्रणाली, चीरफाड़ के शस्त्र, गर्म स्नान के लाभ आदि का ज्ञान भी होता है और समकालीन चीनी यात्रियों से विवरण के भारतवासियों की चिकित्सा सम्बन्धी अनेक बातों का भी परिचय मिलता है। चीनी तुर्किस्तान के काशगार नामक स्थान में एक बौद्ध स्तूप में दबी हुई सात अध्याय की एक हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई जिसके तीन अध्याय चिकित्सा पर ही हैं और एक अध्याय ,लहसुन' पर है तथा उसमें लहसुन को कई रोगों का विनाशक व जीवन को शतायु बनाने वाला बतलाया गया है। इसी प्रकार एक अध्याय ,नावनीतक' है जिसमें कई वैद्यों और चिकित्सकों के नाम हैं पर उसमें से भारत में केवल 'सुश्रुत' ही प्रसिद्ध है हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस हस्तलिखित प्रति के कई खंड हैं और यह प्राकृत मिश्रित संस्कृत में लिखी गई है अतः इससे इसकी प्राचीनता सहज ही स्पष्ट हो जाती है।

आयुर्वेद सम्बन्धी प्राचीनतम संहिताएँ

(१) चरक संहिता—वस्तुतः चरक संहिता ही आयुर्वेद सम्बन्धी उपलब्ध प्राचीन संहिताओं में से सर्वाधिक प्राचीन व प्रसिद्ध मानी जाती है और इसके रचयिता

चरक अनुश्रुतियों के अनुसार कनिष्क के वैद्य थे तथा उनकी धर्मपत्नी को एक असाध्य रोग से उन्होंने अच्छा किया था, पर कीथ ऐसी अनुश्रुतियों को निरा महत्वहीन ही मानते हैं। साथ ही चरक संहिता में एक स्थल पर यह भी कहा गया है कि अपनी इस वर्त्तमान अवस्था में वह चरक की कृति नहीं है बल्कि दृढ़बल ने उसका संशोधन किया था और स्वयं दृढ़बल ने यह कहा है कि इस कृति के अन्तिम दो अध्यायों को उन्होंने जोड़ा है तथा षष्ठ स्थान के २८ या ३० अध्यायों में से १७ अध्याय उन्हीं की कृति हैं। दृढ़बल एक कश्मीर और कपिलबल के पुत्र थे और उनका समय ईसा की आठवीं या नवीं शताब्दी माना जाता है, अतः चरक संहिता के वर्तमान रूप को आठवीं या नवीं शताब्दी का ही समझना चाहिए। इसी प्रकार विचारकों का तो यह भी कहना है कि चरक संहिता भेड़ या भेल के सहपाठी और पुनर्वसु आत्रेय के शिष्य अग्निवेश द्वारा विशेष विषयों पर लिखे गए कुछ तंत्रों का ही परिवर्तित अथवा प्रतिसंस्कृत रूप है अतः उसकी अपेक्षा भेल या भेड़ संहिता को ही प्राचीन समझना चाहिए पर इस मत के समर्थकों की संख्या अधिक नहीं है तथा अधिकांश विचारक चरक संहिता में मौलिकता व एकरूपता का सर्वथा अभाव होते हुए भी उसे ही आयुर्वेद सम्बन्धी सर्वाधिक प्राचीन संहिता मानते हैं। श्री प्रफुल्लचन्द्र राय ने तो चरक को स्पष्टतया बौद्ध युग से पूर्ववर्ती कहा है और डॉ० रामजी उपाध्याय ने भी उनका समय ईसा के पूर्व माना है तथा डॉ० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्ता ने भी अपने प्रसिद्ध ग्रंथ (History of Indian Philosophy) में चरक की प्राचीनता सिद्ध करते हुए उनका समय लगभग ८० ई० माना है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वी० वरदाचार्य ने अपने ग्रंथ 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' मे चरक को गांधारवासी (पश्चिमी सीमा प्रांत) मानते हुए उनका समय प्रथम शताब्दी ईसवी के लगभग माना है।

अपने वर्तमान रूप में चरक संहिता आठ भागों में विभक्त है और उसके (१) "प्रथम भाग सूत्रस्थान में औषधादि रोग-प्रतीकार, भोजन और वैद्य के कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है, (२) निदान स्थान का सम्बन्ध आठ मुख्य रोगों से है; (३) विमान स्थान का सम्बन्ध सामान्य रोग विज्ञान और आयुर्वेदिक अध्ययन से है; इसमें नवोपनीत छात्र के आचरण सम्बन्धी नियम दिये गये हैं, उसे अपनी सम्पूर्ण शक्तियों को अपने अध्ययन में लगाना चाहिए, अपने जीवन के लिए भय उपस्थित होने पर भी रोगी को हानि नहीं पहुँचानी चाहिए, रोगी की स्त्री के प्रति अथवा उसकी वस्तुओं के प्रति बुरे विचार नहीं करने चाहिए, अपने आचार-व्यवहार में गम्भीर और संयत होना चाहिए, अपने रोगी को अच्छा करने में मनसा-वाचा-कर्मणा तत्पर होना चाहिए, रोगी के घर की प्रवृत्तियों को बाहर प्रकाशित नहीं करना चाहिए, रोगी के सम्मुख ऐसी कोई बात न कहने का ध्यान रखना चाहिए जिससे उसके स्वास्थ्य लाभ में बाधा पड़ सकती है; (४) शरीरस्थान में शरीर-रचना-विज्ञान और भ्रूण विज्ञान का निरूपण किया गया है, (५) इंद्रियस्थान में निदान और पूर्व कथन अथवा साध्य साध्य विचार (Prognosis) का निरूपण है, (६) चिकित्सा स्थान में विशिष्ट चिकित्सा का प्रतिपादन किया गया है, और (७) कल्पस्थान तथा (८) सिद्धि स्थान में सामान्य चिकित्सा का निरूपण किया है।"

चरक संहिता आयुर्वेद या चिकित्सा-विज्ञान तक ही सीमित नहीं रही बल्कि उसमें दर्शन एवं सांख्य आदि की भी चर्चा हुई है और ऐसा जान पड़ता है कि उसका रचयिता

न्याय व वैशेषिक आदि मतों से भी परिचित है अतः उस ग्रंथ को प्राचीन मानने में बाधा पड़ती है। इसी प्रकार ग्रन्थ का रूप यत्र-तत्र पद्यों से मिश्रित गद्यात्मक है और कदाचित् दृढ़बल द्वारा संशोधित होने के कारण उसका स्वरूप एक अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ का-सा नहीं रहा। इतना होते हुए भी इस समय आयुर्वेद सम्बन्धी ग्रन्थों में चरक संहिता को ही सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है और उसका एक अरबी अनुवाद ८०० ईसवी के लगभग हुआ था तथा इससे भी पूर्व फारसी में भी उसका अनुवाद किया गया था। चरक संहिता की सर्वाधिक प्राचीन टीका चक्रपाणिदत्त की है जिसका समय लगभग ग्यारहवीं शताब्दी कहा जाता है।

(२) सुश्रुत संहिता—सुश्रुत आचार्य धन्वन्तरि के शिष्य और चरक के परवर्ती आचार्य थे, पर उन्हें चरक के समान ही प्रसिद्धि प्राप्त है। नवीं और दसवीं शताब्दियों में उन्हें पूर्व में कम्बोडिया और पश्चिम में अरब देश में पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। कहा जाता है—सुश्रुतसंहिता को पहले तो नागार्जुन (दर्शनशास्त्री नागार्जुन से पृथक्) और तत्पश्चात् वाग्भट ने संशोधित परिवर्द्धित किया है। महाभारत में सुश्रुत को विश्वामित्र मुनि का पुत्र कहा गया है, अतः उनका समय निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि चरक की भाँति सुश्रुत के ग्रंथ का स्वरूप भी ग्यारहवीं शताब्दी में चक्रपाणिदत्त की टीका की रचना से पूर्व सुनिश्चित नहीं हो पाया था। यों तो जैय्यट और गयदास द्वारा की गयी उसकी टीकाओं का भी उल्लेख मिलता है पर यह टीकाएँ उपलब्ध नहीं हैं। इसी प्रकार तेरहवीं शताब्दी में उल्लन ने भी उसकी एक टीका लिखी थी और जैय्यट की टीका के आधार पर चन्द्र द्वारा संशोधित सुश्रुत संहिता का एक पाठ उपलब्ध भी होता है।

सुश्रुत संहिता ६ भागों में विभक्त है और इसका प्रारम्भ भी चरक संहिता की भाँति सूत्र स्थान से होता है जिसमें सामान्य विषयों का निरूपण किया गया है तथा इस पहले भाग में यह भी कहा गया है कि सुश्रुत के गुरु बनारस के राजा दिवोदास थे; जो स्वयं देवताओं के भिषक् धन्वन्तरि के अवतार थे। सुश्रुत संहिता का दूसरा भाग निदान स्थान है जिसमें रोग विज्ञान का विवेचन है और शरीर स्थान नामक तीसरे भाग में शरीर विज्ञान व भ्रूणविज्ञान, गर्भविज्ञान—का निरूपण है। इसी प्रकार क्रमशः चिकित्सा स्थान नामक चौथे अध्याय में रोग चिकित्सा, कल्पस्थान नामक पाँचवें अध्याय में विषविधा और उत्तर स्थान या छठें भाग में ग्रन्थ की शेषपूर्ति की गयी है। पर कई विद्वान् इस छठें स्थान को बाद में जोड़ा गया मानते हैं। यों तो हार्नली (Hoernle) ने इस बाद की तैयार की गयी सुश्रत संहिता को चरक और भेड़ या भेल संहिता के समान प्राचीन माना है तथा इस सम्बन्ध में उन्होंने यह तर्क भी प्रस्तुत किया है सुश्रुत के शरीर रचना सम्बन्धी विचार शतपथ ब्राह्मण के रचयिता को भली-भाँति ज्ञात थे; पर कीथ इस मूल धारणा को ही अविश्वसनीय समझते हैं। इतना अवश्य है कि सुश्रुत एक चिकित्सक के उत्कृष्ट सदाचार का पालन भी आवश्यक समझते हैं, जैसे शिष्य उपनयन द्विजत्व प्राप्ति के लिए एक नवयुवक के विध्यनुसारी उपनयन पर आधृत है, उसे अग्नि की प्रदक्षिणा करनी पड़ती है, और उसको अनेक उपदेश दिये जाते हैं जिनमें शरीर और जीवन की पवित्रता सम्मिलित है, उसे लाल रंग का वस्त्र धारण करना पड़ता है—जिस प्रकार के अनेक सादृश्य मिलते हैं, उसके नख और वेश छोटे-छोटे कटे हुए होने चाहिए कि वह धर्मात्मा मनुष्यों, मित्रों; पड़ो-

सियों, विधवा, अनाथ, निर्धन और यात्रियों (अतिथियों) के साथ अपने सगे-सम्बन्धियों से समान व्यवहार करे; परन्तु अपनी विद्या के लाभ से शिकारियों, चिड़ीमारों जाति बहिष्कृतों और पापियों को वंचित रखे।

(३) भेल या भेड़ संहिता—यह संहिता भी अत्यन्त अव्यवस्थित रूप में प्राप्त हुई है और विचारक इसे भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं मानते। यों इस संहिता के विभाग चरक संहिता की भाँति ही हैं और इसका जितना अंश सुरक्षित है वह मुख्यतया श्लोकों में है तथा साथ में कुछ सीमित गद्य भी है। चरक संहिता से इसके कुछ अंशों की तुलना करने पर यह अवश्य ज्ञात होता है कि इस संहिता के रचयिता को सुश्रुत संहिता का भी ज्ञान था और इसमें वर्णित अस्थिविज्ञान के सम्बन्ध में हार्नली (Hoernle) का यह भी मत है कि इस प्रसंग में आत्रेय की पद्धति का अनुसरण किया गया है तथा यही पद्धति याज्ञवल्क्य स्मृति, विष्णु स्मृति, विष्णु धर्मोत्तर पुराण और अग्नि पुराण में भी विद्यमान हैं। पर याज्ञवल्क्य स्मृति में इस तालिका का उद्गम स्थान मानने के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं।

(४) बॉवर हस्तलेख (Bower Manuscript) के आयुर्वेद सम्बन्धी अंश—सन् १८६० में काश्गर नामक स्थान में कुछ हस्तलिखित प्रतियाँ प्राप्त हुईं जो कि अनुसंधानकर्ता के नाम बॉवर हस्तलेख (Bower Manuscript) के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्राचीन लिपि-विज्ञान के आधार पर इनका समय लगभग चौथी शताब्दी ई० माना जाता है। इन प्रतियों से हमें आयुर्वेद सम्बन्धी कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों की भी जानकारी प्राप्त होती है और इनके सात निबन्ध या प्रकरण चिकित्सा सम्बन्धी ही हैं। इनमें से एक निबन्ध लहसुन पर है जिसमें दीर्घायु के लिए उसके गुणों का निरूपण किया गया है और दूसरे निबन्ध में सहस्रायु प्राप्त करने के लिए एक रसायन का योग दिया गया है तथा अन्य अनेक विषयों के साथ नेत्र धोने की औषधियाँ और नेत्रांजनों पर भी विचार किया गया है। तीसरे निबन्ध में बाह्य और आंतरिक प्रयोग के लिए चौदह योग दिए गए हैं तथा नावनीतक को अत्यन्त महत्त्व प्रदान करने से यह निबन्ध अपने नाम द्वारा पिछले ग्रन्थों का नवनीत ही कहलाता है। यह निबन्ध सोलह अध्यायों में विभक्त है और इसमें अनेक रोगों व औषधियों का विवरण है तथा इसके चौदह अध्याय में शिशुरोगों का भी विवरण दिया गया है।

वस्तुतः बॉवर हस्तलेख के उक्त सभी निबन्ध पद्यात्मक हैं और उनमें अपेक्षाकृत अधिक जटिल पद्धति का प्रयोग किया है तथा आत्रेय, क्षारपाणि जातूकर्ण, पराशर, भेड़ व हारीत नामक आयुर्वेदाचार्यों का भी उल्लेख हुआ है और सुश्रुत का नाम भी दिया गया है पर चरक का नाम नहीं है लेकिन इसका अर्थ यह है कि वह चरक संहिता के विरुद्ध है। साथ ही इसकी भाषा विचित्र प्रकार की कहीं जाती है जिसमें प्रचलित संस्कृत पर प्राकृत प्रभावों की अत्यधिक छाप भी है तथा बौद्ध संस्कृत को मिश्रित भाषा से उसकी तुलना सहज ही की जा सकती है।

परवर्ती आयुर्वेदिक साहित्य

(१) वाग्भट—यह सुश्रुत के परवर्ती माने जाते हैं और भारतीय परम्परा आयुर्वेद के महान् आचार्यों में चरक व सुश्रुत के पश्चात् इन्हें तीसरा स्थान प्रदान करती है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि वाग्भट नामक दो ग्रन्थकार मिलते हैं और दोनों ने अपने-अपने पिता का नाम समान ही बतलाया है। इस प्रकार प्रथम वाग्भट

सिंहगुप्त के पुत्र हैं और उनके गुरु बौद्ध अवलोकित थे तथा इन्होंने 'अष्टांग संग्रह' नामक ग्रंथ का निर्माण किया था। प्रथम वाग्भट के इस अष्टांग संग्रह नामक ग्रंथ के आधार पर ही द्वितीय वाग्भट ने "अष्टांग हृदय संहिता' नामक ग्रंथ का निर्माण किया था, जिसका आभास दोनों ग्रंथों की तुलना से सहज ही स्पष्ट हो जाता है पर यहाँ यह स्मरणीय है कि प्रथम वाग्भट ने ग्रन्थ में पद्यों से मिश्रित गद्यात्मक शैली प्रयुक्त हुई है जबकि द्वितीय वाग्भट ने विशुद्ध पद्यात्मक शैली का प्रयोग किया है। प्रथम वाग्भट के समय के सम्बन्ध में एक उल्लेखनीय संकेत चीनी यात्री इत्सिंग (Itsing) के उस उल्लेख में भी है जिसमें उसने कहा है कि उनसे कुछ ही पूर्व एक व्यक्ति ने आयुर्वेद सम्बन्धी आठ विषयों का एक संग्रह तैयार किया था। कीथ ने इस व्यक्ति को जो स्पष्टतया बौद्ध था प्रथम वाग्भट ही माना है और उन्होंने प्राकृत में उसका—वाग्भट का रूप बाहड़ तथा सिंहगुप्त का संघगुप्त बतलाया है। साथ ही उनका यह अनुमान भी है कि द्वितीय वाग्भट वृद्ध वाग्भट के ही एक वंशज होंगे और वह भी बौद्ध धर्मावलम्बी ही होंगे तथा उनका समय प्रथम वाग्भट से एक शताब्दी से अधिक बाद न होगा। द्वितीय वाग्भट के ग्रंथ का तिब्बती भाषा में अनुवाद भी हुआ है और दोनों ने ग्रंथों में चरक व सुश्रुत को समान रूप से उद्धृत भी किया है। महामहोपाध्याय स्वर्गीय ओझाजी ने अपने ग्रंथ 'मध्यकालीन भारतीय संस्कृति' में प्रथम वाग्भट का समय सातवीं और द्वितीय वाग्भट का समय आठवीं शताब्दी माना है।

(२) माधवकर— लगभग आठवीं या नवीं शताब्दी में इन्दुकर के पुत्र माधवकर ने 'रुग्विनिश्चय' नामक एक ग्रंथ का निर्माण किया जो कि रोगनिदान सम्बन्धी एक महत्वपूर्ण ग्रंथ है तथा उसका परवर्ती भारतीय आयुर्वेद पर निर्णायक महत्व भी स्वीकार किया जाता है। कीथ ने तो माधवकर को दृढ़बल से भी प्राचीन माना है, पर इस सम्बन्ध में उन्होंने कोई प्रामाणिक तथ्य प्रस्तुत नहीं किया। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सिद्धियोग या वृन्द माधव नामक एक अन्य ग्रंथ भी रोग-निदान सम्बन्धी प्राप्त होता है और इसमें उक्त 'रुग्विनिश्चय' नामक ग्रंथ का अनुसरण भी किया गया है तथा ज्वर से लेकर विषयप्रयोग तक की बीमारियों की बड़ी संख्या के निवारणार्थ योग बतलाये गये हैं। इस ग्रंथ के लेखक का नाम वृन्द कहा जाता है और वृन्द माधव नाम से माधवकर ही इसके लेखक भी कहे जाते हैं तथा कुछ विद्वान् इन दोनों ग्रंथों का लेखक माधवकर को ही मानते हैं और माधवकर एवम् वृन्द को अभिन्न बतलाते हैं।

(३) चक्रपाणिदत्त—इनकी चरक संहिता और सुश्रुत संहिता पर लिखी गयी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं पर इनके अतिरिक्त इनका चिकित्सा सार-संग्रह नामक एक ग्रंथ चिकित्सा सम्बन्धी भी कहा जाता है।

(४) मिल्हण—लगभग १२२४ ईसवी में दिल्ली में इन्होंने चिकित्सामृत नामक एक ग्रंथ की रचना की जिसमें २५०० पद्य हैं।

(५) नागार्जुन—इन्होंने योगसार और योगशतक नामक दो ग्रंथ लिखे हैं तथा रसरत्नाकर भी इन्हीं का ग्रंथ कहा जाता है। यों तो पहले कुछ विद्वान् बौद्ध नैयायिक नागार्जुन और आयुर्वेदाचार्य नागार्जुन को एक ही मानते थे, पर अब यह सिद्ध हो चुका है कि दोनों पृथक्-पृथक् व्यक्ति हैं।

(६) बोपदेव—यह केशव वैद्य के पुत्र थे और राजा हेमाद्रि (लगभग १३००)

के आश्रित थे। इन्होंने शारङ्गधर पर टीका लिखी है और यहाँ यह भी स्मरणीय है कि शारङ्गधर ने अफीम व पारे के उपयोग का तथा रोगनिर्णय में नाड़ी के उपयोग का भी विधान किया है।

(७) अन्य उल्लेखनीय ग्रन्थ और ग्रन्थकार—आयुर्वेद सम्बन्धी उक्त ग्रंथों की अपेक्षा परवर्ती ग्रंथ बहुसंख्यक होने के साथ-साथ विस्तृत भी हैं और उनमें से विशेष रूप से लोकप्रिय हैं—तीसट की चिकित्साकलिका (१४वीं शताब्दी), भाव मिश्र का भाव प्रकाश (१६वीं शताब्दी), लोलिम्बराज का वैद्यजीवन (१७वीं शताब्दी)। इसी तरह विभिन्न प्रकार की व्याधियों पर लिखे गए बहुसंख्यक व्यवस्थित निबन्धों के उल्लेख भी मिलते हैं जिनमें छोटे-बड़े वृक्षों की व्याधियों पर लिखा गया सुरपाल का वृक्षायुर्वेद विशेष रूप में उल्लेखनीय है।

धातु सम्बन्धी आयुर्वेद साहित्य

आयुर्वेद सम्बन्धी साहित्य में उस शाखा का ऐतिहासिक महत्व माना जाता है जिसका सम्बन्ध धातु सम्बन्धी रसों के गुणों से है और इनमें रमेश्वर का प्रमुख स्थान है। कीथ के कथनानुसार 'शरीर और धातुओं पर समान रूप से रसेश्वर का प्रभाव माना जाता है, और इसका उपयोग पारस पत्थर के स्थान हल्की धातुओं (dase metal) को रूपान्तरित करने में होता है, जिसके साथ उनका परिमाण (bulk) भी अत्यन्त बढ़ जाता है इस विचार को राजतरङ्गिणी के कोटिवेधी रस में व्यक्त किया गया है। ऐसा समझा जाता है कि इस प्रकार के रसायनों से स्थिर यौवन, एक सहस्र वर्ष की आयु, अदृश्य और अभेद्य होने की शक्ति, और अन्य स्पृहणीय बातें प्राप्त हो जाती हैं। इस विषय की प्राचीनतम रचनाओं का समय अनिश्चित हैं, राय ने नागार्जुन के रसरत्नाकर को सातवीं या आठवीं शताब्दी में रखा है परन्तु उनका यह कथन पूर्णतया समाधानप्रद आधारों पर स्थित नहीं है। अलबेरूनी (१०३०) समस्त रसायन शास्त्र को, उसे निकम्मा कहते हुए, खिल्ली उड़ाते हैं। रसार्णव के सम्पादक उसको १२०० ई० के लगभग रखते हैं, और सर्वदर्शन संग्रह के रसेश्वर दर्शन के वर्णन में मध्ययुगीन रसायन विद्या के प्रति अनुराग का बहुत कुछ प्राचीन प्रमाण हमें प्राप्त है। ये साधक लोग शैव होते थे, परन्तु उनका यह भी विश्वास था कि मोक्ष प्राप्ति के लिए शरीर रक्षा की अत्यन्त आवश्यकता है। रसेश्वर दर्शन के उक्त वर्णन में रसार्णव रसहृदय और रसेश्वर सिद्धान्त से उद्धरण दिये हैं। इस रत्नसमुच्चय को किन्हीं ग्रंथों में वाग्भट कृत बतलाया गया है, दूसरे ग्रंथों में अस्विनीकुमारकृत अथवा नित्यनाथकृत। अनुमान के आधार पर इसे १३०० ई० का बतलाया जाता है। नित्यनाथ रसरत्नाकर के ग्रंथकार हैं। रामचन्द्र द्वारा निर्मित रसेन्द्रचिन्तामणि उपलब्ध है। जैन मेरुतुंग ने रसाध्याय पर एक व्याख्या लिखी थी परन्तु इन ग्रंथों का आकर्षण पूर्णतः उनके मुख्य विषय (पारद) पर अवलंबित है।"

आयुर्वेदिक कोष-ग्रन्थ

प्राचीन आयुर्वेदिक निघंटु तो अब उपलब्ध नहीं है और आजकल जिसे सर्वाधिक प्राचीन कोषग्रंथ कहा जाता है वह है 'धन्वन्यरिनिघंटु'। पर उसमें भी पारद का उल्लेख होने से विचारक अब उसे अमर के—जिसका समय वाग्भट से भी बाद माना जाता है—समय के पश्चात् का मानते हैं। इसके अतिरिक्त सन् १०७५ में बंगाल

के राजा भीमपाल के लिए सुरेश्वर ने शब्दप्रदीप की रचना की थी और तेरहवीं शताब्दी में नरहरि ने भी राजनिघंटु नामक आयुर्वेद का कोष तैयार किया था। इसी प्रकार सन् १३७४ में मदनपाल द्वारा निर्मित मदन विनोद घंटु औषध-गुण वर्णन-परक एक विस्तृत निघंटु है तथा पथ्या-पथ्य विषयक व पाक-विद्या विषयक शब्दों पर लिखित पथ्यापथ्य निघंटु जैसे ग्रन्थों का उल्लेख मिलता है।

उपसंहार

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि संस्कृत साहित्य में आयुर्वेद साहित्य पर्याप्त मात्रा में विद्यमान है और इसका मूल कारण यह है कि अत्यन्त प्राचीन काल से आयुर्वेद का विकास हो रहा है तथा अब तो इस सम्बन्ध में अनेक प्रामणिक साक्ष्य उपलब्ध है कि वैदिक काल में भी आयुर्वेद की समृद्ध परम्परा विद्यमान रही है। इस प्रकार चारों वैदिक संहिताओं में आयुर्वेद के आचार्यों, शरीरविज्ञान की विधियों और रोग निवृत्ति की पद्धतियों आदि का उल्लेख हुआ है तथा महाभारत में विषवैद्य, शल्य वैद्य, रोग, वैद्य कृत्याहार वैद्य नामक चार प्रकार के वैद्य भी माने गए हैं। साथ ही महाभारत में पागलों की चिकित्सा व पशुचिकित्सा के साक्ष्य भी प्राप्त होते हैं और बौद्ध साहित्य में भी शल्यविद्या विशारद (आपरेशन कर्म में निपुण अनेक वैद्यों) का उल्लेख हुआ है तथा कौटिल्य के अर्थशास्त्र में तो मृत व्यक्ति की परीक्षा की वैधानिक विधि का भी वर्णन है।

कुछ विचारकों का यह भी मत है कि भारतीय चिकित्सा प्रणाली प्राचीन यूनानी चिकित्सा पद्धति से कुछ अंशों में साम्यता रखती है और त्रिदोष (Hamours) का सिद्धान्त, ज्वर की तीन अवस्थाएँ, रोग निदान के उपाय आदि कुछ विषयों में दोनों पद्धतियाँ समान ही हैं पर विषमताएँ भी कुछ कम नहीं हैं। इस दिशा में यह न भूलना चाहिए कि हमारे देश में शराब का प्रयोग औषधियों में नहीं होता था, और हानेली आदि विचारकों ने तो यूनानी चिकित्सा प्रणाली को भारतीय चिकित्सा प्रणाली से प्रभावित मानते हुए यह भी कहा है कि यूनानी लोग बहुत-सी जड़ी-बूटियाँ भारत से मंगाते थे। हम यह मानते हैं कि प्राचीन भारत में शल्य चिकित्सा का समुचित विकास नहीं हो पाया था, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हमारा देश आयुर्वेद या चिकित्सा विज्ञान की दिशा में अविकसित ही था, क्योंकि यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो विश्व के अन्य अधिकांश देशों की सभ्यताएँ जब सभ्यता की पहली सोपान पर ही न पहुँच सकी थीं तब हमारा देश चिकित्सा विज्ञान की दिशा में भी अपेक्षाकृत पर्याप्त समृद्ध था।

●

अध्याय | ११

भारतीय दर्शन

प्रश्न (५५) दर्शन का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए भारतीय दर्शन नामक विषय पर एक आलोचनात्मक निबन्ध लिखिए।

वस्तुत: दर्शन शब्द की निष्पत्ति 'दृश' धातु से हुई है और 'दृश्य' का अर्थ है देखना अत: 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' के अनुसार जिसके द्वारा देखा जाय वही दर्शन है। सामान्यत: नेत्र ही देखने के लिए स्थूल साधन हैं और नेत्रों द्वारा होने वाला प्रत्यक्ष ज्ञान चाक्षुष-प्रत्यक्ष (Eye-perception) कहलाता है। पर उक्त साधन स्थूल दर्शनों का ही है अन्यथा दर्शन का सम्बन्ध तो अन्तर्दृष्टि से भी होता है। इस प्रकार यहाँ दर्शन से अभिप्राय आत्मदर्शन से ही है और छांदोग्य उपनिषद् में तो 'दृश' शब्द का प्रयोग 'आत्मदर्शन' के लिए हुआ भी है। दर्शन को शास्त्र भी कहा जाता है पर विचारक यह भी कहते हैं "शास्त्र शब्द के लिए दो धातुओं का प्रयोग होता है—शास आज्ञा देना और शंस्—प्रकट करना या वर्णन करना। शासन करने वाले शास्त्र दो प्रकार के हैं—विधि रूप और निषेध रूप। श्रुतियों और स्मृतियों में बताये गये कर्त्तव्य, कर्म, अनुष्ठान करने योग्य हैं (विधि रूप) तथा हेय या निन्दित कर्म त्यागने योग्य हैं (निषेध रूप)। शासन अर्थ में शास्त्र का प्रयोग धर्मशास्त्र (Religion) के लिए उपयुक्त है 'शंसक' शास्त्र बोध कराने वाले शास्त्र हैं। 'शंसक' शास्त्रों में वस्तु के वास्तविक और यथार्थ रूप की व्याख्या मिलती है। 'शासन' शास्त्र-क्रिया सूचक और शंसक शास्त्र-ज्ञान सूचक होते हैं। दर्शन के साथ शास्त्र शब्द का प्रयोग शंसक शास्त्र के अर्थ में हुआ है। कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का निर्णय करने के कारण धर्मशास्त्र (Religion) पुरुषपरतन्त्र है और वस्तु के वास्तविक स्वरूप का विवेचन करने के कारण दर्शनशास्त्र वस्तु तन्त्र है।" इसी प्रकार दर्शन की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए कहा जाता है—

"Philosophy is an attempt to explain and appreciate life and the universe as a whole."

अर्थात् दर्शन सम्पूर्ण विश्व और जीवन की व्याख्या तथा मूल्य निर्धारित करने का प्रयास है। साथ ही डॉ० रामजी उपाध्याय का भी कहना है "संस्कृति के आदि काल से ही जीवन की आधिभौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति कर लेने के पश्चात् मानव की बुद्धि और मनन शक्ति का नियोजन उसकी व्यक्तिगत या सार्वजनीन रहस्यात्मक समस्याओं की दिशा में होना स्वाभाविक है। जगत् में ऐसी रहस्यात्मक समस्याओं का कभी अभाव नहीं रहा। विश्व क्या है, इसमें निरन्तर घटित होने वाली प्रकृति की सुख-प्रद या दुःखप्रद प्रवृत्तियों का नियन्ता कौन है, मानव जीवन का उद्देश्य आधिभौतिक

से बाहर है कि नहीं, जीवन का अन्त क्या है और फिर मरने के पश्चात् क्या होता है—इनमें से एक-एक समस्या उस पुरातन मानव को दार्शनिक चिन्तन के लिए प्रवृत्त करने के समर्थ थी। जीवन भर अपनी भौतिक आवश्यकताओं के चक्कर में पड़ा हुआ मानव यदि तनिक गम्भीरतापूर्वक सोचता है तो उसे निश्चय ही प्रतीत होता है कि सतत प्रयत्न करने पर भी उसे सतत सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती। अपनी चेष्टाओं के द्वारा वह प्राप्ति से नित्य यथायोग संघर्ष अथवा असहयोग करते हुए अन्त में समझ लेता है कि हम असहाय हैं, क्योंकि प्रकृति उसे सुखी रखने में पूर्णरूपेण समर्थ नहीं है। ऐसी मनःस्थिति में वह प्रकृति से अधिक शक्तिशालिनी सत्ता का सहारा लेता है और उस सत् की खोज कर ही लेता है, जिसमें सनातन सुख और शांति है। इसी सत् की खोज का नाम भारत में दर्शन है।"[1]

हमारे देश में दर्शन का अत्यधिक महत्त्व है और उसका अभिन्न सम्बन्ध जीवन की नित्य प्रति की घटनाओं से माना जाता है तथा 'साख्य' में कहा भी गया है—दुःखत्रयाभिघातातजिज्ञासा तदपघात के हेतौ अर्थात् त्रिविध—आध्यात्मिक, अधिभौतिक व आधिदैविक ताप से संतप्त जनता के क्लेशों की आत्यंतिक निवृत्ति के लिए ही दर्शन का उदय हुआ है। इस प्रकार भारत में धर्म का मूल्य नितान्त व्यावहारिक है और पाश्चात्य देशों में तो दर्शन विद्वानों के मनोविनोद का साधन मात्र है पर हमारे देश में दर्शनशास्त्र द्वारा सुचिंतित आध्यात्मिक तथ्यों पर ही भारतीय धर्म की दृढ़ प्रतिस्थापना हुई है। इस प्रकार हमारे धर्म व दर्शन में अपूर्व सामंजस्य दृष्टिगोचर होता है पर ऐसे विचारकों का भी सर्वथा अभाव नहीं है जो स्पष्टतया यह कहते हैं कि भारत में तो दर्शन नाम की कोई बात ही नहीं है। 'पाश्चात्य दर्शन के इतिहास लेखक प्रोफेसर फ्रैंक थिली ने न्यूयार्क से सन् १९१४ में प्रकाशित अपने History of Philosophy नामक ग्रन्थ में स्पष्टतया कहा है—

"A universal history of Philosophy would include the Poilosophies of all peoples. Not "all peoples, however have produced real systems of thought, and the speculation of only a few can be said to have had a history. Many do not rise beyond the mythological stage. Even the theories of oriental peoples, the Hindus, Egyptians, Chinese, consist, in the main, mythological and ethical doctrines, and are not through going systems of thought they are shot through with poetry and faith. We shall, therefore, limit ourselves to the western countries, and the begin with the philosophy of the ancient" Greeks, on whose culture our own civilization in part, rests.'

वस्तुतः इस प्रकार की धारणाएँ भ्रांतिपूर्ण ही हैं अन्यथा स्वयं कई पाश्चात्य विद्वानों ने भारतीय दर्शन की प्राचीनता प्रतिपादित की है और डॉ० मैकडॉनल ने तो

1. For Sankara, Philosophy is an exposition of the eternal nature of reality or the innermost essence of the world. It is Brahma-vidya.

—Radhakishanan, Indian Philosophy Vol. II, P. 527.

ग्रीस में प्रचलित कथाओं के आधार पर यही मत व्यक्त किया है कि थ्लेस, रापीगे, किलस, डिमाक्रीटस एवं अन्य दूसरे विद्वानों ने दर्शन-शास्त्र का अध्ययन करने के लिए पूर्व की यात्रा की थी तथा स्वीडन कांट का भी यही कहना है कि हिन्दू रोम और ग्रीक के दार्शनिकों से बरसों आगे बढ़े हुए थे। इस प्रकार कोलब्रुक ने भी हिन्दुओं को शिक्षक ही कहा है, शिष्य नहीं। इन सभी मतों से भारतीय दर्शन की प्राचीनता भी स्पष्ट हो जाती है तथा सुयोग्य विचारक आचार्य बलदेव उपाध्याय ने भारतीय दर्शन की प्राचीनता प्रतिपादित करते हुए विस्तारपूर्वक कहा भी है, "सत्य के अन्वेषण के प्रति भारत विद्वज्जनों का आग्रह अत्यन्त प्राचीन काल से चला आ रहा है। दार्शनिक प्रवृत्ति का उदय संहिताकाल में ही हो गया था। ऋग्वेद के अत्यन्त प्राचीन युग से ही भारतीय विचारधारा में द्विविध तथा विविध लक्ष्य के दर्शन हमें होते हैं। प्रथम प्रवृत्ति प्रतिभामूलक अथवा प्रज्ञामूलक है, जो प्रतिभा चक्षु के सहारे तत्त्वों के विवेचन करने में समर्थ होती है। द्वितीय प्रवृत्ति तर्कमूलक है जो तार्किक बुद्धि का प्रयोग कर तत्त्वों की समीक्षा करने में कृतकार्य होती है। लक्ष्य भी दो प्रकार के हैं—धर्म का उपार्जन और ब्रह्म का साक्षात्कार। ऋग्वेद के एक महर्षि—प्रजापति प्ररमेष्ठी—प्रतिभज्ञान के बल पर जगत् मूलक के मूल तत्त्व की व्याख्या करते हुए अद्वैत तत्त्व पर आ टिकते हैं। वे कहते हैं कि सृष्टि के आरम्भ में एक ही वस्तु वायु के बिना ही अपनी शक्ति से श्वास लेती थी—आनीदवातंस्वधया तदेकम स्वधया तदेकम (ऋ० १०।१०६।२) तो दूसरे 'संवनन आंगिरस' ऋषि वस्तुतत्त्व को पहचानने के लिए तर्क की उपयोगिता बतला रहे हैं—संगच्छध्वं स वो मनांसि जानताम् (ऋ० १०।१६१।२) =आपस में मिलो, विषय का विवेचन करो तथा एक दूसरे के मत को जानो।" इन उभय प्रवृत्तियों के परस्पर सम्मेलन से उपनिषदों के तत्त्व ज्ञान का जन्म हुआ। 'औपनिषद्तत्त्वज्ञान का पर्यवसान आत्मा तथा परमात्मा के एकीकरण को सिद्ध करने वाले प्रज्ञामूलक वेदान्त में हुआ। साथ-ही-साथ उस काल से तर्कमूलक तत्त्वज्ञान का भी ऊहापोह सुचारु रूप से होता था, जिससे आगे चलकर कालान्तर में अन्य दर्शनों की उत्पत्ति हुई। जगत् के मूल में प्रकृति तथा पुरुष के द्वैत मो मानने वाले सांख्य, समाधि के द्वारा परम तत्त्व की प्राप्त बतलाने वाला योग, परमाणु, जीव तथा ईश्वरादि मौलिक तत्त्वों को मानने वाला बहुत्वादी वैशेषिक तथा प्रमाणशास्त्र की विशद व्याख्या करने वाला न्याय इसी तर्कमूलक प्रवृत्ति के उज्ज्वल दृष्टांत हैं। इन दर्शनों के बीज उपनिषदों में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते हैं। इन्हीं सिद्धांतों का उपयोग कर पीछे के आचार्यों ने अपने मत को प्रामाणिक रूप दिया। उपनिषद् ही भारतीय विचार-धारा के मूल स्रोत हैं। वे ऐसे आध्यात्मिक मानसरोवर हैं जहाँ से भिन्न-भिन्न ज्ञान धाराएँ निकलकर इस भारतभूमि को उर्वरा तथा आप्यायित करती आ रही हैं।"

इस प्रकार भारतीय दर्शन की प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है और हम देखते हैं कि विश्व की अन्य सभी जातियों की तुलना में हमारे देश में दर्शन का उद्गम काफी समय पूर्व हो चुका था। चूंकि वेदों को संसार में सर्वाधिक प्राचीन माना जाता है और वेदों में ही हमारे दर्शन का मूल स्रोत विद्यमान है अतः इससे सहज ही भारतीय दर्शन को सर्वाधिक प्राचीन कहा जा सकता है।

सामान्यतः भारत की दार्शनिक प्रवृत्ति के सर्वप्रथम दर्शन वैदिक युग में ही होते हैं और कालान्तर में हमारी विचारधारा पर कुछ विदेशी विचारकों का भी

प्रभाव पड़ा, पर इस भारतीय विचारधारा में अनेकानेक विदेशीय चिन्तन धाराओं का योग होने पर भी वह मूलतः भारतीय ही रही है तथा भारत का प्रत्येक चिन्तन सम्प्रदाय अपने समय के प्रश्नों का समुचित उत्तर देने में सक्षम भी रहा है। इस प्रकार विचारक भारतीय दर्शन का काल-विभाजन करने का प्रयास भी करते हैं और यह समझते हुए भी कि भारतीय दर्शन का समय विभाजन दोष-रहित न होगा उन्होंने सामान्य रूप से उसका विभाजन इस प्रकार किया है—

१. वैदिक काल (The Vedic Period)—१५०० ई० पू०—६०० ई० पू०।

२. महाकाव्य काल (The Epic Period)—६०० ई० पू०-२०० ई०।

३. सूत्रकाल (The Sutra Period)—२०० ई० से……।

४. आचार्यकाल या वृत्ति काल (The Soholastic Period)—२०० ई० से……।

उक्त काल-विभाजन के पश्चात् विचारक यह भी कहते हैं कि "भारतीय दर्शन का इतिहास विचारों की निरन्तरता और अविच्छिन्नता का इतिहास है जो आदि काल से एक वेगवती धारा के समान बह रहा है और अपने अन्दर विचारों के छोटे-मोटे स्रोतों को भी पचाता चला जा रहा है" अतः उक्त समय विभाजन की उपयुक्तता इससे स्वयं ही बहुत कम जान पड़ती है। भारतीय दर्शन छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग मीमांसा और वेदान्त तथा इनमें से प्रत्येक का मूलग्रंथ सूत्र रूप में उपलब्ध होता है जो किसी एक महान्, प्राचीन विचारक के नाम से सम्बद्ध है, जैसे न्याय सूत्र महर्षि गौतम की रचना है, वैशेषिक सूत्र कणाद की, सांख्य कपिल की, योग पतंजलि की, मीमांसा जैमिनी की और वेदांत बादरायण व्यास की। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भारतीय दर्शन के प्रधानतः दो भेद आस्तिक और नास्तिक नामक माने जाते हैं तथा इन्हीं को ध्यान में रखकर हम यहाँ संक्षेप में भारतीय दर्शन का क्रमिक विकास स्पष्ट करेंगे।

आस्तिक दर्शन

वस्तुतः आस्तिक दर्शन से अभिप्राय वैदिक दर्शन से है और आस्तिक वह है जो वेद में श्रद्धा रखे तथा वेद के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को प्रामाणिक स्वीकार करे। आस्तिक दर्शन मुख्यतः संख्या मे छः हैं—न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा या और उत्तर मीमांसा वेदांत तथा इन सभी का संक्षिप्त-परिचय इस प्रकार है—

न्याय दर्शन—न्याय दर्शन का अध्ययन विक्रम से पूर्व चतुर्थ शतक से लेकर आज तक निरन्तर होता चला जा रहा है अतः उसका साहित्य स्वाभाविक ही अत्यधिक विशाल है। दर्शन की दो धाराएँ प्राचीन न्याय और नव्य न्याय नामक हैं। पहली धारा के प्रवर्तक गौतम कहे जाते हैं और इसमें प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति व निग्रह स्थान नामक सोलह पदार्थों की यथार्थ विवेचना की गयी है तथा इसे 'पदार्थ मीमांसात्मक' कहा जाता है। दूसरी धारा का उदय सर्वप्रथम मिथिला के गंगेश उपाध्याय (१२ वीं शताब्दी विक्रमी) के युगप्रवर्तक ग्रंथ 'तत्व चिन्तामणि' से हुआ और यह धारा 'प्रमाण मीमांसात्मक' कहलाती है तथा इसमें प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान व शब्द प्रमाणों के अंगप्रत्यंग का विस्तृत सूक्ष्म विवेचन किया गया है।

वस्तुतः न्याय दर्शन में उक्त षोडश पदार्थों के यथार्थ ज्ञान के द्वारा निःश्रेयस् का अधिगम मानव जीवन का परम लक्ष्य मानते हुए यही कहा गया है कि दीपक के प्रकाश से जिस प्रकार वस्तुओं का ज्ञान होता है उसी प्रकार ज्ञान के प्रकाश से पदार्थों के वास्तविक रूप का बोध होता है। 'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः' अर्थात् ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं का सर्वमान्य सिद्धान्त स्वीकार करते हुए भी शुद्ध ज्ञान प्राप्ति के साधनों की यथार्थ-मीमांसा न्याय-दर्शन में ही की गयी है। न्याय दर्शन द्वारा प्रस्तुत प्रमाणों व हेत्वाभासों के अत्यंत प्रामाणिक विवरण का उपयोग अन्य दर्शन में भी पर्याप्त मात्रा में करते हैं। साथ ही इस दर्शन में आत्मा का भी सुन्दर विवेचन किया गया है। और आत्मा को शरीर, मन, बुद्धि से पृथक् एक स्वतन्त्र पदार्थ सिद्ध किया गया है तथा ध्यान-धारणादि उपायों के द्वारा आत्मा का साक्षात्कार करना तथा चित्त की सुख-दुख से विरहित साम्यवस्था को प्राप्त करना ही न्याय दर्शन का परम लक्ष्य है।

वैशेषिक दर्शन—जिस प्रकार सांख्य के साथ योग और मीमांसा के साथ वेदांत का नाम लिया जाता है, उसी प्रकार न्याय के साथ वैशेषिक का नाम लिया जाता है। अतः इससे स्पष्ट है कि दोनों मत एक दूसरे के निकट हैं और उनके इस परस्पर सम्बन्ध के ही कारण उन्हें समानतन्त्र (Allied) भी कहा जाता है। यों तो यह दोनों दर्शन न्याय और वैशेषिक बौद्धों के क्षणिकवाद का समान रूप से खंडन करते हैं और सांख्य के विश्वरचना सिद्धान्त की उपेक्षा कर क्षिति, जल, तेज व पवन नामक चार तत्वों को विश्वरचना के लिए उत्तरदायी मानते हैं—तथा जीव का लक्ष्य मोक्ष प्राप्ति मानते हुए कर्मवाद को स्वीकार करते हैं पर दोनों में अनेक विषमताएँ भी हैं अतः दोनों का अपना पृथक्-पृथक् महत्व है सच तो यह है कि वैशेषिक दर्शन में सत्य की मीमांसा भौतिक विज्ञान की दृष्टि सामने रखकर की गयी है। न्याय दर्शन का प्रधान लक्ष्य अंतर्जगत् व ज्ञान की मीमांसा है वहाँ वैशेषिक दर्शन का मूल लक्ष्य बाह्य जगत् की विस्तृत समीक्षा है। इस प्रकार वैशेषिक दर्शन का मूल विषय पदार्थ विचार ही है उसमें पदार्थों को भाव एवम् अभाव नामक दो प्रधान वर्गों में विभाजित कर संसार में उपलब्ध वास्तविक अस्तित्व की वस्तुओं अर्थात् जीवित शरीरधारी वस्तुओं मन व आत्मा आदि को भाव तथा अनस्तित्व वस्तुओं को अभाव माना गया है। वैशेषिक दर्शन में पहले भाव को ही पदार्थ मानकर द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष व समवाय नामक छह पदार्थों के अन्तर्गत ही विश्व की समस्त वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार किया गया। कालांतर में अभाव को भी सातवाँ पदार्थ मान लिया गया। अतः वैशेषिक दर्शन में सात पदार्थ स्वीकृत हो गए।

द्रव्यगुणस्तथा कर्म सामान्यं सविशेषकम्।
समवायोऽभावश्च पदार्था सप्तकीर्तितः॥

वैशेषिक दर्शन में गुणों व कर्मों के आधार को द्रव्य कहा गया और गुण व क्रिया से युक्त द्रव्य को पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा व मन नामक नौ प्रकारों में विभाजित कर उन्हें पुनः सक्रिय द्रव्य तथा निष्क्रिय द्रव्य नामक दो भागों में विभाजित किया गया। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में परमाणु को महत्ता प्रदान करते हुए उसे अविभाज्य, सूक्ष्मतम अवयव हीन और नित्य कहा गया तथा उन्हें विश्व का कारण स्वरूप समझा गया क्योंकि इन्हीं के संयोग से वस्तुओं का निर्माण होता है। द्रव्य

गुण व कर्म के समान धर्मों के योग का नाम सामान्य और वस्तुओं के पारस्परिक वैधर्म्य का ज्ञान विशेष कहा गया है। समवाय व विशेष जैसे नित्य पदार्थों का अन्य पदार्थों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के लिए समवाय नामक नित्य सम्बन्ध की सत्ता भी स्वीकार की गयी। संक्षेप में इस दर्शन के अनुसार निष्काम कर्मों का सम्पादन भी नितान्त आवश्यक है, क्योंकि ऐसे कर्मों का अनुष्ठान तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति करता हुआ मोक्ष की उपलब्धि में परम्परया कारण है। यहाँ यह स्मरणीय है कि वैशेषिक दर्शन अत्यधिक प्राचीन है और उसके प्रवर्त्तक महर्षि कणाद हैं। पर प्रशस्तपाद, व्याम शिवाचार्य, श्रीधराचार्य, वल्लभाचार्य, पद्मनाभ मिश्र, जगदीश भट्टाचार्य, शिवादित्य मिश्र और विश्वनाथ न्याय पंचानन ने इस दर्शन पर भाष्य प्रस्तुत कर उसे पर्याप्त रूप से पुष्ट किया। यों तो प्रारम्भ में न्याय व वैशेषिक स्वतन्त्र दर्शन ही थे पर दशम शतक के पश्चात् दोनों के सिद्धान्तों का समन्वय कर दिया गया।

सांख्य दर्शन—न्याय व वैशेषिक दर्शन की अपेक्षा सांख्य दर्शन अधिक प्राचीन है और इसके सिद्धान्त उपनिषदों में सहज ही उपलब्ध होते हैं तथा यह द्वैत मत का प्रतिपादक होने के कारण प्रकृति व पुरुष को दो मूल तत्त्व मानकर उनके परस्पर सम्बन्ध से जगत् का आविर्भाव स्वीकार करता है। प्रकृति को जड़ और पुरुष को चेतन कहा गया तथा प्रकृति सत्त्व, रज व तम नामक तीन गुणों की साम्यावस्था का परिणाम मानी गयी और इन गुणों में वैषम्य होने पर भिन्न-भिन्न पदार्थों का उद्भव स्वीकार किया गया। साथ ही प्रकृति से महान्, महान् से अहंकार और अहंकार से पाँच तन्मात्राएँ उत्पन्न होती हैं जिनमें पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच महाभूत और एक मन उत्पन्न होकर प्रकृति या उससे निर्मित पदार्थों की संख्या २४ हो जाती है जिससे पुरुष को मिलाकर उनकी संख्या २५ हो जाती है। इस प्रकार तत्त्वों की संख्या के कारण ही यह दर्शन सांख्य कहलाता है।

सांख्य दर्शन सत्कार्यवादी है अर्थात् इसके अनुसार कार्य अपने सार रूप में कारण में पहले से ही विद्यमान रहता है और कार्य व कारण में केवल आकार का ही भेद है अन्यथा तात्त्विक दृष्टि से दोनों अभिन्न हैं। इस प्रकार यह दर्शन कार्य को कोई नवीन पदार्थ न मानकर कारण को ही एक व्यक्त रूप मानता है और उसकी दृष्टि में पुरुष व प्रकृति का विवेक न होने से ही संसार का अस्तित्त्व है। पर दोनों के विवेक की अवस्था में मोक्ष निश्चित है। सांख्य मतानुयायियों ने सत्कार्यवाद के समर्थन में अनेक युक्तियाँ भी दी हैं और 'सांख्य-कारिका' में तो स्पष्टतया कहा गया है—

असदकरणादुपादानग्रहणात् सर्वसम्भवाभावात्।
शक्तस्य शक्य करणात् कारण भावाच्च सत्कार्यम्॥

सांख्य दर्शन के उद्भावक उपनिषत्वकालीन ऋषि कपिल कहे जाते हैं, पर उनके नाम से प्रचलित सांख्य सूत्र विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के पश्चात् का है तथा कपिल के शिष्य 'आसुरि' और आसुरि के शिष्य 'पंचशिख' को आजकल अनुपलब्ध 'षष्टि तन्त्र' की रचना कर सांख्य तन्त्र को व्यापक बनाने का श्रेय प्रदान किया जाता है। इतना होते हुए भी आजकल सांख्य के सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ, ईश्वर कृष्ण द्वारा विक्रम की प्रथम शताब्दी में लिखित सांख्य कारिका है और कालान्तर में इसकी

अनेक व्याख्याएँ भी लिखी गयीं जिनमें आचार्य माठर की 'माठर वृत्ति', गौड़पाद की 'युक्तिदीपिका', वाचस्पति मिश्र की 'तत्त्व कौमुदी' और विज्ञान भिक्षु का 'सांख्य प्रवचन भाष्य' विशेष उल्लेखनीय है।

योग दर्शन—यह हिन्दू जाति का सर्वाधिक प्राचीन व समीचीन दर्शन है और योग शब्द के दो अर्थ मिलन व समाधि नामक माने जाते हैं अत: एक ओर तो भगवान् को प्राप्त करना या उनसे मिलना ही योग है तथा दूसरी ओर सम्यक् प्रकार से भगवान् से मिल जाना ही समाधि का अभिप्राय है। वस्तुत: कामना, वासना, आसक्ति व संस्कारों का त्याग करने पर ही भगवान् से मिलन सम्भव है अत: जीव और ब्रह्म के बीच के स्वजातीय, विजातीय एवम् स्वगत भेद को दूर कर उसमें मिल जाना ही योग है। साथ ही योग के भी दो प्रकार हैं और प्रथम में तो साधक अपनी सत्ता समाप्त करके ईश्वर या ब्रह्म में उसी प्रकार विलीन हो जाता है जैसे सागर की तरंगें अपनी सत्ता समाप्त कर उसी सारग में लीन हो जाती हैं तथा द्वितीय में साधक अपनी कुछ स्वतन्त्र सत्ता भी रखता है और वह पूर्ण रूप से ईश्वर में लय नहीं हो जाता। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि योग दर्शन में योग शब्द का कुछ और ही अर्थ ग्रहण किया जाता है 'योगश्चित्त-वृत्ति निरोध:' के अनुसार उसमें चित्तवृत्तियों का निरोध करना ही योग माना गया है।

योग दर्शन का परम लक्ष्य ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करना है। उसमें ईश्वर प्राप्ति के लिए मन्त्र योग, हठ योग, लय योग व राज योग नामक चार साधनाएँ तथा यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा व समाधि आठ मार्गों का विवेचन किया गया है। इनमें से प्रथम पाँच बहिरंग और अंतिम तीन अंतरंग कहे गए हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि योग दर्शन प्राचीन है और जैनियों व बौद्धों ने भी उसका महत्त्व स्वीकार किया है। नाथपंथ व सिद्ध मत में भी योग को पूर्ण सम्मान प्राप्त है पर उन्होंने योग के विविध प्रकारों में से अपने अनुकूल प्रकार का ही समर्थन किया है। योग दर्शन के प्रवर्तक पतंजलि कहे जाते हैं जिन्होंने विक्रम से दो सौ वर्ष पूर्व अपने सूत्रों में राजयोग का विस्तृत विवेचन किया था पर 'याज्ञवल्क्य स्मृति' के अनुसार 'हिरण्य गर्भ' योग के आद्य प्रकाशक थे तथा पतंजलि ने केवल प्रतिपादित शास्त्र का उपदेश मात्र किया। इसके अतिरिक्त अन्य कई विचारकों ने भी पांतजल दर्शन का भाष्य प्रस्तुत करते हुए योग सम्बन्धी साहित्य प्रस्तुत किया, पर विचारकों का स्पष्टतया यही मत है कि योग दर्शन के ग्रन्थों की संख्या अधिक नहीं है।

मीमांसा दर्शन—इसका प्रधान उद्देश्य वैदिक कर्मकांड के विधानों में दृश्यमान विरोधों का परिहार और वैदिक उक्तियों के अर्थ का निरूपण करना है। श्रुतिकाल में इस ओर ऋषियों की दृष्टि गयी थी जिसका प्रमाण वैदिक संहिताओं में प्रयुक्त 'मीमांसा सते' आदि क्रिया पर व 'मीमांसा' आदि संज्ञापद से मिलता भी है। मीमांसा दर्शन कर्म पर विशेष बल देता है और वेद को अपौरुषेय व नित्य मानता है तथा इसकी साहित्य सम्पत्ति भी विशाल कहीं जाती है। यों तो विक्रम से पाँच-छह सौ वर्ष पूर्व ही महर्षि जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों की रचना की थी और इसमें अन्य सभी दर्शनों के सूत्रों से कहीं अधिक सूत्र हैं। इसी प्रकार महाभाष्य में काशकृत्स्न आचार्य की मीमांसा का उल्लेख भी किया गया है पर वह उपलब्ध नहीं है। विक्रम के तीन सौ वर्ष पश्चात् शबर स्वामी ने 'द्वाधशलक्षणी मीमांसा' पर विस्तृत व प्रामाणिक भाष्य लिखकर

मीमांसा दर्शन को व्यापकता प्रदान की है। इसके अनन्तर शाबर भाष्य के तीन टीकाकारों कुमारिलों भट्ट, प्रभाकर मिश्र व मुरारि मिश्र ने क्रमशः भाट्ट मत, गुरुमत व मुरारिमत नामक तीन विभिन्न सम्प्रदाय चलाये तथा इन तीनों के अन्तर्गत अनेक शिष्य-प्रशिष्यों ने अपने-अपने ग्रन्थ प्रस्तुत किए।

उत्तर मीमांसा या वेदान्त दर्शन—वस्तुतः वेदान्त दर्शन को भारतीय अध्यात्मशास्त्र का मुकुटमणि कहा जाता है और "वेदान्त शब्द का अर्थ है उपनिषद्। इन उपनिषदों को वेदों के सिद्धान्त के प्रतिपादक होने के कारण वेदांत (वेद का अन्त—सिद्धान्त) शब्द से अभिहित करना नितान्त युक्तियुक्त है। उपनिषद् अनेक हैं और उनके सिद्धान्तों में भी आपाततः विरोध प्रतीयमान होता है। इस विरोध के परिहार के लिए महर्षि बादरायण व्यास ने जिन सूत्रों की रचना की उन्हें ब्रह्मसूत्रों के नाम से पुकारते हैं।" ब्रह्मसूत्र पाणिनि से भी प्राचीन माने जाते हैं और उनका निर्माण काल विक्रम पूर्व षष्ठ शतक के लगभग कहा जाता है, तथा इनकी व्याख्या करके कालांतर में वेदान्त के नवीन सम्प्रदाय हुए जिनमें कुछ प्रसिद्ध आचार्यों, उनके भाष्यों और मतों का उल्लेख इस प्रकार किया जाता है।

आचार्य	समय	भाष्य	मत
शंकर	(७०० ई०)	शारीरिक भाष्य	अद्वैत
भास्कर	(१००० ई०)	भास्कर भाष्य	भेदाभेद
रामानुज	(११४० ई०)	श्रीभाष्य	विशिष्टाद्वैत
मध्व	(१२३८ ई०)	पूर्ण प्रज्ञ	द्वैत
निम्बार्क	(१२५० ई०)	वेदांत पारिजात	द्वैताद्वैत
श्रीकंठ	(१२७० ई०)	शैवभाष्य	शैवविशिष्टाद्वैत
श्रीपति	(१४०० ई०)	श्रीकर भाष्य	वीर शैवविशिष्टाद्वैत
वल्लभ	(१५०० ई०)	अणुभाष्य	शुद्धाद्वैत
विज्ञानभिक्षु	(१६०० ई०)	विज्ञानामृत	अविभागद्वैत
बलदेव	(१७२५ ई०)	गोविन्द भाष्य	अचिंत्यभेदाभेद

यद्यपि मूल ब्रह्मसूत्र में लगभग ५०० सूत्र हैं पर प्रायः सभी सूत्र कुछ इतने सूक्ष्म हैं कि बिना किसी भाष्य या व्याख्या के उनका अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता है। अतः आचार्यों ने अपनी-अपनी दृष्टि के अनुकूल इन सूत्रों की विस्तृत व्याख्याएँ लिखी हैं पर इन सभी व्याख्याकारों में सर्वाधिक मत वैभिन्नता का विषय है जीव और ब्रह्म या ईश्वर का सम्बन्ध। इसीलिए वेदांत का साहित्य अत्यधिक विशाल और भव्य है और अद्वैत मत का प्रवर्तक आचार्य शंकर से लेकर अब तक यह विचारधारा परिपुष्ट ही होती रही है।

नास्तिक दर्शन

नास्तिक दर्शन आस्तिक दर्शन के सर्वथा विपरीत हैं और 'नास्तिको वेदनिंदकः' के अनुसार नास्तिक वह है जो वेद का निंदक हो। इस प्रकार वेद को प्रमाण न मानने वाला दर्शन ही नास्तिक दर्शन है और इसके भी चार्वाक, जैन व बौद्ध नामक तीन मुख्य प्रकार कहे जाते हैं, अतः इन तीनों का यहाँ संक्षिप्त विवरण दिया जायगा।

चार्वाक दर्शन—यह दर्शन नितांत भूतवादी या भौतिकवादी है और 'खाओ-पिओ मौज उड़ाओ' नामक सिद्धांत का प्रचार करने के कारण ही इसे 'चार्वाक' संज्ञा प्राप्त हुई। कुछ विचारकों का मत है कि चार्वाक शब्द चारु वाक् से बना है अतः चार्वाक का अर्थ हुआ जो सांसारिक सुख को ही जीवन का अंतिम ध्येय बतलाकर अपनी मधुर वाणी से लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करे। चार्वाक का प्राचीन नाम लोकायत भी है और इससे ऐसा आभास होता है कि यह मत सम्पूर्ण संसार में व्याप्त रहा होगा, पर इसका अर्थ यह भी होता है कि यह मत देश काल में व्याप्त जगत् की सत्ता स्वीकार करता है, लेकिन इस संसार से परे आत्मा, परमात्मा या स्वर्ग-नरक को नहीं मानता है अतः इसका यह नाम पड़ा। 'चार्वाक दर्शन' के मूल सूत्र के रचयिता आचार्य वृहस्पति कहे जाते हैं और ये सूत्र दर्शन ग्रन्थों में उद्धृत किये गये हैं पर पूर्ण ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता। डॉ० राधाकृष्णन ने तो चार्वाक दर्शन को उतना ही प्राचीन माना है जितना स्वयं दर्शन शास्त्र और यह बौद्ध मत के पूर्व भी पाया जाता है—

Materialism is as old Philosophy, and the theory is to be met wilh in the pre-Buddhistic period also.

सामान्यतः चार्वाक दर्शन प्रत्यक्षवादी कहा जाता है और इसके अनुसार जो वस्तु प्रत्यक्ष नहीं उसका कोई अस्तित्व भी नहीं तथा इस जगत् में न तो कोई परमात्मा है और न स्वर्ग या अन्य लोक। इतना ही नहीं इस दर्शन का यह सिद्धांत तो सर्वत्र प्रसिद्ध है कि जब तक जीवित रहो सुख से रहो, ऋण लेकर भी घी पीओ क्योंकि शरीर भस्म होने पर भला जीव का भी कभी पुनरागमन होता है—

यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमन कुतः॥

जैन दर्शन—बौद्ध मत से जैन दर्शन अधिक प्राचीन कहा जाता है और जैन धर्म के प्रथम प्रचारक (तीर्थङ्कर) ऋषभदेव थे तथा जैनियों ने चौबीस तीर्थङ्कर माने हैं जिनमें से अंतिम दो तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ व महावीर निस्संदेह ऐतिहासिक व्यक्ति थे। जैन धर्म के सिद्धांत-ग्रन्थों की संख्या ४५ कही जाती है और जैनियों का दार्शनिक साहित्य भी अत्यन्त विशाल व विद्वत्तापूर्ण है किन्तु जैन दर्शन न तो वैदिक साहित्य को प्रामाणिक मानता है और न धर्म की परिधि में यज्ञ का विरोध करता है।

वस्तुतः जैन दर्शन में उच्च-कोटि के प्रमाण शास्त्र और विशुद्ध व तपोमय जीवन विन्यास की प्रतिस्थापना की गयी है तथा मोक्ष के निम्न तीन साधन माने गए हैं जिन्हें कि रत्नत्रय भी कहा जाता है—

(१) सम्यक् दर्शन—श्रद्धा।

(२) सम्यक् ज्ञान—जीव, अजीव, आस्त्रव, बन्ध, सम्वर, निर्जरा व मोक्ष नामक सात पदार्थों का समुचित ज्ञान।

(३) सम्यक् चरित्र—इसके लिए अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह नामक पाँचों व्रतों का पालन।

जैन धर्म की आचार मीमांसा भी अत्यन्त उपादेय है और प्रकारान्तर से जीव, पुद्गल, आकाश, काल, धर्म व अधर्म नामक है द्रव्यों को स्वीकार किया गया है। एक देशव्यापी द्रव्य काल और बहुप्रदेशव्यापी द्रव्य 'अस्तिकाय' कहे गये। सत्ता धारण

करने के कारण उन्हें अस्ति और शरीर के सदृश विस्तार से समन्वित होने के कारण 'काय' कहा गया। जैनियों की दार्शनिक दृष्टि अनेकान्तवादी कही जाती है अर्थात् वह सत्य को जानने के लिए अनेक दृष्टियों का होना स्वीकार करते हैं और उन सबसे देखने पर ही वह सत्य का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होना संभव मानते हैं। साथ ही जैन दर्शन में सात नये भी स्वीकार किए गए हैं जिन्हें सप्तभंगी नय या स्याद्वाद भी कहा जाता है और अंततोगत्वा मोक्ष ही उसका प्रधान लक्ष्य है।

बौद्ध दर्शन—वस्तुत; ईसा से लगभग ५०० वर्ष पूर्व महात्मा गौतम बुद्ध के द्वारा जिस नए और मौलिक चिंतन की नींव पड़ी, उसी को आगे चलकर बौद्ध धर्म और दर्शन का नाम दिया गया। वास्तव में बुद्ध की संकलित अनुभूतियाँ और जीवन्त सत्य ही इस दर्शन की आधारशिला है। महात्मा बुद्ध के सारे चिन्तन का मूल उनके निजी दु:ख चैतन्य भाव और उसके निदान के लिए की गयी तपस्या के फलस्वरूप उपलब्ध अनुभव है। जनसाधारण के सारे दु:ख और जीवन की नष्टप्राय कल्पना ने बुद्ध को अभिभूत कर लिया था। उनका चिन्तन अथवा उनके अनुभव मात्र उनको व्यक्तिगत संवेदनाओं की उपज नहीं हैं—उनमें सम्पूर्ण लोक जीवन की गहरी प्रेरणा है। इसीलिए उनके उपदेश लोक जीवन की अनुभूतियों का परिचय देते हैं। बुद्ध के व्यावहारिक जीवन की घटनाएँ इस लौकिक जीवन के लिए सदा और सर्वदा उपदेश-स्वरूप हैं। बुद्ध ने कर्म करने पर विशेष बल दिया है क्योंकि व्यावहारिक जीवन का सम्बन्ध सीधे कर्म से है और निर्वाण कर्म का परिणाम है। बुद्ध के व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित होने के नाते उनके उपदेश अधिक प्रभावशाली हुए। वे जो कुछ कर चुके थे वही करने के लिए कहते थे। उनकी कथनी और करनी में अन्तर नहीं था। इसीलिए अधिकांश विचारक गौतम बुद्ध के उपदेशों को मौलिक और व्यावहारिक मानते हैं तथा ओल्डेनबर्ग (Oldenberg) ने तो उनके उपदेशों को व्यावहारिकता स्पष्ट करते हुए कहा भी है—

Buddha does not liberate men, but he teaches them how to liberate themselves as he has liberated himself. Men adhere to his preaching of the truth, not because it comes from him, put becaused aroused by his word, a personal knowledge of what he preaches in arises the light of their minds.

बौद्ध दर्शन के मूलत: चार सम्प्रदाय वैभाषिक, सौत्रांतिक, योगाचार व माध्यमिक नाम के हैं और सत्ता के सिद्धान्त के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत रखने के कारण ही उक्त चार सम्प्रदायों का जन्म हुआ है। इस प्रकार "वैभाषिक लोगों के अनुसार जगत् के समस्त पदार्थ-चाहे वे बाहरी जगत् से सम्बन्ध रखते हों या भीतरी जगत् से सम्बन्धित हों—सब सच्चे हैं और इस बात का पता प्रत्यक्ष के द्वारा लगता है। इसका दूसरा नाम है 'सर्वास्तिवाद'। सौत्रांतिक मत भी बाहरी पदार्थों को सत्य नहीं मानता है। परन्तु प्रत्यक्ष रूप से नहीं, बल्कि अनुमान के द्वारा। योगाचार का दूसरा नाम 'विज्ञानवाद' है, क्योंकि वह विज्ञान अथवा चित्त को ही एकमात्र सत्य मानता है। माध्यमिक का दूसरा नाम है 'शून्यवाद' क्योंकि इस मत में जगत् के समस्त पदार्थ शून्य रूप हैं।" इन चारों मतों के सिद्धान्तों को जानने के लिए निम्नलिखित श्लोक अत्यन्त उपयोगी कहा जाता है—

मुख्यो माध्यमिको विवर्तमखिलं शून्यस्यमेने जगत,
योगाचारमते तु सन्ति मतयस्तासां विवर्तोऽखिलः ।
अर्थोऽस्ति क्षणिकस्तसावनुमितो बुद्धयेति सौत्रांतिकः
प्रत्यक्षं क्षणभंगुरं च सकलं वैभाषिको भाषते ॥

बौद्ध मत का साहित्य भी अत्यन्त विशाल है पर उसका बहुत ही कम अंश अपने मूल रूप में सुरक्षित रह सका है।

उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय दर्शन विश्व का प्राचीनतम दर्शन है और यहाँ यह स्मरणीय है कि उसका प्रभाव केवल स्वदेश तक ही सीमित न रहा बल्कि उसने न केवल सुदूर दक्षिण-पूर्व के देशों को प्रभावित किया अपितु अठारहवीं शताब्दी में वह यूरोपीय विचारकों पर भी अपनी गहरी छाप लगाने में समर्थ रहा है।

●

अध्याय | १२

सूक्ति-साहित्य

प्रश्न (५६)—सूक्ति-साहित्य का क्या अभिप्राय है? प्रमुख सूक्ति संग्रहों का संक्षिप्त परिचय देते हुए संस्कृत साहित्य की दृष्टि से उनका महत्त्व स्पष्ट कीजिए,

परिचय—समीक्षा-ग्रन्थों में सूक्ति साहित्य को सूक्त्यात्मक काव्य, सूक्ति-संगुह और सूक्ति-संदर्भ आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित किया जाता है, पर उनका अभिप्राय एक-साही है। सच तो यह है कि चमत्कारपूर्ण हृदयवेधी उक्तियों के चयन का कार्य संस्कृत में बहुत वर्षों से होता आ रहा है और कीथ ने तो स्पष्टतया स्वीकार किया है कि जीवन और सदाचार (अथवा) नीति से सम्बन्ध रखने वाले सारवत् निरीक्षणों को पद्य में प्रकट करने में भारत ने सदा प्रसन्नता का अनुभव किया है। इस प्रकार के काव्य का प्रारम्भ हमें ऋग्वेद में मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण के एक उपाख्यान में प्रसंगता आश्चर्यप्रद संख्या में नीतिपरक पद सुरक्षित हैं। ऐसे पद्य उपनिषदों और सूत्रों में भी आते हैं, जबकि महाभारत में सूक्त्यात्मक और उपदेशात्मक दोनों प्रकार का विषय बाहुल्येन पाया जाता है। दर्शन, सदाचार, जीवन के लिए व्यावहारिक शिक्षा, युद्ध संचालन के साज अपने व्यापकतम अर्थों में दण्ड नीति (Polity) के नियम—इन विषयों पर अव्यवस्थित रूप में विचारों का ढेर पाठक के के नमक्ष प्रक्षिप्त कर दिया गया है। पतंजलि के महाभाष्य के उपलब्ध साक्ष्य से प्रतीत होता है कि वे ऐसे साहित्य से परिचित थे और पालिपिटक से सम्बन्धित धम्मपद में हम सदाचार सम्बन्धी वचनों का भारत में सर्वश्रेष्ठ संग्रह पाते हैं।[1]

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० २७२

इससे यह स्पष्ट है कि सूक्तियों का प्रणयन संस्कृत साहित्य में बहुत पहले से प्रचलित था और कालान्तर में सूक्तियों का चारु चयन कर उन्हें संग्रह रूप में भी प्रस्तुत किया जाने लगा। इन संग्रह ग्रन्थों में चुने हुए मुक्तक संगृहीत किये जाने लगे, मुक्तकों के यहीं संग्रह सूक्ति साहित्य, सूक्त्यात्मक काव्य, सूक्ति संग्रह और सूक्ति संदर्भ आदि विभिन्न नामों से विभूषित किए जाते हैं। यह तो सहज ही समझा जा सकता है कि सूक्तियों के संग्रहकर्त्ता स्वयं भी काव्य रचना में निपुण होंगे, क्योंकि बिना कवि-हृदय के प्राप्त सूक्तियों का संचयन कार्य मुश्किल ही समझा जाएगा, अतः यह भी संभव है कि इन सूक्ति संग्रहों में अनेक सूक्तियाँ या तो संग्रहकर्त्ताओं द्वारा परिवर्तित किए गए रूप में होंगी या फिर उन संग्रहकर्त्ताओं ने उन्हें स्वयं रच कर उन ग्रन्थों में सम्मिलित कर दिया होगा। सम्भवतः यही कारण है कि सूक्ति साहित्य की प्राचीनता के सम्बन्ध में विद्वान् एक मत नहीं हैं। इसी प्रकार दूसरी महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि सूक्ति साहित्य में प्रायः पाठान्तर भी पाया जाता है और समीक्षकों ने तो उदाहरण देते हुए स्पष्ट कर दिया है कि किसी-किसी सूक्ति के तो पृथक्-पृथक् सत्तरह पाठ तक दीख पड़ते हैं अतः कभी-कभी तो किसी एक निश्चित पाठ का निर्धारण सम्भव भी नहीं प्रतीत होता। इतना होते हुए भी सूक्ति साहित्य की उपयोगिता निर्विवाद रूप से प्रायः सभी विद्वानों ने स्वीकार की है और इसमें कोई सन्देह नहीं कि इन सूक्ति ग्रन्थों की सहायता से ही संस्कृत साहित्य के अनेक ऐसे मान्य कवियों का परिचय पाने में समर्थ हो सके हैं जिनकी रचनाएँ ग्रन्थरूप में उपलब्ध नहीं होतीं और जिनका नाम भी केवल इन्हीं सूक्ति ग्रन्थों की कृपा से ज्ञात हो सका है। यहाँ यह स्मरणीय है कि भोजराज के सभा कवि चित्तप का नाम और उनका पद्य सूक्ति ग्रन्थों की सहायता से ही प्राप्त हो सका है, अतः संस्कृत साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत करते समय तो सूक्ति ग्रन्थों का अध्ययन-अनुशीलन अत्यन्त आवश्यक हो जाता है।

प्रारम्भिक कृतियाँ—विचारक इस सम्बन्ध में एक मत नहीं हैं कि प्रारम्भिक सूक्त्यात्मक काव्य किसे माना जाय और सभी अपनी-अपनी पृथक् सम्मति रखते हैं। यों तो ऋग्वेद, ऐतरेय ब्राह्मण, महाभारत, महाभाष्य और त्रिपिटक से सम्बन्धित धम्मपद में अनेक सूक्तियाँ विद्यमान हैं, पर इन सभी कृतियों को सुक्ति काव्य कहना दुस्साहस ही समझा जाएगा और यह सत्य भी है कि इन्हें सूक्ति काव्य कहा भी नहीं जा सकता। इसी प्रकार कीथ ने सूक्त्यात्मक काव्य परम्परा की चर्चा करते समय राजनीति, समुच्चय, चाणक्य नीति, चाणक्य राजनीति, वृद्ध चाणक्य और लघु चाणक्य नामक कुछ संग्रहों का भी उल्लेख किया है, पर इन्हें भी सूक्ति काव्य नहीं कहा जा सकता।

कीथ ने उक्त ग्रन्थों के पश्चात् पालि के अंगुत्तरनिकाय, जैन स्थानांग, नीति रत्न, नीति सार और नीति प्रदीप नामक सूक्ति संग्रहों का उल्लेख किया है। किन्तु उनका समय अनिश्चित है। इसी प्रसंग में कीथ ने कहा है भर्तृहरि का नीति शतक अधिक महत्वपूर्ण सूक्ति काव्य है। कश्मीर के राजा शंकरवर्मन (८८३-९०२) के राज्य काल में भल्लट ने शतक आदि ग्रन्थों का भी निर्माण किया है और शिल्हण का सूक्ति काव्य भी अपेक्षाकृत मौलिक कम है। यों श्री बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार सबसे प्राचीन सूक्ति ग्रंथ जो आजकल उपलब्ध है—सुभाषित रत्नकोष है। इस संग्रह के कर्त्ता का पता नहीं कि वह कौन था और किस देश का रहने वाला था। जिन कवियों

की कविता का संकलन इस ग्रन्थ में है उनमें से कोई भी एक हजार ईसवी के इधर का नहीं है अतः इसका रचनाकाल ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में माना जाता है। इसमें बौद्ध मानते हैं।

सुभाषितावलि—सुभाषित रत्नकोष के पश्चात् दूसरा सूक्ति काव्य कश्मीर के वल्लभदेव का सुभाषितावलि है जिसे वन्धघटीय सर्वानन्द ने अपनी अमरकोश व्याख्या में उद्धृत किया है पर इसमें अनेक सूक्तियाँ पन्द्रहवीं शताब्दी और उसके कुछ बाद की भी हैं। यों यह सूक्ति संग्रह अत्यन्त विशाल है और इसकी १०१ पद्धतियों में ३५२७ पद्य संकलित हैं तथा कवि और काव्यों की संख्या ३६० है। इस ग्रन्थ में विषय-वैविध्यता स्पष्ट दीख पड़ती है और देवता, ऋतु व प्रेम सम्बन्धी सूक्तियों के साथ-साथ नीति और आचार सम्बन्धी उक्तियाँ भी हैं।

सदुक्ति कर्णामृत—यह ग्रन्थ बंगाल के प्रसिद्ध राजा लक्ष्मणसेन के धर्माध्यक्ष बटुदास के पुत्र श्रीधरदास द्वारा ११४८ ई० (१२०५ वि०) में संकलित किया गया था। इसमें तत्कालीन प्रसिद्ध तथा आजकल नितांत अज्ञात कवियों की उक्तियों का संकलन होने से यह ग्रन्थ विशेष महत्व रखता है। समीक्षक महत्ता और उपादेयता की दृष्टि से इसे अद्वितीय ग्रन्थ मानते हैं तथा विषयों की व्यापकता को देखते हुए भी इसे अद्भुत कहा जा सकता है। यह ग्रन्थ अमर, शृङ्गार, चाटु, उपदेश और उच्चावास नामक पाँच प्रवाहों में विभक्त है तथा प्रत्येक प्रवाह में ४७६ वीचियाँ हैं और प्रत्येक वीचि में पाँच पद्य होने से सम्पूर्ण ग्रन्थ में २३८० श्लोक हैं। साथ ही इस ग्रंथ में ४८५ कवियों की उक्तियाँ संकलित हैं जिनमें से लगभग पचास ही इतिहास ग्रन्थ में उल्लिखित हैं अतः ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से भी यह ग्रन्थ अपना विशेष महत्व रखता है।

सूक्ति मुक्तावली—इसके रचयिता जल्हण कहे जाते हैं और यह अपने पिता लक्ष्मीदेव के सदृश दक्षिण भारत के राजा कृष्ण के मंत्री थे तथा इनका समय तेरहवीं शताब्दी माना जाता है। इस ग्रन्थ में संस्कृत के प्राचीन कवियों के सम्बन्ध में प्रशंसात्मक पद्यों का संकलन पाया जाता है।

शार्ङ्गधर पद्धति—सन् १३६२ ई० में शार्ङ्गधर के पुत्र दामोदर ने इस ग्रन्थ की रचना की थी और इसमें ४६८६ श्लोक १६३ विषयों में विभक्त कर संगृहीत हैं। इसमें कोई संदेह नहीं कि यह सबसे बड़ा सूक्ति संग्रह है और विषय वैविध्यता की दृष्टि से भी उल्लेखनीय है क्योंकि इसमें वैद्यक, नीति आदि अनेक ज्ञातव्य सूक्तियों का चारुचयन किया गया है।

अन्य परवर्ती सूक्ति काव्य—वस्तुतः पन्द्रहवीं शती के बाद भी सूक्तियों का संग्रह होता रहा और बंगाल के रूप गोस्वामी ने कृष्णपरक सुन्दर सूक्तियों का एक संग्रह पद्यावली के नाम से किया, जिसमें राधाकृष्ण की ललित लीलाओं के विषय में अनेक सुन्दर उक्तियाँ संगृहीत हैं। इस छोटे से संग्रह ग्रन्थ में १२५ कवियों के ६६६ पद्य हैं और बंगीय वैष्णव कवियों के साथ-साथ अमरुक व भवभूति आदि प्राचीन कवियों की भी राधाकृष्ण सम्बन्धी उक्तियाँ संकलित हैं।

चौदहवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध में सूर्य कलिंगराय ने सूक्तिहार नामक ग्रंथ संकलित किया, जिसमें अनेक रोचक सूक्तियाँ संगृहीत हैं। इसी प्रकार पन्द्रहवीं शताब्दी के

उत्तरार्द्ध में जोनराज के शिष्य काश्मीर-निवासी श्रीधर ने सुभाषितावली का संकलन किया जिसमें लगभग ३८० कवियों की उक्तियाँ हैं। सत्रहवीं शताब्दी में भी अनेक सूक्ति काव्य प्रस्तुत किए गए जिनमें जगज्जीवन के पुत्र वेणीदत्त का 'पद्यवेणी', लक्ष्मण भट्ट अंकोलकर की पद्य रचना और हरि कवि की 'सुभाषित हारावलि' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

पद्यवेणी में ११४ कवियों की ८८९ सूक्तियाँ संकलित हैं, पर उनमें से २१३ सूक्तियाँ अर्थात् ग्रंथ का एक-चौथाई भाग स्वयं संग्रहकर्त्ता वेणीदत्त का ही रचा हुआ है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि इस ग्रंथ में कुछ स्त्री कवियों की भी रचनाएँ हैं और इसमें मुसलमान बादशाहों के सम्बन्ध से भी प्रशस्तियाँ हैं।

पद्यरचना में पन्द्रह परिच्छेद हैं और ७५६ पद्य संकलित हैं तथा मध्ययुगीन अनेक कवियों के श्लोक विद्यमान हैं। इस संग्रह में देव स्तुति, राजवर्णन, नायिका वर्णन, ऋतु और रस तथा अन्योक्ति आदि के सम्बन्ध में सूक्तियाँ हैं तथा संग्रहकर्त्ता लक्ष्मण भट्ट स्वयं प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इसी प्रकार सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में सुन्दरदेव का सूक्ति सुन्दर भी उल्लेखनीय सूक्ति काव्य है। पर यह आकार में छोटा है। सुन्दरदेव के समकालीन हरिभास्कर ने ३०१ पद्यों की 'पद्यामृत तरंगिणी' प्रस्तुत की जिसमें देव, नृप, रस, अन्योक्ति और प्रशास्त्यादि नामक पांच तरंगें अर्थात् अध्याय हैं। इस ग्रन्थ का ऐतिहासिक महत्त्व भी माना जाता है।

निष्कर्ष—सूक्ति काव्य की उक्त संक्षिप्त रूपरेखा से स्पष्ट हो जाता है कि मध्ययुग में मुसलमान बादशाहों के समय में भी संस्कृत काव्य की धारा सर्वथा सूखने न पाई थी। साथ ही यदि उक्त सूक्ति संग्रह आज उपलब्ध न होते तो अनेक कवियों का नाम भी हमारे लिए विस्मृति का विषय बन गया होता। अतः सूक्ति काव्य साहित्यिक और ऐतिहासिक दोनों ही दृष्टियों से अपना समान महत्त्व रखते हैं।

●

अध्याय | १३

व्याकरण साहित्य

प्रश्न (५७) संस्कृत व्याकरण साहित्य का संक्षिप्त पर सारगर्भित ऐतिहासिक विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

उत्तर—"भाषा और विचारों से तारतम्य के इतिहास को बाँधने वाली विद्या व्याकरण है" तथा "व्याकरण एक शास्त्र है, जिसका अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है और जो कि अपने आप में सर्वाङ्गपूर्ण है।" संस्कृत व्याकरण साहित्य का ऐतिहासिक विवेचन करते समय हमारा ध्यान श्री वाचस्पति गैरोला के इस कथन की ओर जाता है।

"संस्कृत भाषा के व्याकरण की अपनी अलग विधाएँ और चिन्तन के अपने स्वतन्त्र ध्येय हैं। इतने महान् ध्येय और महती विधाएँ संसार की किसी भी भाषा के व्याकरण में देखने को नहीं मिलती हैं। भारतीय वाङ्मय के अध्ययन अनुशीलन से विदित होता है कि ब्रह्मा से लेकर इन्द्रादि देवताओं और ज्ञानवंत ऋषि-महर्षियों के समय तक व्याकरण शास्त्र की विभिन्न विधियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। गांगेय, शाकटायन, शाकल्य आदि भाषा-शास्त्रियों द्वारा प्रवर्तित होकर व्याकरणशास्त्र की यह महान् थाती पाणिनि, कात्यायन और पतंजलि के हाथों में आयी। भाषा का जो बृहद् स्वरूप तत्कालीनभारत की कोटि-कोटि जनता के कंठ में समा चुका था, इस मुनित्रय ने उसको अपनी महान् कृतियों में बाँधा। उनके बाद संस्कृत के सैकड़ों वैयाकरणों ने वार्तिक, वृत्ति, व्याख्या और टीकाओं द्वारा व्याकरण ज्ञान की इस परम्परा को आगे बढ़ाया।"

इससे यह स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण शास्त्र का उदय और उसके विचार की विधियों का सूत्रपात वैदिक युग में ही माना जाना चाहिए तथा वेदों का अनुशीलन करने से सहज ही स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग तक व्याकरण शास्त्र के प्रकृति-प्रत्यय, धातु, उपसर्ग और समासजनित पूर्व पद-उत्तरपद आदि विषयों का विभाग हो चुका था। इतना ही नहीं, वाल्मीकि रामायण की रचना तक ही वैज्ञानिक ढङ्ग से व्याकरण का अध्ययन-अध्यापन भी स्थिर हो चुका था। इस प्रकार व्याकरण शास्त्र का आदिम स्रष्टा और वक्ता ब्रह्मा को ही समझना चाहिए तथा 'ऋक्तंत्र' में लिखा भी है कि व्याकरणशास्त्र के ज्ञान को ब्रह्मा ने बृहस्पति से कहा और वही ज्ञान परम्परा क्रमशः बृहस्पति से इन्द्र, इन्द्र से भारद्वज, भारद्वज से ऋषियों तथा ऋषियों से ब्राह्मणों के पास आयी।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि संस्कृत व्याकरण की सुदीर्घ परम्परा के ऐतिहासिक केन्द्रविन्दु आचार्य पाणिनि ने अपनी 'अष्टाध्यायी' आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाक्ल्य, सेनक और स्फोटायन नामक दस आचार्यों के नाम ही दिए हैं। इस प्रकार यहाँ यह प्रश्न भी उठता है कि पाणिनि से पूर्व कौन-कौन से व्याकरणशास्त्री माने जाने चाहिए। यह समस्या सम्भवतः बहुत दिनों तक अनिर्णीत ही रह जाती यदि श्री युधिष्ठिर मीमांसक और श्री वाचस्पति गैरोला आदि विद्वान् पाणिनि से पूर्ववर्ती संस्कृत व्याकरण साहित्य की परम्परा को दो श्रेणियों में विभाजित करने का प्रयास न करते। अब अधिकांश विद्वान् पाणिनि से पूर्व तेईस वैयाकरणों का होना स्वीकार करते हैं और पहली श्रेणी में तो वह इन्द्र, वायु, भारद्वाज, भागुरि, पौष्करसादि, चारायण, काशकृत्स्न; वैयाघ्रपद, माध्यन्दिनि, रौढ़ि, शौनक, गौतम और व्याडि नामक तेरह आचर्यों का उल्लेख करते हैं। इनका पाणिनि व्याकरण में उल्लेख न होने का कारण यह दिया जाता है कि यह सभी आचार्य पाणिनि से काफी पहले हुए हैं। इसी प्रकार दुसरी श्रेणी में पाणिनि द्वारा उल्लिखित दस आचार्यों का नाम लिया जाता है और उक्त तेईस आचार्यों को संस्कृत व्याकरण साहित्य की प्राचीनतम परम्परा का प्रवर्तक या पिता कहा जा सकता है। भले ही इन आचार्यों में से उनकी रचनाएँ लुप्त हों पर यह तो सहज ही सिद्ध हो जाता है कि उन्होंने व्याकरणशास्त्र का पर्याप्त आलोचन-विवेचन किया होगा और उनके ग्रंथों का गम्भीर अनुशीलन करके ही पाणिनि अष्टाध्यायी जैसी महान् कृति रच सके।

पाणिनि और उनकी अष्टाध्यायी—यह तो प्रायः सर्वविदित ही है कि पाणिनि

संस्कृत व्याकरण साहित्य के प्राणभूत आचार्य हैं और उन्हें सर्वाधिक ख्याति भी प्राप्त हुई है तथा उनके पश्चात् जो भी व्याकरणशास्त्री हुए हैं उन सबसे पाणिनि को अत्यन्त सम्मानपूर्वक स्मरण किया है। पाणिनि के जन्मकाल और जन्म-स्थान के सम्बन्ध में अत्यधिक विवाद है तथा विचारकों ने इस सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् मत व्यक्त किए हैं पर अब अधिकांश विद्वान् उनका जन्मस्थान गांधार में शालातुर (आधुनिक अटक नगर के समीप लाहौर) नामक गाँव में और जन्मकाल सम्भवतः पाँचवीं शताब्दी ईसा पूर्व मानते हैं। पाणिनि के पाणिनि तन्त्र, प्रत्याहार सूत्र, अष्टाध्याय वृत्ति, जाम्बवती विजय (पाताल विजय) और 'द्विरूपाकोश' नामक ग्रन्थ कहे जाते हैं। पर इनमें से अष्टाध्यायी न केवल संस्कृत व्याकरण साहित्य की अपितु भारतीय साहित्य की अमर कृति है।

अष्टाध्यायी में लगभग चार हजार छोटे-छोटे सूत्र हैं जो आठ अध्यायों में विभक्त हैं और उनमें संज्ञा शब्दों तथा परिभाषाओं का (१); रचना (समासरचना) तथा कारक सम्बन्धों में नामों का (२); धातुओं से प्रत्ययों के विधान का (३); और नामों से प्रत्ययों के विधान का (४,५); स्वर का तथा शब्दों की रचना में वर्ण-परिवर्तन का (६७) और वाक्यान्तर्गत शब्द का (८) निरूपण किया गया है। यद्यपि कीथ ने अष्टाध्यायी की आलोचना करते हुए उसका क्रम युक्ति से रहित और अव्यावहारिक भी माना है पर उन्होंने स्वयं ही यह स्वीकार किया है कि 'इस आपत्ति के समाधानार्थ हमें स्मरण रखना चाहिए कि इस ग्रन्थ (अष्टाध्यायी) को पढ़ने वाले इसको कंठस्थ किया करते थे और वे पहले से ही बोलचाल में संस्कृत के प्रयोग के आदी होते थे। ऐसी स्थिति में उन्हें संस्कृत भाषण के सीखने की आवश्यकता न होती थी, उनका लक्ष्य केवल यही होता था कि वे शब्द रूपों में शुद्ध शब्द और अपभ्रंश के भेद को समझ सकें। परन्तु ग्रन्थ के क्रम में पायी जाने वाली असंगति का अंशतः असंदिग्ध रूप से यह भी कारण है कि पाणिनि को केवल परम्परा-प्राप्त सामग्री की एक राशि को अपने ग्रंथ में स्थान देना था, जैसा कि न केवल कारकों के प्रयोग में स्थान देना था, जैसा कि न केवल कारकों के प्रयोग में कुछ व्यतिक्रमों से, अपितु वैदिक प्रयोग को व्यक्त करने के उद्देश्य से छन्दसी, निगमे और मन्त्र इन तीन शब्दों के प्रयोग से भी विदित होता है। उक्त तीनों शब्दों में से, उनके अनुयायियों में प्रथम शब्द अधिक प्रचलित है। उक्त व्याकरण का मूल लक्ष्य **भाषा**, उस समय की जीवित भाषा का, निरूपण करना है, परन्तु उसमें वैदिक व्याकरण के अंश सर्वत्र एक से मूल्य के नहीं हैं, इससे प्रतीत होता है कि उनका आधार ऐसे विशेष अध्ययनों पर है जिनमें परस्पर पूर्णतया सामंजस्य स्थापित नहीं किया गया है, तथा जहाँ **काठक** अथवा **मन्त्रायण** संहिताओं में से छोटी-छोटी बातों को भी दिया गया है, वहाँ अन्य प्रसंगों में वैदिक व्यतिक्रमों का 'बहुलं छन्दसि' के रूप में केवल अस्पष्ट निर्देश ही कर दिया गया है। वैदिक शब्द निपातन-रूप से उद्धृत कर दिये गये हैं, और शब्द रूपों के निर्हेतुक अपवाद वैदिकत्वेन साधु मान लिए गए हैं। इस प्रकार कीथ ने स्वयं पाणिनि की अष्टाध्यायी का महत्व स्वीकार किया है और वह ऐसी सर्वाङ्गीण कृति कही जाती है कि जिसके नियम, निर्देश और निष्पत्तियाँ आगामी सहस्रों वर्षों तक अंतिम प्रमाण के साथ स्वीकार की जाएँगी।

पाणिनी परवर्ती व्याकरण-साहित्य—यद्यपि पाणिनी के पूर्व भी कई वैयाकरण हो चुके थे और हम तेईस आचार्यों का उल्लेख भी कर चुके हैं पर पाणिनि के बाद तो इस विषय पर पर्याप्त मात्रा में साहित्य-निर्माण हुआ। यों भी पाणिनि व्याकरण में कुछ

न्यूनताएँ रह गयी थीं और उन्हें पूर्ण करने की ओर पाणिनि के उत्तरवर्ती अष्टाध्यायी के वार्तिककारों-भाष्यकारों तथा मौलिक ग्रन्थकारों ने ध्यान दिया। यों तो अष्टाध्यायी पर अनेक वैयाकरणों ने वार्तिक लिखे हैं पर नाम कुछ के ही उपलब्ध होते हैं और अधिकतर 'अपरे' व 'अन्य' कहकर ही छोड़ दिया गया है।

सामान्यतः 'महाभाष्य' में सात वैतिककारों के नाम इस प्रकार दिये गये हैं—कात्य या कात्यायन, भारद्वाज, सुनाग, क्रोष्टा, वाडव, व्याघ्रभूति और वैयाघ्रपद। यहाँ भी स्मरणीय है कि इन वार्तिकों पर भी भाष्य लिखे गए हैं, और इतिहासकारों का तो यही मत है कि अकेले कात्यायन के 'वार्तिक पाठ' पर ही कम-से-कम तीन व्याख्याएँ पतंजलि के महाभाष्य से पूर्व लिखी जा चुकी थीं। वह पतंजलि के समय तक वर्त्तमान थीं। इसी प्रकार भारद्वाज, सुनाग आदि के वार्तिक पाठों पर भी अनेक भाष्य लिखे गए, लेकिन अब उनके सम्बन्ध में केवल धुंधली सूचनाएँ मात्र मिलती हैं। इसके अतिरिक्त कुणि, माथुर, श्वोभूति, वररुचि, देवनन्दी, दुर्विनीत, चुल्लिभट्ट, निर्लूरजादिव्य, वामन, विमलमति, भर्तेश्वर, जयन्त भट्ट, अभिनन्द, केशव, इन्दुमित्र, मैत्रेय रक्षित पुरुषोत्तमदेव, सृष्टिधर, शरणदेव, भट्टोजी दीक्षित, अप्यय दीक्षित आदि वृत्तिकार उल्लेखनीय हैं और श्री युधिष्ठिर मीमांसक ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रंथ 'संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास' में अनेक हस्तलिखित वृत्ति ग्रंथों का उल्लेख भी किया है, पर व्याकरण शास्त्र के नवीन युग का निर्माण पतंजलि के 'महाभाष्य' से माना जाता है।

वस्तुतः पतंजलि एक महान् विचारक व मनस्वी थे और श्री वाचस्पति गैरोला के शब्दों में "व्याकरणशास्त्र के इतिहास में नई उपलब्धियों के स्रष्टा एवं नये उपादानों का जन्मदाता पतंजलि एक ऐसा बहुज्ञ मेधावी वैयाकरण हुआ, जिसके कारण ब्रह्मा से लेकर पाणिनि तक की अति दीर्घ व्याकरण-परम्परा अनेक विचारवीथियों में फैलकर अपनी चरमोन्नत अवस्था में पहुंची। पाणिनि और पतंजलि के बीच अनेक वैयाकरण आए और कात्यायन को छोड़ कर कर्त्तव्य निर्वाह का-सा साधारण दायित्व पूरा करके चलते बने, किन्तु पाणिनि की महान् थाती को, उसकी छोड़ी हुई विरासत को पूरी सफलता के साथ आगे बढ़ाने का दुष्कर कार्य किया अकेले पतंजलि ने।"

पतंजलि न केवल वैयाकरण थे, बल्कि उनका सांख्य, योग, न्याय, आयुर्वेद, कोश, रसायन और काव्य आदि विषयों पर भी सम्यक् अधिकार था। साथ ही वह कई ग्रंथों के रचयिता कहे जाते हैं, पर व्याकरण साहित्य की दृष्टि से उसका 'महाभाष्य' उल्लेखनीय है और इसे व्याकरणशास्त्र का विश्वकोश कहा जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि 'महाभाष्य' पर अनेक टीकाएँ लिखी गयीं जिनमें से कुछ तो नष्ट भी हो चुकी हैं और कई तो हस्तलिखित पोथियों के रूप में ही उपलब्ध हैं। इन टीकाओं में से भर्तृहरि, कैयट, ज्येष्ठकलश, मैत्रेयरक्षित, पुरुषोत्तमदेव शेषनारायण, विष्णुमित्र, नीलकण्ठ, शेषविष्णु, शिवरामेन्द्र, सरस्वती, प्रयाग, वेंकटाद्रि, तिरुमलयज्वा, कुमार तनय, राजसिंह, नारायण, सर्वेश्वर दीक्षित और गोगलकृष्ण शास्त्री आदि की कृतियाँ उल्लेखनीय हैं। साथ ही 'महाभाष्य' में पतंजलि ने गोनर्दीय, गणिकापुत्र, नागनाथ, अहिपति, फणिभृन व चूर्णिकाकार आदि कुछ वैयाकरणों का भी उल्लेख किया है अतः इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि यह सभी विद्वान् पतंजलि के समय में विद्यमान होंगे। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'महाभाष्य' पर लिखी गयी टीकाओं में कैयट की 'महाभाष्य प्रदीप' को विद्वानों ने सर्वाधिक सम्मान रूप प्रदान किया है, और उस पर अनेक व्याख्यायें लिखी गई जिनमें चिन्तामणि, नागनाथ, रामचन्द्र,

ईश्वरानन्द, अन्नभट्ट, नारायणशास्त्री, नागेश भट्ट, वैद्यनाथ, पायगुण्डे, मल्लयज्वा, रामसेवक, प्रवर्तकोपाध्याय आदि का कृतित्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा हम देखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी तक कैयट के ग्रन्थ पर अनेक व्याख्याएँ लिखी जा चुकी थी।

इसी प्रसंग में यह भी उल्लेखनीय है कि अष्टाध्यायी के वृत्तिकारों में 'काशिका' के संयुक्त लेखक जयादित्य और वामन का नाम लिया जाता है तथा संस्कृत व्याकरण साहित्य में 'काशिका' का मौलिक महत्त्व स्वीकार किया गया है। संभवतः यही कारण है कि अनेक वैयाकरणों ने उस पर व्याख्याएँ लिखकर उसकी उपयोगिता और लोकप्रियता प्रमाणित की है। इन व्याख्याओं में जिनेन्द्र बुद्धि की 'काशिका विवरण-पंजिका' सर्वाधिक प्राचीन है और इसे 'न्याय से प्रसिद्धि प्राप्त है। साथ ही यह न्यास व्याख्या भी इतनी लोकप्रिय सिद्ध हुई कि उस पर मैत्रेयरक्षित ने तंत्रप्रदीप, मल्लिनाथ ने न्यासोद्योत, महामिश्र ने व्याकरण प्रकाश और रत्नमति आदि ने व्याख्या ग्रंथ लिखे। जिनेन्द्र बुद्धि के पश्चात् काशिका पर इन्दुमित्र ने अनुन्यास, एक अज्ञात विद्वान् ने महान्यास, विद्यासागर मुनि ने प्रक्रिया मंजरी, हरिदत्त मिश्र ने पदमंजरी और उस पर रंगनाथ यज्वा ने मंजरी मकरंद तथा शिवभट्ट ने कुंकुम विलास नामक व्याख्याएँ लिखीं। इनके अतिरिक्त काशिका की दो व्याख्याएँ वृत्तिरत्न और चिकित्सा भी उल्लेखनीय हैं। इससे यह भी स्पष्ट है कि संस्कृत व्याकरण-साहित्य भाष्य, व्याख्या और टीका के रूप में निरन्तर प्रगति करता रहा है तथा सृष्टि के जन्मकाल से लेकर आज तक उसकी महान् परम्परा में कोई व्यतिक्रम नहीं आया।

प्राकृत व्याकरण—सामान्यतः प्राकृत का सर्वप्रथम व्याकरण वररुचि का प्राकृत प्रकाश है और वररुचि का समय पाँच सौ ईसवी पूर्व माना जाता है सातवीं शताब्दी में भामह ने 'प्राकृत प्रकाश' के अंतिम अध्याय को छोड़कर शेष आठ उपाध्यायों पर 'मनोरमा' नामक टीका लिखी और दसवीं शताब्दी में रामपाणि पाद ने 'प्राकृत प्रकाश वृत्ति' नामक टीका का प्रणयन किया। इसी प्रकार बारहवीं शताब्दी में कृष्णलीलांशुक ने 'श्री चिह्न प्रकाश' नामक काव्य ग्रंथ में वररुचि-व्याकरण के उदाहरणों को स्पष्ट किया है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि प्राकृत भाषा का सर्वप्रथम व्याकरण 'प्राकृत सूत्र' कहा जाता है जिसके रचयिता रामायणकार महर्षि वाल्मीकि माने जाते हैं और इस सूत्रग्रन्थ को 'वाल्मीकि सूत्र' भी कहते हैं पर जिस रूप में वह अब उपलब्ध है उसे देख विद्वान् उसे बहुत बाद का ग्रंथ मानते हैं। इस सूत्र ग्रंथ पर चौदहवीं शताब्दी में त्रिविक्रम पंडित ने 'प्राकृत सूत्रवृत्ति' नामक टीका लिखी और अब त्रिविक्रम को ही उक्त सूत्र ग्रंथ का वास्तविक रचयिता मान लिया गया है। इन्होंने 'प्राकृत शब्दानुशासन' नामक ग्रन्थ भी लिखा और आचार्य हेमचन्द्र ने भी प्राकृत व्याकरण पर प्रकाश डाला है। चौदहवीं शताब्दी में सिंहराज ने 'प्राकृत रूपावतार' नामक ग्रंथ लिखा है और इनके अतिरिक्त सोलहवीं शताब्दी में जैनाचार्य श्रुतसागर ने सटीक 'औदार्य चिन्तामणि', शुभचन्द्र ने 'चिन्तामणि', लक्ष्मीधर, ने षड्भाषा चन्द्रिका', चन्द्र पंडित ने 'प्राकृत लक्षण', शेषनाग ने 'प्राकृत व्याकरण सूत्र' तथा उस पर लंकेश्वर ने 'प्राकृत कामधेनु टीका, और सत्रहवीं शताब्दी में रामतर्क वागीश ने 'प्राकृत कल्पतरु' और मार्कण्डेय ने 'प्राकृत सर्वस्व' लिखकर व्याकरणशास्त्र की परम्परा को समृद्ध किया है।

अध्याय | १४

ज्योतिष-साहित्य

प्रश्न (५८)—संस्कृत-ज्योतिष साहित्य का ऐतिहासिक विवरण प्रस्तुत कीजिए।

प्रारम्भिक स्वरूप और काल-विभाजन—वस्तुतः ज्योतिष शास्त्र को षड् वेदांगों में स्थान दिया जाता है और उसका अस्तित्व वेदों तथा वैदिक साहित्य में सर्वत्र विद्यमान है। इसी प्रकार ज्योतिष शास्त्र को पहले गणित और फलित नामक दो रूपों में स्वीकार किया गया, पर बाद में उसे सिद्धांत, संहिता व होरा नामक तीन विभागों में विभाजित करने से वह स्कंध त्रय के नाम से प्रसिद्ध हुआ तथा कालांतर में तो उसका हीरा, गणित, संहिता, प्रश्न एवम् निमित्त नाम पंचरूपात्मक विकास हुआ। इतना ही नहीं अब तो ज्योतिष का मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, पदार्थ विज्ञान, रसायन विज्ञान और चिकित्सा शास्त्र आदि अनेक विषयों तक प्रवेश है।

जैसा कि यहाँ पहले ही स्वीकार किया जा चुका है ज्योतिष अपने रूप में अत्यन्त प्राचीन है और डॉ० शाम शास्त्री ने तो ज्योतिष विषयक चर्चाओं का मूल लगभग वेदों जितना प्राचीन मानते हुए तद्विषयक अनेक उदाहरण भी दिए हैं। निस्संदेह वैदिक साहित्य और ब्राह्मण ग्रन्थों में ज्योतिष-ज्ञान विषयक पर्याप्त सामग्री बिखरी हुई है और छान्दोग्य उपनिषद् की एक कथा में भी ज्योतिष का उल्लेख हुआ है तथा मुण्डकोपनिषद् में ज्योतिष का अध्ययन प्रत्येक ब्रह्म ज्ञान-जिज्ञासु के लिए आवश्यक माना गया है। इसी प्रकार महाभारत, सूत्र साहित्य, निरुक्त व अष्टाध्यायी और प्राचीन जैन साहित्य में भी ज्योतिष का पर्याप्त रूप से उल्लेख मिलने के कारण उसकी प्राचीनता तो असंदिग्ध है। इसीलिए श्री नेमिचन्द्र शास्त्री ने अपने 'भारतीय ज्योतिष' नामक ग्रंथ में ज्योतिष का आविर्भाव मानव जाति के आविर्भाव के साथ स्वीकार करते हुए ज्योतिष शास्त्र को इन छह विभिन्न युगों में विभाजित किया है—

१. अन्धकार युग	आदिकाल से १०००० ई० पू० तक
२. उदयकाल	१००००-५०० ई० पू० तक
३. आदिकाल	५०० ई० पू० से ५०० ई० पू० तक
४. पूर्व मध्यकाल	५०० से १००० ई० तक
५. उत्तर मध्यकाल	१००० से १६०० ई० तक
६. आधुनिक काल	१६०० ई० से अब तक

अब हम यहाँ संक्षेप में इन सबका परिचय देंगे।

अन्धकार युग—वस्तुतः इस युग का सम्पूर्ण ज्योतिष ज्ञान अध्यात्मप्रिय ऋषियों की चिंतनपूर्ण विचारधारा से मिला-जुला है और ज्योतिष शास्त्र एक अस्पष्ट, अप्रधान तथा अस्वतन्त्रावस्था में धर्म व दर्शन के साथ एकाकार था। हम यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना उचित समझते हैं कि इस युग का आधार अनुमानित होते हुए भी असत्य नहीं है।

उदय काल—इस युग में ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् प्रभृति वैदिक साहित्य के प्रधान विषयों में मास, ऋतु, वर्ष, अयन, युग, ग्रह, ग्रहण, नक्षत्र, विलुव, मान, दिन और रात सम्बन्धी चर्चाओं की गणना करनी चाहिए। इसमें कोई संदेह नहीं कि उदय काल में ज्योतिष शास्त्र एक स्वतन्त्र विषय के रूप में अपने मौलिक अस्तित्व को प्रतिस्थापित करते हुए प्रतीत होता है और जैन धर्म के द्वादशांग साहित्य में तो ज्योतिष शास्त्र के विकासमान सिद्धान्तों का स्वरूप दीख पड़ता है। हम यहाँ यह स्वीकार करते हैं कि ५०० ई० पू० तक हमें ज्योतिष शास्त्र की एक प्रामाणिक परम्परा निश्चित करने वाली कोई भी कृति नहीं मिलती पर इतना तो निश्चित है कि इस समय तक ज्योतिष को दूसरे वेदांगों की भाँति मान्यता मिल चुकी थी और त्रिस्कंधात्मक ज्योतिष शास्त्र के प्रवर्तक सूर्य, पितामह, व्यास, वसिष्ठ, अत्रि, पराशर कश्यप, नारद, गर्ग, मरीचि, मनु, अंगिरा, लोमश, पौलस्त्य, च्यवन, यवन, भृगु और शौनक आदि अठारह महर्षियों का उल्लेख भी किया जाता है। यह नामावली 'कश्यप संहिता' में दी गई है पर 'पराशर संहिता' में 'पुलस्त्य' नामक एक अन्य प्राचीन महर्षि का भी उल्लेख है और उसमें यह भी कहा गया है कि सूर्य से मायारुण, ब्रह्मा से नारद, व्यास से वैशम्पायन आदि शिष्य, वशिष्ठ से माण्डव्य एवं वामदेव, पराशर से मैत्रेय तथा इसी प्रकार पुलस्त्य, गर्ग व अत्रि आदि से उनके शिष्यों ने ज्योतिष विद्या की महान्‌पारम्परा को आगे बढ़ाया। यद्यपि आज इन सबकी कृतियाँ उपलब्ध नहीं हैं पर इससे उनका महत्त्व कम नहीं हो जाता और पाणिनि की अष्ठाध्यायी के तीन प्रकरणों में नक्षत्रों का वर्णन देखकर हमें यह मानना पड़ता है कि पाणिनि के समय तक नक्षत्र सम्बन्धी ज्ञान अपनी पराकाष्ठा पर था।

आदिकाल—इस युग में ज्योतिष एक स्वतन्त्र विषय हो गया और उसकी सर्वाङ्गीण प्रगति भी इसी समय हो सकी तथा इस युग में रचित ज्योतिष की कुछ उच्चतम कृतियाँ ऋग् ज्योतिष, यजुः ज्योतिष और अथर्व ज्योतिष उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार प्राकृत भाषा में जैन ज्योतिष की 'सूर्य प्रज्ञप्ति' नामक कृति भी प्राप्त हुई है जिस पर आचार्य मलयगिरि सूरि ने एक संस्कृत टीका लिखी है। साथ ही प्राचीन जैन ज्योतिष के मौलिक ग्रंथों में 'चन्द्र प्रज्ञप्ति' और 'ज्योतिषकरणडक' का नाम भी उल्लेखनाय है। इसी युग में आचार्य लालदेव ने 'रोमक सिद्धान्त' की व्याख्या की और 'पौलिश सिद्धान्त' व 'सूर्य सिद्धान्त' नामक कृतियों का भी निर्माण हुआ। इसके अतिरिक्त आर्य भट्ट प्रथम का 'आर्य भट्टीय' और 'तन्त्र ग्रन्थ' मध्यदेश के राजा वयरसिंह के पुत्र कालकाचार्य के स्फुट रूप में प्राप्त 'विलुप्त संहिता ग्रन्थ' के ज्योतिष विषयक सिद्धान्त, द्वितीय आर्य भट्ट का 'महाआर्यभट्ट सिद्धान्त' विक्रम भट्ट के पुत्र लल्लाचर्य का 'श्रीवृद्धितन्त्र' नामक ग्रहगणित ग्रन्थ और 'रत्नकोश' नामक मुहूर्त ग्रन्थ इस युग की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। साथ ही मुनि सर्वानंदि कृत किसी पुरातन प्राकृत ग्रन्थ के आधार पर लगभग २२३०

श्लोकों का सिंह सूरि का 'लोक विभाग' नामक संस्कृत ग्रंथ तथा दूसरे जैनाचार्य यति वृषभ का गणित सम्बन्धी ग्रंथ 'तिलोयपण्णत्ति' भी उल्लेखनीय रचनाएँ हैं।

पूर्वमध्यकाल—इस युग की महत्त्वपूर्ण देन फलित ज्योतिष है और इसी युग में सिद्धान्त, संहिता व होरा जैसे ज्योतिष के विभिन्न भेदों का निर्माण तथा उनकी बारीकियों पर सूक्ष्म विचार होना भी प्रारम्भ हो गया। साथ ही अंकगणित, बीजगणित व रेखागणित विषयक आश्चर्यकारी सिद्धान्तों के निर्माण का एकमात्र समय भी यही युग था। इस युग की सर्वाधिक उल्लेखनीय विभूति आचार्य वाराहमिहिर थे और वह सुप्रसिद्ध सम्राट विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न माने जाते हैं। वाराहमिहिर का 'वृहज्जातक' अगाध पांडित्य व अद्भुत ज्ञान का प्रतिनिधि ग्रंथ है तथा उनके पुत्र पृथुयथा ने फलित ज्योतिष पर 'षट् पंचाशिका' नामक ग्रंथ लिखकर ज्योतिष साहित्य को समृद्ध किया। इसी युग में आचार्य ब्रह्मगुप्त ने केवल तीस वर्ष की अवस्था में 'ब्रह्मस्फुट सिद्धान्त' नामक ग्रंथ रचकर आसाधारण ख्याति प्राप्त की और ६७ वर्ष की अवस्था में ''खण्डखाधक' नामक ग्रन्थ की रचना की तथा उसके ग्रंथ अरब में क्रमशः 'असिन्द हिन्द' और 'अलअर्कन्द' नाम से विख्यात हैं। इसके अतिरिक्त आचार्य भुंजाल की 'लघुमानस' जैनाचार्य महावीर की 'ज्योतिष पटल' और 'गणित सारसंग्रह,' भट्टोत्पल की 'प्रश्नज्ञान,' चन्द्रसेन का केवल ज्ञान होरा, श्रीपति की पाटी गणित, बीजगणित व सिद्धान्त शेखर, श्रीपतिपद्धति, रत्नावली, रत्नसार और रत्नमाला तथा श्रीधराचार्य की गणित का सार व ज्योतिर्ज्ञान आदि कृतियों ने ज्योतिष साहित्य को समृद्ध किया साथ ही प्राकृत भाषा में आचार्य भट्टवोसरि ने ज्ञानतिलक और पद्मनंदि ने 'जम्बुदीपपण्णत्ति' नामक ज्योतिष ग्रंथ लिखे।

उत्तर मध्यकाल—यह युग ज्योतिशास्त्र की व्याख्या या आलोचना का युग कहा जाता है क्योंकि इस युग में अधिकता व्याख्या ग्रंथों की ही रही है पर मौलिक ग्रन्थों के प्रणयन की ओर भी विद्वानों का ध्यान गया है। इस युग की महान् देन गोलगणित का आविर्भाव और केन्द्राभिकर्षिणी व केन्द्रापसारिणी क्रियात्मक शक्तियों का अनुसंधान प्रमुख है। साथ ही यंत्रों का निर्माण और उनके द्वारा ग्रहवेध निरीक्षण की पद्धतियों पर सर्वप्रथम प्रकाश भी इसी युग में डाला गया तथा गणित ज्योतिष के साथ-साथ जातक, मुहूर्त, सामुद्रिक, ताजिक रमल व प्रश्न आदि फलित ज्योतिष के अंग भी पहली बार इसी युग में निर्मित हुए। इतना ही नहीं यवन संस्कृति के संपर्क से ताजिक और रमल नामक दो विषयों की विशेष उन्नति भी हुई।

इस युग में भास्कराचार्य नामक प्रसिद्ध ज्योतिषाचार्य हुए हैं जिनके कारण भारतीय ज्योतिष को विश्वव्यापी ख्याति और विपुल यश प्राप्त हुआ। भास्कराचार्य सिद्धहस्त कवि थे और 'सिद्धांत शिरोमणि' उनका प्रमुख ग्रंथ है जिसमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों की आलोचना की है। साथ ही 'मुहूर्तचिन्तामणि' की 'पीयूष धारा' टीका में एक फलित विषयक ग्रन्थ का भी पता चलता है पर यह ग्रन्थ अब तक उपलब्ध नहीं हो सका। इसी प्रकार जैनाचार्य दुर्गदेव ने 'अर्द्धकांड' और 'रिट्ठ समुच्चय' जैनाचार्य अभय प्रभुदेव ने 'आरम्भसिद्ध' (व्यवहारचर्या) तथा जैनाचार्य मल्लिषेण ने 'आर्यसद्भाव' नामक ग्रंथों का प्रणयन किया है। साथ ही दक्षिण भारत में नरपति विष्णुवर्धन के राजपंडित राजादित्य ने कन्नड़ भाषा में व्यवहारगणित, क्षेत्रगणित, व्यवहार रत्न

जैनगणित सूत्र टीका, चित्रह सुगे व लीलावती नामक ग्रन्थ लिखे हैं तथा यह सभी उपलब्ध भी हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि मिथिला नरेश लक्ष्मणसेन के पुत्र बल्लारसेन ने अपने राज्याभिषेक के आठ वर्ष पश्चात् 'अद्‌भुत सागर' नामक एक ग्रन्थ रचा जिसमें आठ हजार श्लोक हैं जो कि पूर्ववर्ती प्रसिद्ध ज्योतिषियों के विचारों का संग्रह मात्र है। साथ ही पद्मप्रभु सूरि ने 'भुवन दीपक' नामक एक ग्रन्थ लिखा जो कि आकार में लघु होते हुए भी महत्वपूर्ण है।

इनके अतिरिक्त नरचन्द्र उपाध्याय की 'बेडाजातक वृत्ति', प्रश्नशतक, प्रश्नचतुर्विंशतिका, जन्म समुद्र लग्न विचार, ज्योतिष प्रकाश', अट्ठ कवि का अट्ठ मत, महेन्द्र सूरि की यंत्रराज, केशव की गृह कौतुक, वर्षगृह सिद्ध जातक पद्धति, जातक पद्धति विवृति, ताजित पद्धति, सिद्धान्त वासना पाठ, मुहूर्ततत्व, और गणित दीपिका; आचार्य गणेश दैवज्ञ की तेरह वर्ष की अवस्था में रचित गृहलाघव तथा लघुतिथि चिन्तामणि, वृहद्‌तिथि चिन्तामणि, सिद्धान्त शिरोमणि टीका, लीलावती टीका, विवाह वृन्दावन टीका, मुहूर्ततत्व टीका, श्रद्धादि निर्णय, छन्दार्णव टीका, सुधी रंजनी, तर्जनी यंत्रा, कृष्णजन्माष्टमी निर्णय और होलिका निर्णय आदि कृतियों ने ज्योतिष साहित्य को समृद्ध किया है। इसी युग में नृसिंह दैवज्ञ के पुत्र ढुण्ढिराज ने 'जातकाभरण' नामक वृहद् ग्रन्थ लिखा और नीलकण्ठ दैवज्ञ ने अरबी-फारसी भाषा के ज्योतिष ग्रन्थों के आधार पर 'ताजिक नीलकण्ठी' नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया तथा नीलकण्ठ के अनुज रामदैवज्ञ ने 'मुहूर्तचिन्तामणि' नामक एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रचा है।

उक्त ग्रन्थकारों और टीकाकारों के अतिरिक्त इस युग में शतानन्द, केशवार्क, कालिदास, महादेव, गंगाधर, भक्तिलाभ, हेमतिलक, लक्ष्मीदास, ज्ञानराज, अनन्तदैवज्ञ, दुर्लभराज, हरिभद्रसूरि, विष्णुदैवज्ञ, सूर्यदैवज्ञ, जयदेव, कृष्णदैवज्ञ, रघुनाथ शर्मा, गोविन्द दैवज्ञ, विश्वनाथ, विट्ठल दीक्षित, शिव दैवज्ञ, समन्तभद्र, बलभद्र मिश्र व सोमदैवज्ञ आदि टीका ग्रन्थों द्वारा इस युग का मान बढ़ाया।

आधुनिक काल––यह युग भारतीय ज्योतिष का नवीनीकरण युग कहलाता है क्योंकि इसमें पाश्चात्य ज्योतिष के माध्यम से भारतीय ज्योतिष के सिद्धांतों का वैज्ञानिक विवेचन हुआ है। इस प्रकार इस युग में एक ओर तो प्राचीन ज्योतिष ग्रन्थों पर टीकाएँ लिखी गई और दूसरी ओर पाश्चात्य विज्ञान के सम्पर्क से नवीन प्रयोग भी किए गए। यह युग ज्ञानराज से आरम्भ माना जाता है और ज्ञानराज की प्रमुख कृति 'सिद्धान्त सुन्दर' है, जिस पर उनके पुत्र चिन्तामणि ने एक टीका लिखी है। साथ ही उनके नाम से जातक, साहित्य और संगीत विषयक एक-एक ग्रन्थ लिखे जाने का भी उल्लेख मिलता है तथा उनके दूसरे पुत्र सूर्य ने भास्कराचार्य के बीजगणित पर 'सूर्यप्रकाश' तथा लीलावती पर 'गणितामृत कूपिका' टीका लिखी है। इसके 'अतिरिक्त इनकी बीजगणित, बीज टीका, ताजिक ग्रन्थ, काव्यद्वय, लीलावती टीका, गणित मालती, सिद्धांत शिरोमणि और सिद्धान्त संहित-सारसमुच्चय नामक कृतियों का भी उल्लेख किया जाता है।

इस युग की अन्य उल्लेखनीय कृतियाँ इस प्रकार हैं––श्रीकान्त के पुत्र अनन्त की सुधारस और उस पर ढुण्ढिराज की 'सुधारसकरणचषक' नामक टीका, ढुण्ढिराज की जातकाभरण, ग्रहलाघवोदाहरण, ग्रहकलोपपत्ति, पंचांग फल और कुण्डलकल्पलता, की 'माध्यम ग्रहसिद्धि', अनन्त द्वितीय की जातक पद्धति और महादेव कृत कामधेनु की

टीका, माधव की नीलकंठ पर 'शिशु बोधिनी समाविवेक विवृति' नामक टीका, रघुनाथ की सुबोध मंजरी, कृपाराम की वास्तुचन्द्रिका, दिनकर की खेटकासिद्धि और चन्द्रार्की, श्रीनाथ पंडित की 'ग्रह चिन्तामणि'; विश्वनाथ की गहनार्थ प्रकाशिका, शिद्धान्त शिरोमणि टीका, करणकुतूहल टीका, मकरंद टीका, ग्रहलाघव टीका, पातसारणी टीका, अनन्तसुधारस टीका, रामविनमोदकरण टीका, और पक्षीय टीका, केशवी जातक पद्धति टीका, सोम सिद्धान्त टीका, तिथि चिन्तामणि टीका, चन्द्र मानतन्त्र टीका, वृहज्जातक टीका, श्रीपति पद्धति टीका, वशिष्ठ संहिता टीका और वृहत्संहिता टीका, दिवाकर की जातक मार्गपद्म (पद्मजातक), कमलाकर की सिद्धान्ततत्व विवेक, मुनीश्वर की लीलावती, सिद्धान्त शिरोमणि मरीचि और सिद्धान्त सार्वभौम, नित्यानन्द पण्डित की सर्वसिद्धान्त राज, कृष्ण की करुण कौस्तुभ, रत्नकण्ठ की 'पंचाङ्गकौस्तुभ', दादाभट्ट की सूर्य सिद्धान्त किरणावली, नारायण की होरासारसुधानिधि, नरजातक व्याख्या, गणकप्रिया, स्वर सागर और ताजकसुधानिधि आदि ।

भारतीय ज्योतिष के सम्वन्ध में हमें यह तथ्य भी स्मरण रखना चाहिए कि महाराज सवाई जयसिंह के प्रोत्साहन से भारतीय ज्योतिष में अन्वेषण की नवीन दिशाएँ प्रकाश में आयी है । उन्होंने भारतीय ज्योतिष और तद्विषयक विदेशी ग्रन्थों के तुलनात्मक अनुशीलन द्वारा अनेक भाषाओं व अनेक ज्योतिर्विदों से नवीन सारणियों का निर्माण करवाया तथा 'जिज मुहम्मद शाही' नामक सारणी उनके आदेशानुसार ही निर्मित हुई थी । महाराज जयसिंह ने जयपुर, दिल्ली, उज्जैन, मथुरा और वाराणसी में वेधशालाएँ भी बनवाईं जो कि उनके नाम को हमेशा अमर रखेंगी । इतना ही नहीं, उन्होंने वेध पर भी स्वयं भी एक छोटा-सा ग्रन्थ लिखा था और इस प्रकार हम उन्हें भारतीय ज्योतिष के वैज्ञानिक अध्ययन का आरम्भ करने वाला मान सकते हैं ।

इस दिशा में अन्य उल्लेखनीय प्रयास भी हुए और कई महत्त्वपूर्ण कृतियाँ प्रकाश में आईं जिनमें से उल्लेखीय रचनाएँ इस प्रकार हैं—शंकर की वैष्णवकरण; मणिराम की ग्रहगणित चिन्तामणि, मूला की ब्रह्मसिद्धान्त सार, मथुरानाथ की यन्त्रराजघटना व ज्योतिष सिद्धान्तसार, चिन्तामणि दीक्षित की सूर्यसिद्धान्त की सारणी और गोलानन्द, राघव पण्डित की खेट कृति, पंचांगार्क (सटीक) व पद्धति चन्द्रिका, शिव की तिथि पारिजात, दिनकर की ग्रहविज्ञान सारिणी, मास प्रवेश सारिणी, लग्न सारिणी, क्रान्ति सारिणी, चन्द्रोदयांकजाल, दृक्कर्मसारिणी, ग्रहणांकजाल, पातसारिणी टीका और यन्त्र चिन्तामणि टीका, यज्ञेश्व या बावा जोशी रोड़े की यत्रराजवासना टीका, गोलानन्द अनुक्रमणिका, मणिक्रान्त टीका, नृसिंह या बापूदेव शास्त्री की रेखागणित (प्रथमाध्याय), त्रिकोणमिति, शायणवाद, प्राचीन ज्योतिषाचार्याश वर्णन, अष्टादश विचित्र प्रश्न संग्रह, तत्त्वविवेक परीक्षा, मानमन्दिरस्थ यन्त्रवर्णन व अंकगणित' नामक संस्कृत ग्रन्थ और अंकगणित, बीजगणित, फलित विचार व सार्वनावादानुसार नामक हिन्दी ग्रन्थ । इतना ही नहीं बापूदेव शास्त्री ने विल्किन साहब के सहयोग से 'सिद्धान्तशिरोमणि' के गोलाध्याय का अंग्रेजी अनुवाद किया और स्वयं स्वतन्त्र रूप से 'सूर्यसिद्धान्त' का अंग्रेजी अनुवाद कर विदेशों में भारतीय ज्योतिष का प्रसार किया है ।

यहाँ यह स्मरणीय है कि भारतीय ज्योतिष हमारे देश के किसी एक प्रदेश विशेष तक ही सीमित नहीं रहा बल्कि सभी प्रान्तों में उसकी समृद्धि की ओर ध्यान दिया

गया। इस प्रकार मैथिल ब्राह्मण नीलाम्बर शर्मा ने यूरोपीय पद्धति पर 'गोल प्रकाश' नामक संस्कृत ग्रन्थ लिखा और महाराष्ट्र के प्रसिद्ध विद्वान् विनायक ने फ्रांसीसी व अंग्रेजी ग्रन्थों के आधार पर मराठी में 'ग्रहसाधन कोष्ठक' ग्रन्थ की रचना की तथा दूसरे महाराष्ट्री विद्वान् विसाजी रघुनाथ लेले ने ज्योतिष विषयक अनेक स्फुट निबन्ध लिखे हैं साथ ही तमिलवासी आचार्य चिन्तामणि रघुनाथ ने तमिल भाषा में 'ज्योतिष चिन्तामणि' ग्रन्थ लिखा है और उड़ीसा के चन्द्रशेखर सिंह ने अपने स्वतन्त्र अध्ययन के बल पर 'सिद्धान्त दर्पण' नामक पुस्तक की रचना की तथा उनके बनाये हुए पंचांगों का आज भी उड़ीसा में बड़ा प्रचार है।

भारतीय ज्योतिष का इतिहास—विशेषतया मराठी साहित्य के इतिहास में आधुनिक युग की जो थोड़ी-सी विभूतियाँ उल्लेखनीय कही जाती हैं उनमें श्री शंकर बालकृष्ण दीक्षित का नाम उल्लेखनीय है। यों तो उन्होंने मराठी में बुद्धिवर्द्धिनी, सृष्टि चमत्कार, ज्योतिर्विलास, धर्म मीमांसा नामक ग्रन्थ लिखे हैं पर उनके पांडित्य को प्रकाशित करने और उनकी कीर्ति को सर्वदा अमर बनाये रखने वाला उनका ग्रन्थ 'भारतीय ज्योतिषशास्त्रच्या त्रोटक इतिहास' है। इस ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद श्री शिवनाथ झारखंडी ने किया और वह उत्तरप्रदेश सरकार की हिन्दी समिति द्वारा प्रकाशित हो चुका है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि भारतीय ज्योतिष और भारतीय इतिहास के गम्भीर अध्येताओं के लिए दीक्षित जी का ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी है। इसी प्रकार एक अन्य महाराष्ट्रीय विद्वान् वेंकटेश बापूजी केतकर की ज्योतिर्गणित, केतकी ग्रहगणित, वैजन्ती परिशिष्ट सौरार्य ब्रह्म पक्षीय तिथि गणितम्, केतकीवासना भाष्यम्, शास्त्र-युद्ध पंचाङ्ग अयनांश निर्णय, भूमण्डलीय सूर्यग्रहगणित नामक संस्कृत ग्रन्थ और नक्षत्र विज्ञान, ग्रहगणितम्, गोलद्वय प्रश्न व भूमण्डलयीय गणित नामक मराठी ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं।

यहाँ हमें लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक का नाम भी सर्वदा स्मरण रखना चाहिए और हम यह न भूलें कि उनकी ख्याति भारत में ही नहीं विदेशों में भी है। तिलक वेद, वेदांग, दर्शन, ज्योतिष, इतिहास और संस्कृत के गम्भीर विद्वान् थे तथा ज्योतिष विषयक उनका ग्रन्थ 'ओरायन' सर्वत्र प्रसिद्ध है। इसी प्रकार महाराष्ट्र के विनायक पांडुरंग, खानापुर कर ने वैनयकीय द्वादशाध्यायी, कुंडसार, अर्धकांड और सिद्धान्तसार नामक संस्कृत तथा भास्करीय लीलावती, बीजगणित व गोलाध्याय नामक मराठी ग्रन्थ लिखकर ज्योतिष साहित्य को समृद्ध बनाया।

यहाँ महामहोपाध्याय पंडित सुधारक द्विवेदी का नाम उल्लेखनीय है जिन्होंने भारतीय ज्योतिष की वैज्ञानिक विधियों को प्रकाश में लाने और उनके अध्ययन की नवीन परिपाटियाँ सुझाईं। उन्होंने ज्योतिष पर मौलिक, भाष्य, टीकाएँ व इतिहास आदि अनेक विषयों के लगभग बीस-बाईस ग्रन्थ लिखे। भारतीय ज्योतिष के अन्य आधुनिक विद्वानों में एल० डी० स्वामी कन्नू पिल्लई, छोटेलाल, दुर्गाप्रसाद द्विवेदी, दीनानाथ शास्त्री चूटैल, गोविन्द सदाशिव आप्टे और डॉ० गोरखप्रसाद विशेष उल्लेखनीय हैं। साथ ही भारतीय ज्योतिष का पाश्चात्य विज्ञान की चरमोन्नत पद्धतियों को दृष्टि में रख, आधुनिकतम अध्ययन प्रस्तुत करने वाले भारतीय विद्वानों में डॉ० मेघनाथ साहा, डॉ० विभूति भूषणदत्त, प्रो० एस० चन्द्रशेखर, डॉ० चन्द्रिका-

प्रसाद, डॉ० हरिकेशवसेन, डॉ० रामसिंह कुशवाहा, श्री निर्मलचन्द्र लाहरी, डॉ० दफ्तरी और डॉ० अवधेशनारायण सिंह का नाम विशेष रूप से लिया जाता है।

उपसंहार——इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय ज्योतिष की परम्परा वैदिक युग से लेकर आज तक अक्षुण्ण रूप में विद्यमान है और आज भी हमारे देश में ज्योतिष का अध्ययन-अध्यापन विशाल पैमाने पर प्रचलित है तथा उसकी नवीन पद्धतियों पर भी विचार किया जा रहा है।

अध्याय | १५

काव्यशास्त्र

प्रश्न (५६) काव्य-शास्त्र का इतिहास संक्षेप में लिखिए।

प्रश्न (६०) संस्कृत काव्य-शास्त्र की परम्परा का विवेचन कीजिए।

उत्तर——संस्कृत में साहित्य एवं काव्य समानार्थक होने के कारण संस्कृत के लक्षण ग्रन्थों में अलंकारशास्त्र, साहित्यशास्त्र, रीतिशास्त्र, काव्यशास्त्र आदि शब्द प्रायः एक ही विषय के लिए प्रयुक्त हुए हैं। किन्तु रीति विषयक ग्रन्थों के विकास के बाद इस दृष्टिकोण में पर्याप्त अन्तर मिलने लगता है। परिणामस्वरूप रीति एवं अलंकार, साहित्य, काव्य आदि का स्वतन्त्र एवं भिन्न अस्तित्व भी।

भारतीय काव्य-शास्त्र जिसे 'साहित्य विधा' या 'क्रियाकल्प' के नाम से भी अभिहित किया जाता रहा है, प्राचीन आचार्यों ने उसे सदा अलंकारशास्त्र या काव्य-लङ्कार का नाम प्रदान किया है। किन्तु काव्यशास्त्र का विकसनशील स्वरूप 'अलंकार' शब्द में पूर्णतः समाहित न हो सकने के कारण अपना दूसरा नाम साहित्य-शास्त्र प्राप्त करता है। लेकिन साहित्यशास्त्र नाम भी उपयुक्त सिद्ध न हो सका, क्योंकि साहित्य एक शास्त्र विशेष न होकर ज्ञान राशि के संचित कोश का नाम है अथवा अनेक शास्त्रों एवं अनेक विचारों का समन्वित रूप है। काव्यशास्त्र के उदयकाल में काव्य के सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले शास्त्र का नाम काव्यालंकार भी रहा है। इसीलिए प्रारम्भिक समग्र काव्यशास्त्रविषयक ग्रन्थों के नाम काव्यालंकार रखे जाते थे। जैसे भामह का कारिकात्मक ग्रन्थ 'काव्यालंकार', वामन का 'काव्यलंकार सूत्र'। किन्तु काव्य-सौन्दर्य की परीक्षा करने वाले इन ग्रन्थों में केवल अलंकारों का ही विवेचन नहीं था, अलंकारों के अतिरिक्त गुण, दोष, रीति, रस, काव्यलक्षण, काव्य विवेचन आदि सभी इन ग्रन्थों के विषय थे। इसलिए काव्य विषयक आलोचनात्मक इन ग्रन्थों को काव्यशास्त्र नाम प्रदान किया गया जो कहीं अधिक समीचीन एवं वैज्ञानिक है। "संस्कृत साहित्य के काव्य या कविता के अंग की विधि व्यवस्थाओं का विवेचन, समीक्षण करने वाला शास्त्र ही

काव्यशास्त्र है। उसमें हमें काव्य का स्वरूप, लक्षण, स्वभाव, प्रवृत्ति और उसकी विभिन्न समस्याओं एवं विचार विभेदों का वैज्ञानिक निरूपण देखने को मिलता है। वस्तुतः काव्य की विविध पद्धतियों की समालोचना, समीक्षा और उसके मूल स्वरूप का प्रतिपादन करना काव्यशास्त्र का प्रधान कार्य है।"[1]

पाश्चात्य आलोचना साहित्य में काव्य-शास्त्र और अलंकार-शास्त्र को भिन्न-भिन्न स्वीकार किया है। वे भावाभिव्यंजन की पद्धति पर विचार-विमर्श करने वाले शास्त्र को शैली शास्त्र (Stylistics) के नाम से अभिहित करते हैं तथा साहित्य के गद्य-पद्य भेद के आधार पर गद्यशैली के प्रतिपादन शास्त्र को अलंकार शास्त्र (Rhetoric) तथा पद्यशैली का विचार करने वाले शास्त्र को काव्यशास्त्र (Poetics) नाम से पुकारते हैं।[2]

काव्य-शास्त्र की प्राचीन परम्परा—मानव ने जिस दिन से कवि रूप प्राप्त किया उसी दिन से वह भावुक आलोचक भी बन बैठा क्योंकि प्रतिभा दो प्रकार की होती है एक कारयित्री, दूसरी भावयित्री। कवि स्वयं भी अपनी कविता का पर्यालोचन करता है, इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। और तो और भावुक आलोचक भी कविता का पूर्ण रसास्वादन कवि रूप में बैठकर ही कर पाता है इस प्रकार से कवि एवं भावुक की स्थिति समान है। वैदिक ऋषि ही हमारे प्रथम कवि हैं और वे ही प्रथम भावुक आलोचक भी। वैदिक ऋषि ने ही उस काव्य वाणी के सौन्दर्य का अनुसन्धान किया था जो कि सहृदय पाठक के सम्मुख अपने सौन्दर्य को व्यक्त कर देती है। वह असहृदय व्यक्ति के हाथों में अपने को समर्पित नहीं करती क्योंकि असहृदय व्यक्ति उसे देखते हुए भी अन्धा बना रहता है, सुनते हुए भी बहरा रहता है।[4] इस प्रकार वैदिक ऋषि ने स्वयं ही काव्यालोचन का प्रारम्भ कर दिया था, वह स्वयं ही सर्वप्रथम काव्यास्वाद करने वाला बनता है। यहीं से काव्यालोचन का प्रारम्भ हो जाता है। ऋग्वैदिक अन्यान्य मन्त्रों में उपमा,[5] अतिशयोक्ति,[6] व्यतिरेक,[7] श्लेष[8] और रूपक[9] आदि अलंकारों के दर्शन होते हैं। उपनिषद् साहित्य में भी रूपकातिशयोक्ति

---

१. डॉ० भगीरथ मिश्र : 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास', पृ० ४-५।

२. जी० एम० गेले : 'मेथड्स एण्ड मैटिरियल्स फॉर लिटरेरी क्रिटिसिज्म', पृ० २४५-२४७।

३. सा (प्रतिभा) च द्विधा कारयित्री भावयित्री च। कवेरूपकुर्वाणा कारयित्री ....भावकस्योपकुर्वाणा भावयित्री...कः पुनरनयोर्भेदो यत्कविर्भावयति भाव-कश्च कविः इत्याचार्याः।
(राजशेखर काव्यमीमांसा; पृ० २९, ३१; बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्)

४. उत्सवः पश्यन्न ददर्शवाचमुतत्त्वः शृण्वन्नः शृणोत्येनाम्।
उतोत्वस्मै तत्त्वं विस।

५. ऋग्वेद, १।१२४।७, १०।७५।४, ५।८०।५,

६. ऋग्वेद, १।१६४।२०, ४।५८।३,

७. ऋग्वेद, १।१६४।११,

८. ऋग्वेद, १०।६९।१०,

९. ऋग्वेद, ३।५४।१३, ५।४१।११,

अलंकार के संकेत विभिन्न मन्त्रों में मिल जाते हैं।[1] अलंकारों के अतिरिक्त रस एवं छन्द विषयक वैदिक ऋषियों की जानकारी का भी पता चलता है। दाशराज्ञ सूक्त में युद्ध का सुन्दरतम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जहाँ हमें इन्द्रस्तुति प्रसंग में वीररस[2] के दर्शन हो जाते हैं। इसी प्रकार विभिन्न ऋग्वैदिक सूक्तों में शृङ्गार रस की मधुर अभिव्यक्ति सी मिलती है। पुरूरवा-उर्वशी सम्वाद विप्रलम्भ शृंगार का[3] मनमोहक रूप है। यम-यमी सम्वाद भी कुछ इसी प्रकार का है। यक्षसूक्त में जुआरी का करुण विलाप करुण रस की ओर संकेत करता है तो हास्य रस का भी उस सूक्त में अभाव नहीं है। समग्र ऋग्वेद छन्दोबद्ध है। इस प्रकार हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि वैदिक कविता के साथ-साथ वैदिक कवि की दृष्टि काव्य-शास्त्रीय तत्त्वों की ओर भी रही थी।

वेदों के उपरान्त यास्क का निरुक्त कुछ स्पष्ट रूप में हमें काव्य-शास्त्र विषयक संकेत प्रदान करता है। यास्क के निरुक्त में उपमा अलंकार का संकेत भूतोपमा, रूपोपमा, सिद्धोपमा, लुप्तोपमा आदि के नाम से किया गया है।[4] यही नहीं उसने तो उपमा अलंकार का लक्षण किसी पूर्ववर्ती गार्ग्य नामक आचार्य नाम से उद्धृत भी किया है।[5] इससे यह सुनिश्चित हो जाता है कि यास्क (७०० ई० पू०) से पूर्व भी काव्य-शास्त्र विषयक मान्यतायें स्थापित की जा रही थीं। कुछ मान्यतायें स्थापित की जा चुकी थीं, जिनका संकेत विभिन्न ग्रन्थों में मिलता है। सोमेश्वर कवि ने अपने 'साहित्य-कल्पद्रुम' ग्रन्थ के 'यथासंख्यालंकार प्रकरण में भागुरी का एक काव्यशास्त्र विषयक मत उद्धृत किया है।[6] आचार्य अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में भागुरी का एक रस विषयक मन्तव्य दिया है।[7]......यह भागुरी वैयाकरण भागुरी ही था जिसकी गणना वायु, भरद्वाज, चाणक्य आदि पुरातन महर्षियों[8] की कोटि में की गई है।[9] वैयाकरण पाणिनि (५०० ई० पू०) ने अपनी अष्टाध्यायी में उपमा शब्द का पारिभाषिक प्रयोग करने के साथ-साथ उपमित, उपमान एवं सामान्य[10] आदि धर्मों का भी संकेत किया है। रामायण, महाभारत, कालिदास, भास आदि के ग्रन्थों में भी काव्यशास्त्र विषयक अनेक

---

१. कठोपनिषद् १।३।३ श्वेताश्वरोपनिषद्, ४।५,

२. ऋग्वेद, १।१५१।६, २।१।६,

३. ऋग्वेद, १०।९५।३, १०।१०।७,

४. यास्क निरुक्त, ३।१३।१८

५. अथातो उपमा यद् अतद् तत् सदृशमिति गार्ग्यः। (निरुक्त ३।१३)

६. 'साहित्य कल्पद्रुमः' राजकीय पुस्तकालय मद्रास का हस्तलिलित ग्रन्थों का सूचीपत्र, भाग १, खण्ड १, पृ० २८९५, ग्रन्थांक २१२६।

७. ध्वन्यालोक लोचन, तृतीय उद्योत्, पृ० ३८६।

८. मीमांसक : संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास, पृ० ७०।

९. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९४१-४२।

१०. तुल्यार्थैरतुल्योपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्। पा० सू० २।३।६२।
उपमानानि सामान्य वचनैः। पा० सू० २-१-५५।
उपमितं व्याघ्रादिभिसामान्यप्रयोगे। पा० सू० २।१।५६।

तथ्यों की सत्ता मिलती है। द्वितीय शतक के जूनागढ़ स्थित रुद्रदामन के शिलालेख में काव्य-शास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग मिलता है।[१]

काव्यशास्त्र की उपलब्ध परम्परा की सर्वाङ्गपूर्ण निश्चित सूचनायें हमें इस काल तक के किसी भी ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होती हैं। उपर्युक्त प्रसङ्गों के आधार पर हम यह अनुमान अवश्य ही कर सकते हैं कि काव्यशास्त्र का उदय अवश्य ही हो चुका था। राजशेखर के काव्यशास्त्र की उत्पत्ति का सम्बद्ध नटराज शंकर से जोड़ा है। शारदातनय ने अपने 'भावप्रकाशन' नामक ग्रन्थ में नाट्यशास्त्र पर रचित योगमाला ग्रन्थ को भगवान् शंकर से सम्बद्ध कर 'योगमाला' के द्वारा भगवान् शंकर ने विवस्वान् को ताण्डव, लास्य, नृत्त और नर्तन का उपदेश दिया था, ऐसा संकेत किया है।[२] राजशेखर के अनुसार शंकर ब्रह्मा को सर्वप्रथम काव्यशास्त्र का उपदेश दिया था तथा ब्रह्मा ने अपने मानसजात अठारह शिष्यों को यह ज्ञान प्रदान किया। उन मानस शिष्यों ने सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को अठारह भागों में विभक्त कर प्रत्येक भाग पर एक-एक ग्रन्थ लिखा है।[३] इन दोनों ही आचार्यों द्वारा प्रदत्त नामावली से बहुत से नाम तथा उनकी सत्ता प्रामाणिक नहीं है। किन्तु 'भावप्रकाशन' में नारदमुनि का नाम आया है और आज बड़ौदा से प्रकाशित 'नारद संगीत' नामक ग्रन्थ संभवतः उन्हीं का है। इसी प्रकार राजशेखर द्वारा प्रदत्त नामावली मात्र कवि की कल्पना ही नहीं है।[४] क्योंकि इस सूची में भरत तथा नन्दिकेश्वर के भी नाम हैं, जिनके ग्रन्थ आज प्राप्त एवं प्रकाशित भी हैं, फिर अन्य नामों के ऊपर अविश्वास करना संगत नहीं है। भरतमुनि के नाट्यशास्त्र में भी सुवर्णनाभ, कुचमार आदि प्राचीन राजशेखर द्वारा संकेतित आचार्यों के नाम मिलते हैं।[५] इन नामों की पुष्टि वात्स्यायन के कामशास्त्र से भी होती है।[६] भरत ने स्वय भी अपने ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में कोहल, वास्त्य; शाण्डिल्य तथा धूर्तिल नामक आचार्यों का उल्लेख किया है।[७] अभिनव गुप्त ने भी अपनी अभिनव भारती में एक स्थान पर लिखा है कि नाट्यशास्त्र की कुछ आर्यायें पूर्वाचार्यों की हैं जिन्हें भरत ने

---

१. 'स्फुटलघुमधुरचित्रकान्तशब्दासमयोदारलंकृत गद्य गद्य।''

—रुद्रदामन का शिलालेख

२. भाव प्रकाशन, द्वितीय अधिकरण, पृ० ४५।

३. तत्र कविरहस्यं सहस्त्राक्षः समाम्नासीत् औक्तिकमुक्तिगर्भः, रीतिनिर्णयं सुवर्णनाभः आनुप्रासिकं प्रचेताः, यमोयमकानि, चित्रं चित्राङ्गदः, शब्दश्लेषं शेषः वास्तवं पुलस्त्यः, औपम्यपमौककायनः, अतिशयं पाराशरः, अर्थश्लेष-मुतथ्यः, उभयालङ्कारिकं कुबेरः, वैनोदिकं कामदेवः, रूपकानिरूपणीयं भरतः, रसाधिकारिकं नन्दिकेश्वरः, दोषाधिकरणं धिषणः, गुणौपादानि-कमुपमन्युः, औपनिषदिकं कुचमारः इति।

(काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, अ० १, पृ० ३-४।)

४. एस० के० डे : हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स', प्रथम भाग।

५. नाट्यशास्त्र, ६/१३०; ६।१४४, ८।१६६।

६. कामसूत्र, १।१।१३; १।१।१७।

७. कोहलादिभरतैर्वा वास्त्य शाण्डिल्य धूर्त्तिलैः।
एतच्छास्त्रं प्रयुक्तन्तु नराणां बुद्धिवर्धनम्॥

अपने ग्रन्थ में समाविष्ट कर लिया है।[१] इसी प्रकार के कुछ अन्य तुम्बक, चारायण, सदाशिव, पद्मभू, दौहिणी, व्यास, आजमेय, कत्यायन, राहुल, शक्तिगर्भ, घण्टक आदि आचार्यों का नामोल्लेख भावप्रकाशन, नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती आदि ग्रन्थों में मिलते हैं। इन सभी प्राप्त मानों के आधार पर इतना तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि ईसापूर्व प्रथम शातब्दी में काव्य-शास्त्र पर अनेक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। भले ही ये ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं किन्तु इनकी सत्ता के प्रमाण प्राचीन ग्रन्थों में देखने को मिलते हैं।''[२]

वैदिक काल से लेकर ईसापूर्व ५०० वर्ष पाणिनि मुनि के काल तक काव्यशास्त्र विषयक पर्याप्त अध्ययन-अध्यापन हुआ है; इसके संकेत मिलते हैं। किन्तु प्रामाणिक शास्त्रीय निरूपण हमें भरत के नाट्यशास्त्र तथा इन्हीं के समसामयिक नन्दिकेश्वर के अभिनय दर्पण में मिलता है। कुछ समय पूर्व भरत एवं नन्दिकेश्वर एक ही व्यक्ति के रूप में मान्यता प्राप्त थे, किन्तु अभिनय दर्पण[३] नामक ग्रन्थ के प्रकाशित होने के उपरान्त यह धारणा पूर्णतः परिवर्तित हो चुकी है। अब यह प्रायः निश्चित मत है कि नन्दिकेश्वर एवं भरत दोनों का भिन्न व्यक्तित्व है। भरत के स्वयं विभिन्न उद्धरणों से यह भी प्रायः निश्चित है कि नन्दिकेश्वर भरत से पूर्व हुए थे।

काव्य-मीमांसा में प्राप्त 'रसाधिकारिक नन्दिकेश्वर'[४] से पता चलता है कि नन्दिकेश्वर रस विषय के प्रथम आचार्य थे। कामशास्त्र[५] व संगीतशास्त्र[६] में उनके आचार्यत्व की घोषणा की गई है। नन्दिकेश्वर के नाम से 'योगतारावली,' नन्दिकेश्वर तिलक,' 'प्रभाकर विजय,' 'लिंगधारण चन्द्रिका' आदि परस्पर विरोधी सम्प्रदायों से सम्बन्ध रखने वाली अनेक पुस्तकें उपलब्ध हैं। किन्तु इन सभी पुस्तकों का रचयिता एक ही नन्दिकेश्वर रहा होगा इसमें सन्देह है। मद्रास की खोज रिपोर्ट में नन्दिकेश्वर के नाम से 'काललक्षण' तथा 'तालादिलक्षण' ग्रन्थों की चर्चा हुई है।''[७] इसी आधार पर मनमोहन घोष ने संगीत को उनका प्रिय विषय माना है। इनके व्यक्तित्व के विषय में विभिन्न मत हैं। इन्हें कुछ विद्वान् तन्त्र, पूर्वमीमांस, लिंगायत, शैव आदि सिद्धान्तों का अनुयायी मानते हैं तो कोई इन्हें शिव[८] का अवतार मानते हैं और दक्षिण में इनकी पूजा का विधान है, इसका संकेत करते हुए इन्हें दाक्षिणात्य भी सिद्ध करते हैं। भाव-

१. ता एताह्यार्या एक प्रघट्टकतया पूर्वाचार्यैर्लक्षणत्वेन पठिताः।
मुनिना तु सुखसंग्रहाय यथास्थानं निवेशिताः॥
(अभिनव भारती, अध्याय ६)।

२. एस० के० डे : 'स्टडी इन दि हिस्ट्री ऑव संस्कृत पोइटिक्स' इन्ट्रोडक्शन, पृ० २१, पी० वी० काणे ; 'संस्कृत दर्पण,' इन्ट्रोडक्शन, पृ० ३९।

३. मनमोहन घोष द्वारा सम्पादित एवं कलकत्ता से प्रकाशित।

४. काव्य मीमांसा, काव्य रहस्य प्रकरण, पृ० १, वि० रा० भा० परिषद् पटना।

५. बलदेव उपाध्याय : साहित्यशास्त्र, भाग १, पृ० १३।

६. संगीतरत्नाकर, पृ० ५-६, श्लोक १६-१७।

७. संस्कृत साहित्य का इतिहास, गैरोला, पृ० ९४६।

८. सौन्दर्य लहरी, परिचय, पृ० १०, सम्पादक : शास्त्री आयंगर।

प्रकाशन में शिव की आज्ञा से ये भरत तथा उनके पाँच शिष्यों को नाट्यवेद की शिक्षा देते हैं।[1] भरत को नाट्यशास्त्र की शिक्षा अथवा प्रेरणा नन्दिकेश्वर से प्राप्त हुई थी। नाट्यशास्त्र में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया गया है कि तण्डु दूसरा नाम नन्दिकेश्वर ने अंग हारों, करणों और रेचकों के अभिनय की शिक्षा भरत को दी थी। अभिनय भारती में भी नन्दिन और भरत को तण्डु और मुनि इन दूसरे नामों से संकेतिक किया गया है। रामकृष्ण कवि ने भी दोनों को एक मानकर 'नन्दीश्वर संहिता' उनकी रचना स्वीकार की है जो कि आज 'अभिनय दर्पण' के रूप में प्राप्त है। नाट्यशास्त्र और अभिनय दर्पण की विषय सामग्री का तुलनात्मक विवेचन करने पर वाचस्पति गैरोला ने 'अभिनय दर्पण' को प्राचीन रचना माना है।[2]

महामुनि भरत २०० ई० पू०

नाट्यशास्त्रकार के रूप में भरत मुनि का संस्कृत साहित्याकाश में अद्वितीय स्थान है। नाट्यशास्त्र अपने विषय का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। नाट्यशास्त्र में ३६ अध्याय हैं। इनमें अलंकार, रस, छन्द, दशरूपक, वृत्तियों आदि पर सूक्ष्म एवं मौलिक-विवेचन किया गया है। इस विषय-विवेचन का यदि गम्भीरतापूर्वक विश्लेषण करें तो हमें ग्रन्थकार की विद्वता एवं ग्रन्थ की व्यापकता का पता चलता है और यह पता चलता है कि संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा भरत से भी प्राचीन है।

भरत के समय के सम्बन्ध में विभिन्न विद्वानों की अपनी विभिन्न धारणायें हैं। कुछ विद्वान् एक ओर उन्हें आधुनिकतम सिद्ध करने का प्रयास करते हैं तो दूसरी ओर कुछ विद्वान प्राचीनतम। 'काव्यप्रकाशादर्श' के रचयितः की दृष्टि से भरत का नाट्यशास्त्र 'अग्निपुराण' के बाद की रचना है। किन्तु अग्निपुराण में भरतमुनि एवं उनके नाट्यशास्त्र का स्पष्ट उल्लेख 'भरतेन प्रणीतत्वात्' आदि के रूप में मिलता है। अतः हम अग्निपुराणकार को भरतपरवर्ती मानते हैं।

अग्निपुराण

अग्निपुराण काव्यशास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से समृद्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की रचना का समय विवादास्पद है। डॉ० एस० के० डे इसे नवम शतक, पी० वी० काणे ध्वन्यालोक-परवर्ती रचना मानते हैं। आनन्दवर्धन, मम्मट ने इस पुराण का अपने ग्रन्थों में उल्लेख नहीं किया है। सर्वप्रथम आचार्य विश्वनाथ[3] ने अग्निपुराण का उल्लेख किया है। अतः यह परवर्ती रचना सिद्ध होती है। किन्तु अग्निपुराण में प्राप्त अलङ्कारों की संख्या के आधार पर उसे पूर्ववर्ती रचना सिद्ध किया जा सकता है। क्योंकि अग्निपुराण में प्राप्त पन्द्रह अलङ्कारों की सत्ता उसे नाट्यशास्त्र परवर्ती तथा भामह, दण्डी से पूर्ववर्ती रचना सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। नाट्यशास्त्र तथा अग्निपुराण में क्रमशः चार और पन्द्रह अलङ्कार हैं। भामह तथा दण्डी के ग्रन्थों में क्रमशः तेईस और अड़तीस अलङ्कार हैं जो कि क्रमिक विकास के सूचक हैं। अलङ्कारों के क्रमिक विकास के आधार पर इसे भामह-दण्डी पूर्ववर्ती सिद्ध किया जा सकता है। पोद्दारजी इसे द्वितीय-तृतीय शतक की रचना मानते हैं।

---

१. भाव प्रकाशन, दशम अधिकरण, पृ० २८५-२८७।
२. गैरोला : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० ६४७।
३. 'साहित्य दर्पण', प्रथम परिच्छेद, पृ० ११, शालिग्राम टीका।

भामह

काव्यशास्त्र की परम्परा का विकास समुचित रूप से भामह से होता है। 'काव्यालङ्कार, ग्रन्थ में काव्यशास्त्र विषयक पूर्ण परिपक्व सिद्धान्त मिलते हैं। भामह ने अपने ग्रन्थ में अनेक प्राचीन आचार्यों का उल्लेख किया है। किन्तु उनके किसी प्रामाणिक ग्रन्थ के अभाव में हम भामह को ही काव्य एवं नाट्य को अलग-अलग विकसित करने का श्रेय देते हैं। समय की दृष्टि से कुछ विद्वान भामह को दण्डी-परवर्ती सिद्ध करना चाहते हैं। सबसे पहले एम० टी० नरसिंह आयङ्गर ने सन् १९०५ में 'जनरल ऑव रॉयल एशियाटिक सोसाइटी' (पृ० ३५५) में इस प्रश्न को उठाया और दण्डी को भामह का पूर्ववर्ती सिद्ध करने का यत्न किया। परन्तु इनके मत का बड़ा विरोध हुआ। डॉ० त्रिवेदी ने 'प्रताप-रुद्र-यशोभूरण' की भूमिका में, प्रो० रङ्गाचार्य ने 'काव्यादर्श' की भूमिका में गणपतिशास्त्री ने। स्वप्न वासवदत्ता' की भूमिका में और प्रो० पाठक ने 'कविराजमार्ग' की भूमिका में दण्डी को भामह से पूर्ववर्ती ठहराने वाले नरसिंह आयंगर के मत का विस्तार के साथ खण्डन किया।[1] अब अधिकांश विद्वान भामह को दण्डी से पूर्ववर्ती मानते हैं। श्री पोद्दारजी ने अनेक ग्रन्थों के विवेचन के उपरान्त भामह की उत्तरवर्ती सीमा ६०० ई० निश्चित की है, यही मत बलदेव उपाध्याय तथा डॉ० नगेन्द्र का भी है।[2]

भामह का प्रसिद्धतम ग्रन्थ 'काव्यालंकार' है। इस ग्रन्थ को उद्भट, आनन्द, अभिनवगुप्त, मम्मट आदि विद्वानों ने प्रमाणस्वरूप उद्धृत कर मान्यता प्रदान की है। इस ग्रन्थ में छः परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य-प्रशंसा, काव्यसाधना, काव्यलक्षण, काव्यभेद, काव्यदोष, अलंकार गुण तथा शब्द-शुद्धि विषयक शिक्षा का उल्लेख किया गया है। उद्भट ने इस पर 'भामह विवरण' नामक टीका लिखी है।

दण्डी

काव्य-शास्त्र की परम्परा में दण्डी का उल्लेखनीय स्थान है। दण्डी का 'काव्यादर्श' काव्यशास्त्र का अनुपम ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में काव्य परिभाषा, काव्यभेद, काव्य-हेतु, महाकाव्य लक्षण, गद्य काव्य के भेद, कथा-आख्यायिका, मिश्रकाव्य आदि पर विचार करने के साथ-साथ अलंकार, चित्रकाव्य, प्रहेलिका, दोष आदि पर भी विचार किया गया है। 'काव्यादर्श' के अतिरिक्त दण्डी की दो अन्य रचनाओं का उल्लेख मिलता है, एक 'दशकुमारचरित' और दूसरी 'अवन्ति-सुन्दरी कथा'। ये दोनों ही ग्रन्थ कथाकाव्य हैं।

दण्डी का समय अष्टम शतक के लगभग निश्चित होता है। दण्डी ने स्वयं अपने को 'अवन्ति-सुन्दरी कथा' में महाकवि भारवि का प्रपौत्र निर्दिष्ट किया है। बाण तथा मयूर कवि की प्रशंसा भी की है। इसलिए उनका समय सप्तम शतक में राजा हर्षवर्धन (६०६-६४८) की सभा के प्रसिद्धि-प्राप्त कवि बाणभट्ट के बाद का है।

---

१. आचार्य विश्वेश्वर : काव्यप्रकाश की भूमिका, पृ० ३०-३१।

२. बलदेव उपाध्याय : भारतीय साहित्यशास्त्र', खण्ड १ पृ० ४२-४३।
डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा', पृ० ३४।

३. 'राजतरंगिणी', ४।४।९५।

उद्भट, अष्टम-शतक पूर्वार्द्ध

'अलंकार एवं काव्ये प्रधानम्' की स्थापना करने वाले उद्भट की अनेक स्थापनाओं को आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त, राजशेखर, मम्मट और रुय्यक आदि आचार्यों ने अपने-अपने ग्रन्थों में उद्धृत किया है। उद्भट का 'काव्यालंकार-सारसंग्रह' ग्रन्थ छः अध्यायों में विभक्त है। इनमें ७९ कारिकाएँ हैं तथा ४१ अलंकार छः वर्गों में विभक्त हैं। उद्भट के अन्य दो ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है किन्तु वे प्राप्त नहीं हैं। भारत के नाट्यशास्त्र के व्याख्याताओं में इनका नाम लिया जाता है।[१]

वामन

आचार्य वामन काव्यशास्त्र की परम्परा में रीति सम्प्रदाय के जन्मदाता माने जाते हैं। उनका ग्रन्थ 'काव्यालंकार सूत्र' प्रसिद्ध ग्रन्थ है। 'राजतरंगिणी' में कश्मीरी राजा जयादित्य का मन्त्री इन्हें कहा गया है।[२] इसी के आधार पर इनका समय नवम् शतक का प्रारम्भ माना जा सकता है। वूलर[३], पोद्दार[४], डॉ० नगेन्द्र[५] आदि विद्वान् इसका यही समय स्वीकार करते हैं।

वामन का ग्रन्थ पाँच अधिकरणों में विभक्त है, प्रत्येक अधिकरण दो या तीन अध्यायों में विभक्त है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में बारह अध्याय हैं; जिनके सूत्रों की संख्या ३१९ है। इस ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के सभी प्रमुख विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन है। रीति को इस ग्रन्थ में काव्य की आत्मा का पद दिया गया है।

रुद्रट

काव्य-शास्त्र की परम्परा में अलंकार सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य के रूप में रुद्रट को मान्यता प्राप्त है। इनका दूसरा नाम शतानन्द था किन्तु प्रसिद्धि रुद्रट के नाम से ही हुई है। ये कश्मीरी थे; इनके पिता का नाम वामुक भट्ट था।[६]

रुद्रट एवं रुद्रभट्ट में अन्तर न कर सकने के कारण वूलर, पिशेल, वेबर आदि विद्वान् इन्हें एकादश शतक का मानते हैं। किन्तु इसका समय नवम् शतक है। कीथ ने भी इनका काल नवम् शताब्दी के मध्य में ही स्वीकार किया है।

रुद्रट का प्राप्त ग्रन्थ 'काव्यालङ्कार' है। यह सोलह अध्यायों में विभक्त है। समग्र ग्रन्थ ७१४ आर्या छन्दों में लिखा गया है। सोलह में से ग्यारह अध्यायों में अलंकारों का सर्वाङ्गीण वैज्ञानिक रूप में विवेचन किया गया है। काव्य-शास्त्रीय अन्य सभी विषयों पर भी इस ग्रन्थ में विवेचन मिलता है।

---

१. व्याख्यातारो भारतीयेलोल्लटोद्भटशंकुकाः।
महाभिनवगुप्तश्च श्रीमत्कीर्तिधरोऽपरः।

२. वूलर की कश्मीर रिपोर्ट, पृ० ६५।

३. वही

४. पोद्दार : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', पृ० १५२।

५. डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्य-शास्त्र की भूमिका' पृ० ६९।

६. शतानन्द पराख्येनभट्टवामुकसूनुना।
साधितं रुद्रटेनेदं समाजाधीमता हितम्।
(काव्यालंकार, ५।१२-१४ की टीका)

आनन्दवर्धन, ८५० ई०

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन संस्कृत काव्य-शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त के जन्मदाता तथा काव्य-शास्त्र की परम्परा में युगान्तर उपस्थित कर देने वालों में से हैं। आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धांत ने अलंकार, रीति आदि सिद्धान्तों के साथ साथ रस-सिद्धांत को भी अन्तर्भुक्त कर लिया है। ध्वनि सिद्धांत की महत्ता को रसवादी राजशेखर, विश्वनाथ पण्डितराज जगन्नाथ[२], तक ने स्वीकार किया। यही नहीं कश्मीरी पंडित परम्परा में भी उनका सम्मानास्पद स्थान है।

आनन्दवर्धनाचार्य ने 'विषमवाणलीला', 'अर्जुनचरित', 'देवीशतक', 'तत्वालोक' 'ध्वन्यालोक' नामक पाँच ग्रन्थों की रचना की है। इनमें से 'ध्वन्यालोक' नामक ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थ में काव्य के आत्मतत्व ध्वनि का प्रतिपादन किया गया है। 'ध्वन्यालोक' में चार उद्योत हैं, जो एक सौ उनतीस कारिकाओं में विभक्त हैं। प्रथम उद्योत में ध्वनि की स्थापना की गयी हैं। द्वितीय में ध्वनि के भेदों का परिगणन करने के साथ रसवदादि अलंकारों तथा माधुर्य आदि गुणों की भी व्याख्या की गयी है। तृतीय में पदवाक्य, व्यंजकता, संघटना, औचित्य, गुणीभूतव्यंग्य, काव्यालंकार आदि का विवेचन है। चतुर्थ ध्वनि का महत्व प्रतिपादित किया गया है। यह ग्रन्थ मौलिकता, सूक्ष्म विवेचन तथा विषय-गम्भीर्य की दृष्टि से अद्वितीय है। यह कृति काव्य-शास्त्र के इतिहास में युग प्रवर्त्तन का कार्य करती है। जैसे व्याकरण में पाणिनि सूत्रों का अथवा वेदान्त में वेदान्त सूत्रों का स्थान है, उसी प्रकार काव्य-शास्त्र के इतिहास में 'ध्वन्यालोक' का स्थान है।

राजशेखर

काव्य-शास्त्र की परम्परा में राजशेखर की अनुपम देन 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ है। इससे पूर्व ये संस्कृत साहित्य में एक नाटककार के रूप में विख्यात थे। राजशेखर नाम के संस्कृत साहित्य में अनेक विद्वान् हो चुके हैं। म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा ने इस विषय पर विस्तार से प्रकाश डाला है।[३] इनके नाटकों से प्राप्त उद्धरणों से पता चलता है कि ये कन्नौज के शासक महेन्द्रपाल के उपाध्याय[४] और उसके पुत्र महीपाल के कृपापात्र थे। महीपाल का समय ९२०-९४० ई० सन् तक माना गया है। 'राजशेखर' ने काव्यमीमांसा में उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन, कन्नौज के वाक्पति एवं भवभूति का उल्लेख किया है तथा क्षेमेन्द्र, सोमदेव, सोड्ढल (१०४०-१०६०), अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने भी इनका उल्लेख किया है। अतः राजशेखर का समय

---

1. कीथ : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास' पोद्दार : 'संस्कृत साहित्य का इतिहास', भाग १, पृ० ६९।
   डॉ० नगेन्द्र : 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा', पृ० १०२।
   कल्हण : राजतरंगिणी, ५।४।९५
२. ध्वनिदाऽतिगम्भीरेण काव्यतत्वनिवेशिना।
   आनन्दवर्धनः कस्य नासीदानन्दवर्धनः ॥
३. नागरी प्रचारिणी पत्रिका (१९८७ वि०), पृ० ३६५-३७०।
४. रघुकुलतिलको महेन्द्रपालः सकल कला निलयः स यस्य शिष्यः।
   विद्धशालभञ्जिका, अङ्क १।

८८०-९२० ई० सन् निर्विवाद माना जा सकता है।[1] एपीग्राफिया इंडिका के प्रथम भाग, पृ० १७१ पर भी यही समय राजशेखर का माना गया है।

राजशेखर का 'काव्यमीमांसा' ग्रन्थ किसी सम्प्रदाय विशेष को लेकर नहीं लिखा गया है। इस ग्रन्थ का विषय रस, गुण, अलंकार आदि न होकर कवि शिक्षा है। यह ग्रन्थ कवियों के काव्य व्यवहार ज्ञान के लिए एकमात्र कोश ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ की प्रशंसा पारवर्ती सभी विद्वानों ने की है।

मुकुलभट्ट

मुकुलभट्ट की एकमात्र रचना 'अभिधावृत्तिमातृका' है जिसमें केवल १५ वृत्ति सहित कारिकाएँ हैं जो कि अभिधा और लक्षणा का विवेचन करती हैं। इस ग्रन्थ में ध्वनि एवं व्यंजना का अप्रत्यक्षतः विरोध किया गया है। मुकुलभट्ट ने व्यंजना तो क्या लक्षणा को भी अलग वृत्ति न मानकर अभिधा का ही एक भेद माना है।

मुकुलभट्ट के विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन 'काव्यप्रकाश' में मम्मट ने किया है। अतः ये मम्मट से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। प्रतिहारेन्दुराज ने मुकुलभट्ट को अपना गुरु माना है। मुकुलभट्ट ने स्वयं 'भट्टकल्लटपुत्रेण मुकुलेन निरूपिता' लिखकर अपने को भट्टकल्लट का पुत्र बतलाया है। 'राजतरंगिणी' में भट्टकल्लट को अवन्तिवर्मा का समकालीन बतलाया गया है।[2]

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त कश्मीरी शैव सम्प्रदाय के प्रसिद्धि-प्राप्त विद्वान् हैं। काव्यशास्त्र के क्षेत्र में अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन की ध्वनि परम्परा के आचार्य हैं। इनका व्यक्तित्व बहुमुखी था। ये अनेक शास्त्रों के विद्वान् थे, इनके अनेक गुरुओं का उल्लेख मिलता है। जिस प्रकार इनकी गुरु परम्परा विस्तृत है, उसी प्रकार इनके ग्रन्थों की संख्या भी ४१ के लगभग है। किन्तु काव्यशास्त्र से सम्बन्ध रखने वाली कृतियों में 'ध्वन्यालोकलोचन' तथा 'अभिनवभारती' है। श्री वाचस्पति गैरोला ने इनके एक अन्य ग्रन्थ का भी संकेत इन्हीं काव्यशास्त्र के ग्रन्थों के साथ किया है। "काव्यशास्त्र पर उन्होंने 'अभिनवभारती', 'ध्वन्यालोकलोचन' (सहृदयालोचन या काव्यालोकलोचन) और 'काव्यकौस्तुभ विवरण' नामक तीन टीका ग्रन्थ क्रमशः भरत के नाट्शास्त्र, आनन्द-वर्धन के ध्वन्यालोक और अपने गुरु भट्टतौत के काव्यकौस्तुभ पर लिखे।" काव्यशास्त्र पर केवल टीका ग्रन्थ होने पर भी वे अनेक मौलिक ग्रन्थ लेखकों से अधिक मौलिक और अधिक गम्भीर हैं। व्याकरण में महाभाष्यकार पतंजलि, दार्शनिक टीकाकारों में वाचस्पति मिश्र को जो महत्त्व प्राप्त है वही काव्यशास्त्र के इतिहास में अभिनवगुप्त को प्राप्त है। भरत के प्रसिद्ध रससूत्र पर इनकी व्याख्या युगान्तकारी है। यदि भरत एवं आनन्दवर्धन को इन जैसा टीकाकार उपलब्ध न हुआ होता तो इन दोनों काव्य-शास्त्रियों की सत्ता आज प्रश्नवाचक चिह्न के साथ ही स्वीकार की जाती।

अभिनवगुप्त का समय निश्चय ही आनन्दवर्धन के पश्चात् और मम्मट से पूर्व

---

१. 'काव्यमीमांसा', भूमिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पृ० ३।

२. अनुग्रहायलोकानां भट्टाः श्रीकल्लटादयः।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धाभुवमवतरन् ॥ ५।५६।

३. गैरोला : 'संस्कृति साहित्य का इतिहास', पृ० ६५७।

में होना चाहिए, क्योंकि आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' के ये टीकाकार हैं, उनका समय ८५५-८८४ ई० है । मम्मट का समय एकादश शतक उत्तरार्ध है । मम्मट ने 'काव्य-प्रकाश' में अभिनवगुप्त का सम्मान के साथ उल्लेख किया है, अतः उनसे पूर्ववर्ती इन्हें होना ही चाहिए । इसलिए अभिनवगुप्त का समय दशम शतक का उत्तरार्ध स्थिर होता है । यही गैरोला, पोद्दार एवं डॉ० नगेन्द्र का भी अभिमत है ।[१]

धनंजय

धनंजय नाट्यशास्त्र की परम्परा के आचार्य हैं । इनका ग्रन्थ 'दशरूपक' भरतमुनि के उपरान्त इस विषय पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । यह ग्रन्थ सरल व आकर्षक शैली में लिखा गया है । धनंजय ने अपने पिता का नाम विष्णु बतलाया है । ये महाराज मुंज के समकालीन थे ।[२] प्रायः सभी, प्राच्य एवं पाश्चात्य विद्वानों ने इसी श्लोक के आधार पर इनका समय ९७४-९९४ ई० सन् माना है । धनंजय की रस-निष्पत्ति विषयक मान्यता भावकत्ववाद के रूप में प्रतिष्ठित है ।

'दशरूपक' ग्रन्थ में चार प्रकाश हैं जिनमें लगभग ३०० कारिकाएँ हैं । इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकाश में नाट्यलक्षण, पंचसन्धि, अर्थोपक्षेपक तथा वस्तु के भेदों का विवेचन किया गया है । द्वितीय प्रकाश में नायक-नायिका भेद तथा वृत्तियों पर विचार किया गया है । तृतीय प्रकाश में नाटकीय तत्वों पर तथा चतुर्थ प्रकाश में रस के विभिन्न तत्वों पर विचार किया गया है । धनंजय के 'दशरूपक' पर इनके छोटे भाई धनिक ने 'अवलोक' नामक पाण्डित्यपूर्ण टीका लिखी है । उनका समय ९९४-१००० ई० के मध्य है ।[३]

राजानक कुन्तक

आचार्य कुन्तक काव्य-शास्त्र में वक्रोक्ति सम्प्रदाय के जनक माने जाते हैं । इन्होंने 'वक्रोक्ति काव्यजीवित' नामक ग्रन्थ में वक्रोक्ति को ही काव्य का आधारभूत तत्त्व माना है तथा अन्यान्य समस्त काव्य तत्त्वों को वे इसी में आत्मसात् कर लेना चाहते हैं । इनका यह सिद्धान्त काव्यशास्त्र में अधिक मान्यता प्राप्त न कर सका । यह ग्रन्थ चार उन्मेषों में विभक्त है, जिनमें काव्य के प्रयोजन, लक्षण तथा प्रतिपाद्य-विषय षड्विधवक्रता का विवेचन किया गया है । कुन्तक का समय आनन्दवर्धन तथा राजशेखर से बाद में होना चाहिये, क्योंकि इन्होंने इन दोनों ही आचार्यों का अपने ग्रन्थ[४] में उल्लेख किया है ।

---

१. गैरोला : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ९५७ ।
पोद्दार : संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १९२ ।
नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा', पृ० २०८ ।

२. विष्णो सुतेनापि धनञ्जयेन विद्वन्मनोरागनिबन्धहेतुः ।
आविष्कृतं मुञ्जमहीशगोष्ठीवैदग्ध्यभाजा दशरूपमेतत् ।
(दशरूपक ४८९) ।

३. डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत : 'हिन्दी दशरूपक', भूमिका, पृ० ६-७

४. वक्रोक्ति काव्यजीवितः "यस्मादत्रध्वनिकारेण व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावोऽत्र सुतरां समर्थितस्तत्र किं पौरुक्त्येन", पृ० १९६ ।
"भवभूतिराजशेखरविरचितेषुबन्ध सौन्दर्यसुमनेषुमुक्तकेषु परिदृश्यते ।"
(वक्रोक्ति काव्य जीवित, पृ० १५६) ।

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट ने एक श्लोक में कुन्तक का नामोल्लेख किया है।[1] इस प्रकार इनका समय महिमभट्ट से पूर्व तथा आनन्दवर्धन-राजशेखर के उपरान्त एकादश शतक का प्रारम्भ माना जा सकता है। डॉ० नगेन्द्र का भी यही अभिमत है।[2]

महिमभट्ट

महिमभट्ट का ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' उनकी तर्क-शक्ति का परिचायक है। ये ध्वनि विरोधी आचार्य कुन्तक के समकालीन हैं। इनकी कृति का मूल उद्देश्य ध्वनि को अनुमानान्तर्मुक्त करना है।[3] इनका यह ग्रन्थ तीन विमर्श में विभक्त है। प्रथम विमर्श में ध्वनि का प्रबल रूप से खण्डन कर ध्वनि को अनुभाग के अन्दर समाहित कर लेते हैं। दूसरे में काव्यदोष तथा तीसरे में ध्वनि के उदाहरणों का अनुमान में अन्तर्भाव दिखलाया है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट के व्यंजना विरोधी सिद्धान्तों का खण्डन काव्यप्रकाशकार मम्मट ने किया है। अतः ये मम्मट के पूर्ववर्ती हैं तथा आनन्दवर्धन ने अपने ग्रन्थ में कहीं भी इस अनुमितिवाद का उल्लेख नहीं किया है, अतः उनसे परवर्ती एकादश शतक के आचार्य हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र, एकादश शतक

औचित्य सम्प्रदाय के संस्थापक आचार्य क्षेमेन्द्र अपर नाम व्यासदास[4] कश्मीरी पण्डितों में से एक हैं। क्षेमेन्द्र स्वयं को अभिनवगुप्त का शिष्य[5] व अनन्तराज का सभा-पण्डित बतलाते हैं।[6]

क्षेमेन्द्र लगभग चालीस ग्रन्थों के लेखक हैं किन्तु काव्य-शास्त्र में 'औचित्य विचारचर्चा' तथा 'कविकण्ठाभरण' इन दो ग्रन्थों के कारण आप प्रसिद्धिप्राप्त हैं। औचित्य-विचारचर्चा में भरत द्वारा उल्लिखित औचित्य तत्व का काव्य के प्राणधायक तत्त्व के रूप में प्रतिपादन किया गया है।

भोजराज एकादश शतक

इनके दो ग्रन्थ 'सरस्वती कण्ठाभरण' तथा 'शृंगारप्रकाश' हैं। ये दोनों ही ग्रन्थ काव्य-शास्त्र की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। 'सरस्वती काण्ठाभरण' में दृश्य काव्य के अतिरिक्त काव्य के शेष सभी तत्त्वों का विनिमेष किया गया है, जो कि पाँच परिच्छेदों

---

१. काव्यकांचन शाश्मानिना कुन्तकेन निजकाव्यलक्षणभि यस्यसर्वनिखद्यतोदिता श्लोक एष स निर्शितोमया। (व्यक्ति विवेक, पृ० ५८)।

२. डॉ० नगेन्द्र : 'वक्रोक्ति काव्य जीवित भूमिका', पृ० ८।

३. अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेप्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमां परां वाचम्। (व्यक्ति विवेक)

४. श्री व्यासदासान्यतमाभिधेन क्षेमेन्द्र नाम्ना विहितः प्रबन्धः।
(दशावतार चरित, १०-४१)।

५. 'भारतमंजरी', पृ० ८५ तथा 'वृहत्कथामंजरी' (कवि कण्ठाभरण) १६/३७।

६. तस्यश्रीमदनन्तराजनृपतेः काले किलायं कृतः।
राज्य श्रीमदनन्तराजनृपतेः काव्योदयोऽयं कृतः॥
(औचित्य विचार चर्चा)

में विभक्त है। 'शृंगारप्रकाश' में रसराज शृंगार का विवेचन है। यह ३६ अध्याय वाला ग्रन्थ है।

मम्मट, एकादश शतक उत्तरार्ध

काव्य-शास्त्र के इतिहास में ध्वनिप्रस्थापनाचार्य मम्मट का व्यक्तित्व सम्मान के साथ याद किया जाया है। मम्मट ने अपने से पूर्व शताब्दियों से चलने वाले काव्य सम्बन्धी अनेक विवादास्पद विषयों का निर्णयात्मक रूप में खण्डन-मण्डन अपने 'काव्य-प्रकाश' ग्रन्थ में किया है। यह लक्षण ग्रन्थ परवर्ती साहित्यकारों के लिए उपजीव्य ग्रन्थ बन गया है। शंकर के शारीरिक भाष्य एवं पतंजलि के महाभाष्य की ही भांति काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थों में मम्मट के इस ग्रन्थ को सम्मान मिला है। यह ग्रन्थ अपने पूर्ववर्ती भामह, आनन्दवर्धन, उद्भट, रुद्रट, वामन एवं अभिनवगुप्त आदि विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर बना है। फिर भी मम्मट में अपना विचार-स्वातन्त्र्य एवं मौलिकता है। लेखक की खण्डन-मण्डनात्मक पद्धति को देखकर उसकी प्रौढ़ चिन्तनशक्ति, प्रतिभा तथा साहित्यमर्मज्ञता का पता चलता है। काव्य-शास्त्र में चलने वाली अराजकता को इस 'काव्यप्रकाश' ने बहुत कुछ शान्त किया है।

'काव्यप्रकाश' काव्यशास्त्र का सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें काव्य के सभी अङ्गों का दस उल्लासों में १४२ कारिका, वृत्ति तथा उदाहरणों में समावेश किया गया है। लेखक की शैली सूत्रात्मक होते हुए भी प्रभावशालिनी है। इसमें काव्य प्रयोजन, काव्य हेतु, काव्य लक्षण, काव्य भेद, अभिधा, लक्षणा, व्यंजन, ध्वनि तथा इनके भेदोपभेद, ध्वनिस्थापन, दोष, गुण, अलंकार आदि का विवेचन है। इस ग्रन्थ की लोकप्रियता इस पर प्राप्त होने वाली इसकी ७० टीकाओं से ज्ञात होती है।

रुय्यक

राजानक रुय्यक कश्मीरी विद्वान् हैं। 'अलंकारसर्वस्व' के अतिरिक्त 'व्यक्ति-विवेक' तथा 'काव्यप्रकाश' पर भी टीका लिखी है। रुय्यक कश्मीर निवासी राजा जयसिंह के सन्धिविग्रहिक तथा मंखक के पत्र थे। अतः इनका समय द्वादश शतक मानना उचित है। रुय्यक ने अपने ग्रन्थ में ८१ शब्दार्थालंकारों का सुन्दर विवेचन किया है। इसमें केवल अलंकारों का ही विवेचन है। काव्य-शास्त्रीय अन्य विषय इस ग्रन्थ की सीमा में नहीं आते हैं।

हेमचन्द्र

आचार्य हेमचन्द्र प्रणीत 'काव्यानुशासन' प्रसिद्ध आलंकारिक ग्रन्थ है। इनका समय १०८८ से ११७२ ई० तक माना जाता है। 'काव्यानुशासन' सूत्र शैली में लिखा गया ग्रन्थ है। ग्रन्थकार ने इस पर विवेक नामक एक टीका स्वयं लिखी है। इस ग्रन्थ में आठ परिच्छेद हैं, जिनमें काव्य लक्षण, प्रयोजन, रस, दोष, गुण, शब्दालंकार व अड़तीस अर्थालंकारों का वर्णन किया है। यह ग्रन्थ लेखक की संग्रहात्मक प्रवृत्ति का परिचायक है।

वाग्भट्ट प्रथम

इनका 'वाग्भट्टालंकार' नामक ग्रन्थ उपलब्ध है। इस ग्रन्थ में पाँच परिच्छेद हैं। इस ग्रन्थ पर आठ टीकाएँ उपलब्ध हैं। इस ग्रन्थ में काव्य-शास्त्र के विभिन्न विषयों का विवेचन किया गया है। इनका समय ११७८ ई० के लगभग निश्चित किया गया है।

जयदेव

'चन्द्रालोक' प्रणेता पीयूषवर्षी[1] जयदेव अपनी अनुपम कृति के कारण काव्य-शास्त्र की परम्परा में लोकप्रिय हैं। यह स्वल्पाकार कृति पद्यबद्ध है। इसमें काव्य-शास्त्र के सभी विषयों का सर्वाङ्गीण विवेचन यद्यपि नहीं है तथापि दोष, रीति अलंकारादि पर सुन्दर एवं सरल हृदयग्राह्य शैली में विवेचन किया गया है। ग्रन्थ कारिकात्मक है। एक-एक कारिका में लक्षण व उदाहरण दोनों का समावेश किया गया है। जयदेव बंगाल के राजा लक्ष्मणसेन के सभासद थे। मम्मट के परवर्ती तथा विश्वनाथ से पहले होने के कारण इनका समय द्वादश शतक उत्तरार्द्ध माना जाता है।

विद्याधर

इनका समय चौदहवीं शताब्दी निश्चित होता है। ये दाक्षिणात्य, काव्य-शास्त्रीय विद्वान् थे। इनका एकमात्र ग्रन्थ 'एकावली' है। इसमें आठ उन्मेष हैं जिनमें काव्य स्वरूप, वृत्ति, ध्वनि भेद, गुणीभूतव्यङ्ग्य, गुण और रीति, दोष, शब्दालंकार, अर्थालंकार का विवेचन किया गया है।

विश्वनाथ, चतुर्दश शतक

'प्रतापरुद्र यशोभूषण' ग्रन्थ के लेखक हैं। इनके इस ग्रन्थ में नौ प्रकाश हैं, जिसमें नायक भेद, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, अलंकार आदि का वर्णन किया गया है।

विश्वनाथ

आचार्य मम्मट के बाद कविराज विश्वनाथ काव्य-शास्त्र की परम्परा में समर्थ आचार्य हैं। विश्वनाथ बहुमुखी प्रतिभा वाले षोडश भाषाओं के विद्वान् थे।[2]

विश्वनाथ ने स्वयं कहीं भी अपना समय निर्दिष्ट नहीं किया। हाँ, इनके अलाउद्दीन[3] के उल्लेख के कारण इनका समय चतुर्दश शतक निश्चित कर सकते हैं। क्योंकि अलाउद्दीन की मृत्यु १३१६ में हुई थी, इसीलिए विश्वनाथ का समय इसके बाद ही होना चाहिए। रुय्यक के संकेतित विकल्प नामक अलङ्कार को विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में समाहित किया है। नैषध का "धन्यासि खलु वैदर्भीगुणैरुदारैः" श्लोक भी इनके साहित्य में उद्धृत है। जयदेव के 'प्रसन्नराघव' नामक नाटक का भी एक श्लोक इन्होंने 'दर्पण' में उद्धृत किया है। अतः विश्वनाथ का समय चतुर्दश शतक के अन्तिम चरण में मान लेना असंगत न होगा। डॉ० नगेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ 'भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्परा' में चतुर्दश शतक इनका समय माना है।

'साहित्यदर्पण' विश्वनाथ का एकमात्र काव्य-शास्त्रीय ग्रन्थ है। यह दस परिच्छेदों में कारिका एवं वृत्ति उदाहरण सहित लिखा गया विशालकाय ग्रन्थ है। इसमें काव्य एवं नाट्य दोनों के सिद्धान्तों का विवेचन है। यह लोकप्रिय, सरस एवं सरल ग्रन्थ है। यद्यपि काव्यप्रकाश की शैली में लिखा गया है किन्तु इसमें काव्यप्रकाश जैसे गम्भीर एवं सूक्ष्म चिन्तन का अभाव है। कहीं-कहीं काव्य प्रकाश के सिद्धान्तों के खंडन

१. चन्द्रालोक; १/१२, १/१६।
२. "षोडषभाषावारविलासिनीभुजङ्ग।"
३. सन्धौसर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः।
अलाउद्दीन नृपतौ न सन्धिर्नचविग्रहः॥

का असफल प्रयास भी किया गया है। यह ग्रन्थ काव्यशास्त्र के प्रारम्भिक ज्ञान के लिए अत्यधिक उपादेय सिद्ध होने वाला ग्रन्थ है। विश्वनाथ ध्वनिवाद के समर्थक व्यंजना-वादी आचार्य होते हुए भी काव्य की आत्मा रस को मानते हैं।

रूप गोस्वामी

रूप गोस्वामी सनातन गोस्वामी के भाई थे तथा चैतन्य महाप्रभु के शिष्य भी। चैतन्य का समय पन्द्रहवीं शताब्दी के अन्त में निश्चित किया जाता है। अतः उनके शिष्य का समय उनके लगभग ४०-५० वर्ष बाद तक माना जा सकता है। इन्होंने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं, किन्तु काव्य-शास्त्रीय परम्परा में 'भक्तिरसामृत सिन्धु,' 'उज्ज्वल नीलमणि' तथा 'नाटक चन्द्रिका' को समाहित किया जा सकता है। 'भक्तिरसामृत सिन्धु,' तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' ये दोनों ही रस विषय पर अच्छे ग्रन्थ हैं। 'भक्ति रसामृत' में भक्ति को रस सिद्ध किया गया है तथा 'उज्ज्वल नीलमणि' भी उसी का पूरक ग्रन्थ है, किन्तु उसमें शृङ्गार रस का विवेचन किया है।

अप्पय दीक्षित

अप्पय दीक्षित दाक्षिणात्य विद्वान् हैं। इन्होंने लगभग सौ ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु कव्यशास्त्र पर इन्होंने तीन ग्रन्थ लिखे हैं—(१) वृत्तिवार्त्तिक, (२) चित्रमीमांसा (३) कुवलयानन्द। वृत्तिवार्त्तिक शब्दशक्ति पर लिखा गया दो परिच्छेदों का ग्रन्थ है। इसमें अभिधा तथा लक्षणा का विवेचन है। चित्रमीमांसा अतिशयोक्ति अलङ्कार पर्यन्त प्राप्त होने से अपूर्ण ग्रन्थ है। कुवलयानन्द अलङ्कारों का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन प्रस्तुत करता है। यह ग्रन्थ चन्द्रालोक शैली पर निर्मित है। इसका समय सोलहवीं-सत्रहवीं सदी माना गया है।

पंडितराज जगन्नाथ

काव्य-शास्त्र की परम्परा में पण्डितराज जगन्नाथ का स्थान शीर्षस्थानीय है। यह दक्षिणात्य ब्राह्मण विद्वत्ता की दृष्टि से मम्मट तथा विश्वनाथ की श्रेणी के विद्वान् थे। पण्डितराज दिल्लीश्वर शाहजहाँ तथा उनके पुत्र दारा के प्रेमपात्र रहे हैं। दोनों के सम्बन्ध में आपने प्रशंसापरक रचनाएँ की हैं। शाहजहाँ ने इन्हें पण्डितराज की उपाधि से विभूषित किया। इस आधार पर इनका समय हम सत्रहवीं शताब्दी का उत्तरार्ध स्वीकार कर सकते हैं।

काव्य-शास्त्र की दृष्टि से आपकी 'रसगङ्गाधर' एवं 'चित्रमीमांसा खण्डन अनुपम कृतियाँ हैं। 'रसगङ्गाधर' अपूर्ण होने पर भी प्रौढ़ एवं विद्वत्तापूर्ण कृति है। इसमें प्रदत्त उदाहरण स्वयं आपके निर्मित हैं। इस ग्रन्थ में दो 'आनन' हैं प्रथम आनन में अन्य विद्वानों ने काव्य लक्षणों का खण्डन कर "रमणीयार्थ प्रतिपादकः शब्द काव्यम्" को काव्य का लक्षण प्रतिपादित किया गया है। काव्य हेतुओं में प्रतिभा को मुख्य मान-कर काव्य के उत्तमोत्तम, मध्यम, अधम भेद माने हैं। द्वितीय आनन में ध्वनि भेदों के परिगणन के साथ अभिधा, लक्षणा एवं सत्तर अलंकारों का विवेचन किया गया है।

विश्वेश्वर पांडेय

अलङ्कार कौस्तुभ के निर्माता विश्वेश्वर पाण्डेय अठारहवीं शताब्दी के काव्य-स्त्रीश हैं। इन्होंने अप्पयदीक्षित एवं पण्डितराज के विभिन्न विचारों का खण्डन कर स्वयं को उनका परवर्ती सिद्ध कर दिया है।

काव्य-शास्त्र की परम्परा में 'अलंकार कौस्तुभ' ग्रन्थ अलंकारों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत करता है। इनके अन्य ग्रन्थों में 'अलंकार मुक्तावली', 'रस-चन्द्रिका', 'अलंकार प्रदीप', कवीन्द्र काण्ठाभरण' आदि उल्लेखनीय हैं।

इन काव्य-शास्त्रियों के अतिरिक्त अन्य काव्य-शास्त्र भी हुए हैं जिनका संस्कृत काव्य-शास्त्र के लिए महत्वपूर्ण योगदान हैं। इनमें से भामह के काव्यालङ्कार २।४०; २।८८ तथा उसकी नमिसाधु की टीका १।२; २।१, ११।२४; राजशेखर की काव्य-मीमांसा में यतोमेधाविरुद्र कुमार दासादयः जात्यान्धाः कवयः श्रूयन्ते, पृ० २७ में उल्लेख प्राप्त मेधाविन् रावणवध महाकाव्य के रचयिता भट्टी, भट्ट लोल्लट, भट्ट शंकुश, भट्ट नायक, काव्य नाट्य मिश्रित परम्परा में सागरनन्दि, शारदातनय आदि अधिक प्रसिद्ध हैं किन्तु किसी प्रामाणिक उपलब्ध कृति के अभाव में हम उनका नामोल्लेख करके ही सन्तोष करते हैं।

वैदिक काल से सतत प्रवहमान इस काव्य-शास्त्र धारा का प्रवाह विश्वेश्वर पाण्डेय तक अश्रान्त रूप से चला आया है। इस समग्र काल को विद्वानों ने ऐतिहासिक दृष्टि से शैली के आधार पर चार भागों में विभक्त किया है—

१. प्रारम्भिक काल (अज्ञातकाल से लेकर भामह तक)
२. रचनात्मक काल (भामह से लेकर आनन्दवर्धन ८५० ई० तक)
३. निर्णयात्मक काल (आनन्दवर्धन से मम्मट १२५० ई० तक)
४. व्याख्या काल (मम्मट से लेकर विश्वेश्वर पाण्डेय तक)

कुछ दूसरे विद्वान् ध्वनि सिद्धान्त को काव्य-शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त मानकर इस काल को तीन भागों में विभक्त करते हैं——

१. पूर्व-ध्वनि काल, प्रारम्भ से आनन्दवर्धन (८५० ई०) तक
२. ध्वनि काल——आनन्दवर्धन से मम्मट (१२५० ई०) तक
३. उत्तर-ध्वनि काल——मम्मट से विश्वेश्वर पाण्डेय (अठारहवीं शताब्दी) तक।

इस प्रकार काव्य-शास्त्र की परम्परा के लगभग दो हजार वर्षों का संक्षिप्त इतिवृत्त प्रस्तुत किया गया है। संस्कृत काव्य-शास्त्र ग्रंथ-संख्या, प्रतिपादन शैली, विषय-वस्तु, पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर तात्विक विवेचन एवं प्राचीनता आदि की दृष्टि से विश्व के समग्र साहित्य में शीर्षस्थानीय है।

———

मुद्रक—ए० के० कम्पोजिंग हाउस इलाहाबाद।